श्रीअरविन्द

माताजी के विषय में

श्रीअरविन्द आश्रम
पांडिचेरी

श्रीअरविन्द

श्रीमाताजी के विषय में

('माता', 'प्रार्थना और ध्यान' और पत्र)

श्रीअरविन्द आश्रम
पांडिचेरी

प्रथम संस्करण : १९७३
द्वितीय संस्करण : २००५

अनुवादक : प्रथम भाग—श्यामसुंदर झुनझुनवाला
द्वितीय भाग—जगन्नाथ वेदालंकार
तृतीय भाग—रवीन्द्र

Price Rs. 190.00
ISBN 81-7058-777-8

© श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट १९७३, २००५
प्रकाशक : श्रीअरविन्द आश्रम प्रकाशन विभाग, पांडिचेरी-२
मुद्रक : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पांडिचेरी-२

"Sri Mataji ke Vishaya Mein", Hindi translation of:
The Mother–with Letters on the Mother by Sri Aurobindo.
Translator : Part I – Shyam Sundar Jhunjhunwala
Part II – Jagannath Vedalankar
Part III – Ravindra

First Edition : 1973; 2nd Edition : 2005

© Sri Aurobindo Ashram Trust 1973, 2005
Published by Aurobindo Ashram Publication Department
Pondicherry – 605002
Printed at Aurobindo Ashram Press, Pondicherry – 605002
PRINTED IN INDIA

विषय सूची

प्रथम भाग

माता १

द्वितीय भाग

श्रीमाताजी के विषय में पत्र

१. श्रीमाताजी और उनके देहधारण का प्रयोजन ३१

२. श्रीमाताजी के रूप और शक्तियां ४३

३. श्रीमाताजी की ज्योतियां तथा दिव्य दर्शन ६९

४. श्रीमाताजी की उपस्थिति ८४

५. श्रीमाताजी के प्रति उद्घाटन और समर्पण ९८

६. श्रीमाताजी की शक्ति की क्रिया ११६

७. श्रीमाताजी के साथ सच्चा संबंध १४३

८. श्रीमाताजी के लिये किये गये कर्म के द्वारा साधना १७५

९. श्रीमाताजी और आश्रम की कार्य-व्यवस्था १९५

१०. कठिनाइयों में माताजी की सहायता ३१४

११. कतिपय स्पष्टीकरण ३४८

१२. माताजी की कुछ "प्रार्थनाओं" और "वार्तालापों" की व्याख्याएं ३७१

तृतीय भाग

श्रीमां की 'प्रार्थना और ध्यान' से श्रीअरविन्द द्वारा अंग्रेजी में अनूदित प्रार्थनाएं ३९५

प्रथम भाग

माता

१

दो शक्तियां ही अपने संगम से वह महान् और कठिन कार्य कर सकती हैं जो हमारी साधना का लक्ष्य है : एक अडिग और अटूट अभीप्सा जो नीचे से आह्वान करती है और ऊपर से परम भगवत्कृपा जो उत्तर देती है।

परंतु परम भगवत्कृपा ज्योति एवं सत्य की अवस्थाओं में ही कार्य करेगी; असत्य तथा अज्ञान ने उसपर जो अवस्थाएं लादी हैं इनमें वह कार्य नहीं करेगी। कारण, यदि वह असत्य की मांगों के सामने झुक जाये तो उसका उद्देश्य ही हार जायेगा।

ज्योति एवं सत्य क़ी अवस्थाओं में ही, एकमात्र इन्हीं अवस्थाओं में सर्वोच्च ज्योति अवतरित होगी; और ऊपर से अवतरित होती और नीचे से उन्मिषित होती सर्वोच्च अतिमानसिक शक्ति ही भौतिक प्रकृति की बागडोर अपने हाथ में ले सकती और उसकी कठिनाइयों का विनाश कर सकती है।... आवश्यक है समग्र एवं सच्चा समर्पण; आवश्यक है दिव्य शक्ति की ओर अनन्य आत्मोन्मेष; आवश्यक है अवतरित होते सत्य का सतत एवं प्रतिपद सर्वभावेण वरण और अभी भी पार्थिव प्रकृति पर शासन करती मनोमयी, प्राणमयी तथा अन्नमयी शक्तियों और रूपों के मिथ्यात्व का प्रतिपद सर्वभावेन वर्जन।

समर्पण होना होगा समग्र, उसे सत्ता के सारे अंगों में व्याप्त होना होगा। चैत्य का उत्तर और उच्चतर मनोमयी सत्ता की स्वीकृति पर्याप्त नहीं; यह भी पर्याप्त नहीं कि आंतरिक प्राण नत हो जाये और आंतरिक अन्नमयी चेतना प्रभाव को अनुभव करे। सत्ता के किसी भी अंग में, बाह्य से बाह्य में भी, ऐसा कुछ भी नहीं होना चाहिये जिसे कोई संकोच हो, ऐसा कुछ भी नहीं होना चाहिये जो संशय, अस्पष्टता और छल-कपट के पीछे छिपा हो, ऐसा कुछ भी नहीं होना चाहिये जो विद्रोह या अस्वीकार करता हो।

यदि सत्ता का कोई अंग समर्पण करे किंतु दूसरा अंग संकोच करे, अपनी ही राह चले या अपनी ही शर्तें रखे तो जब-जब ऐसा होगा इसका अर्थ यह होगा कि भगवत्कृपा को तुम स्वयं ही अपने से दूर हटा रहे हो।

यदि अपनी भक्ति और समर्पण के पीछे तुम अपनी कामनाओं, अहमात्मिका मांगों और प्राणिक आग्रहों के लिये छिपने का स्थान बनाते हो, यदि तुम इन चीजों को सच्ची अभीप्सा के स्थान पर लाते या उसके साथ मिला देते हो और

इन्हें भागवत शक्ति पर लादने की चेष्टा करते हो तो तुम्हारा भगवत्कृपा को अपने रूपांतर के लिये आह्वान करना निरर्थक है।

यदि तुम एक ओर या एक अंग में सत्य की ओर खुलते हो और दूसरी ओर बराबर शत्रु शक्तियों के लिये दरवाजे खोलते रहते हो तो यह आशा व्यर्थ है कि भगवत्कृपा तुम्हारे साथ रहेगी। तुम्हें मन्दिर को स्वच्छ रखना ही होगा यदि तुम वहां भगवान् को जाग्रत् रूप से स्थापित करना चाहते हो।

जब-जब महाशक्ति आती और सत्य को लाती है तब-तब यदि तुम उसकी ओर पीठ फेर लो और उस मिथ्यात्व को फिर से बुला लो जिसे निकाल दिया गया है तो तुम भगवत्कृपा को निष्फलता का दोष नहीं दे सकते, दोष तुम्हारे अपने संकल्प के मिथ्याचार और तुम्हारे आत्मसमर्पण की अपूर्णता का है।

यदि तुम सत्य का आवाहन करते हो और फिर भी तुम्हारे अंदर ऐसा कुछ है जो असत्य, अज्ञान और अदिव्य का वरण करता है किंवा उसका सर्वथा त्याग करने को अनिच्छुक ही है, तो तुम सदा ही आक्रमण की ओर खुले रहोगे और भगवत्कृपा तुमसे हट जायेगी। पहले यह खोजो कि तुममें असत्य या तमोग्रस्त क्या है और दृढ़ता से उसका त्याग करो, केवल तभी तुम्हें अपने रूपांतर के लिये दिव्य शक्ति के आवाहन का अधिकार होगा।

मत सोचो कि सत्य और असत्य, आलोक और अंधकार, आत्मदान और आत्मपरता भगवान् को निवेदित किये गये गृह में एक साथ रहने दिये जा सकते हैं। रूपांतर सर्वांगीण होना होगा; फलतः, जो कुछ उसमें बाधक हो उसका त्याग भी सर्वांगीण होना होगा।

दूर कर दो इस मिथ्या धारणा को कि तुम यदि भगवन्निर्दिष्ट शर्तें पूरी न करो तब भी दिव्य शक्ति तुम्हारे चाहने से तुम्हारे लिये सब कुछ करेगी या करने को बाध्य है। अपने समर्पण को सच्चा और संपूर्ण करो, केवल तभी बाकी सब कुछ तुम्हारे लिये किया जायेगा।

दूर कर दो इस मिथ्या और अलस आशा को कि भागवती शक्ति तुम्हारे लिये समर्पण भी कर देगी। भगवान् तुम्हारा भागवती शक्ति के प्रति समर्पण चाहते हैं, पर जबर्दस्ती नहीं कराते : जबतक अटल रूपांतर नहीं हो जाता तबतक तुम भगवान् को नहीं मानने, उन्हें छोड़ देने या अपना आत्मदान वापस लेने को हर क्षण स्वतंत्र हो, किन्तु अवश्य ही तुम्हें उसका आध्यात्मिक फल भी भोगने को तैयार रहना होगा। तुम्हारे समर्पण को होना चाहिये स्वेच्छाकृत और स्वच्छंद; उसे होना चाहिये सजीव सत्ता का समर्पण, न कि जड़ कठपुतली या असहाय यंत्र का।

तामसिक निश्चेष्टता को वास्तविक समर्पण मानने की भूल सदा ही की जाती है, किन्तु तामसिक निश्चेष्टता में से कोई भी सच्ची और सबल वस्तु नहीं आ सकती। भौतिक प्रकृति अपनी तामसिक निश्चेष्टता के कारण ही सारे तामस या अदिव्य प्रभावों का शिकार बनती है। अपेक्षा है भागवती शक्ति की क्रिया के प्रति प्रसन्न, सबल और सहायक अधीनता और सत्य के आलोकित अनुयायी की, तम और असत्य से लड़नेवाले आंतर योद्धा की, भगवान् के विश्वासी सेवक की आज्ञाकारिता की।

यही सच्चा भाव है, और जो इस भाव को धारण कर सकते और बनाये रख सकते हैं केवल वे ही निराशाओं और विपत्तियों के बीच अडिग विश्वास बनाये रख सकेंगे और अग्निपरीक्षाओं में से होकर परम विजय और महान् रूपांतर को प्राप्त करेंगे।

२

विश्व में जो कुछ भी किया जाता है उसमें भगवान् अपनी शक्ति द्वारा सारी क्रिया के पीछे हैं, किंतु वह अपनी योगमाया से आवृत हैं और अपरा प्रकृति में जीव के अहंकार द्वारा कार्य करते हैं।

योग में भी भगवान् साधक हैं और साधना भी। साधना उन्हीं की शक्ति से संभव होती है; उनकी शक्ति ही अपनी ज्योति, सामर्थ्य, ज्ञान, चेतना एवं आनन्द से आधार पर क्रिया करती है और आधार के उसकी ओर खुलने पर उसमें इन दिव्य शक्तियों के साथ प्रवाहित होती है। परंतु जबतक अपरा प्रकृति सक्रिय रहती है साधक की वैयक्तिक चेष्टा आवश्यक रहती है।

अपेक्षित वैयक्तिक चेष्टा अभीप्सा, वर्जन एवं समर्पण का त्रिविध अभ्यास है,—

अनिमिष, अविराम एवं अविच्छिन्न अभीप्सा,—मन का संकल्प, हृदय की खोज, प्राणसत्ता की सम्मति, दैहिक चेतना तथा प्रकृति को उन्मीलित करने और सहजनम्य करने का संकल्प;

अपरा प्रकृति की वृत्तियों का वर्जन,—मन के भाव, अभिमत, पक्षपात, अभ्यास और निर्माण का वर्जन ताकि सच्चे ज्ञान को नीरव मन में निर्बन्ध अवकाश मिल सके,—प्राणप्रकृति की कामना, वासना, लालसा, संवेदना, आवेग, स्वार्थपरता, अभिमान, अहंमन्यता, लोलुपता, लुब्धता, ईर्ष्या, असूया, सत्य के प्रति विरुद्धाचार इन सबका वर्जन ताकि ऊपर से सच्ची शक्ति और आनंद स्थिर, विशाल, सबल और निवेदित प्राणसत्ता में ढलते आ सकें,—शारीरिक प्रकृति की मूढ़ता, संशय, अविश्वास, अन्धकारिता, दुराग्रहिता, संकीर्णता, आलस्य, परिवर्तन-विमुखता और तामसिकता का वर्जन ताकि ज्योति, शक्ति एवं आनंद की सच्ची स्थिरता सदा अधिकाधिक दिव्य होते शरीर में स्थापित हो सकें;

भगवान् और भागवती शक्ति के प्रति आत्मसमर्पण, हम जो कुछ भी हैं, जो कुछ भी हमारा है, हमारी चेतना का हर स्तर, हमारी हर गतिविधि, इन सबका समर्पण।

समर्पण और आत्म-निवेदन जितना बढ़ते हैं उसी अनुपात में साधक को यह बोध होता है कि भागवती शक्ति साधना कर रही है, उसके अंदर अपने-आपको अधिकाधिक उंडेल रही है, उसके अंदर दिव्य पराप्रकृति की स्वतंत्रता

एवं पूर्णता को स्थापित कर रही है। यह चेतन प्रक्रिया उसकी अपनी चेष्टा का स्थान जितना अधिक लेती है उसकी प्रगति उतनी ही तेज और अधिक होती है। किन्तु वह वैयक्तिक चेष्टा की आवश्यकता का पूरा अंत तबतक नहीं कर सकती जबतक कि समर्पण तथा निवेदन ऊपर से नीचे तक विशुद्ध और संपूर्ण नहीं हो जाते।

ध्यान रहे कि वह तामसिक समर्पण जो कि शर्तें पूरी करने से इनकार करता है और ईश्वर से यह चाहता है कि वे ही सब कुछ कर दें और तुम सारे कष्ट और संघर्ष से बचे रहो, प्रवंचना है और उससे स्वतंत्रता तथा पूर्णता की प्राप्ति नहीं होती।

३

जीवनयात्रा में सकल भय, संकट और आपदा के सामने कवचित होकर चलने के लिये केवल दो चीजें आवश्यक हैं और ये दो सदा साथ-साथ चलती हैं,—एक तो मां भगवती की कृपा और दूसरी, तुम्हारी ओर से श्रद्धा-निष्ठा-समर्पण से गठित आंतरिक स्थिति। श्रद्धा तुम्हारी होनी चाहिये विशुद्ध, निश्छल एवं निर्दोष। मन और प्राण की अहमात्मिका श्रद्धा, वह श्रद्धा जो आकांक्षा, अभिमान, दंभ, मानसिक अहंमन्यता, प्राणिक स्वैरता, वैयक्तिक चाह और निम्न प्रकृति की तुच्छ तृप्तिकामनाओं से कलुषित है, अनुन्नत और धूमाच्छन्न शिखा है जो ऊर्ध्वमुखी होकर स्वर्गलोकों की ओर प्रज्वलित नहीं हो सकती। अपने जीवन को इस रूप में देखो कि वह तुम्हें केवल दिव्य कार्य के लिये और दिव्य अभिव्यक्ति में सहायता देने के लिये मिला है। और किसी भी चीज की चाह न करो, चाहो केवल दिव्य चेतना की विशुद्धता, शक्ति, ज्योति, विशालता, स्थिरता, आनन्द और तुम्हारे मन, प्राण तथा शरीर को रूपांतरित और पूर्णतासंपन्न करने के लिये उसका आग्रह। और कुछ भी न मांगो, तुम्हारी मांग हो दिव्य, आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक सत्य के लिये, धरती पर, तुममें और उन सबमें उसकी सिद्धि के लिये जो उसके लिये चुने गये हैं, उसके अधिकारी हैं और उन अवस्थाओं के लिये जो उसकी सृष्टि के लिये और सारी विरोधिनी शक्तियों पर उसकी विजय के लिये आवश्यक हैं।

तुम्हारी निष्ठा और समर्पण सत्यमय और संपूर्ण होने चाहियें। जब तुम अपना अर्पण करते हो तो अपने को दे डालो निःशेष रूप से, बिना किसी दावे के, बिना किसी शर्त के, बिना किसी संकोच के, ताकि तुम्हारे अंदर सब कुछ मां भगवती का होगा और अहं के लिये कुछ भी नहीं छोड़ा जायेगा, अन्य किसी शक्ति को कुछ भी नहीं दिया जायेगा।

तुम्हारी श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण जितने अधिक संपूर्ण होंगे उतना ही अधिक तुम कृपापात्र और सुरक्षित होओगे। और यदि मां भगवती की कृपा और रक्षक हाथ तुम पर हों तो ऐसा क्या है जो तुम्हें स्पर्श कर सके या जिसका तुम्हें भय हो? उसका अल्पांश भी तुम्हें सकल कठिनाइयों, बाधाओं और संकटों के पार कर देगा; उससे पूरे घिरे रहने पर तो, चूंकि वह पथ मां का ही है, तुम अपने पथ पर निरापद चल सकते हो, तब तुम्हें किसी संकट

की चिंता नहीं, तुम्हें कोई भी वैरता छू नहीं सकती वह चाहे कितनी ही सबल क्यों न हो, इस जगत् की हो या अदृश्य जगत् की। उसका स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अडिग बल में बदल दे सकता है। कारण, मां भगवती की अनुकंपा परमेश्वर की अनुमति है और आज या कल उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट, अवश्यंभावी और अनिवार्य है।

४

धन एक वैश्व शक्ति का दृश्यमान चिह्न है, और पृथ्वी पर अपने प्राकट्य में यह शक्ति प्राण और जड़ के क्षेत्रों में कार्य करती है और बाह्य जीवन की परिपूर्णता के लिये अपरिहार्य है। अपने मूल और अपनी सच्ची क्रिया में यह शक्ति भगवान् की है। परंतु भगवान् की अन्य शक्तियों की तरह यह शक्ति भी यहां हस्तांतरित कर दी गयी है और अधःप्रकृति के अज्ञान में अहं के उपयोग के लिये हड़प ली जा सकती या आसुरी प्रभावों द्वारा अधिकृत हो सकती और उनके उद्देश्य के लिये विकृत की जा सकती है। निस्सन्देह यह उन तीन शक्तियों में से है,—आधिपत्य, धन और काम,—जिनमें मानवीय अहं और असुर के लिये सबसे सबल आकर्षण है और जो प्रायः सर्वत्र अनधिकारियों के हाथों में पड़ जाती और उनके द्वारा अव्यवहृत होती हैं। धन के आकांक्षी या भण्डारी धन के स्वामी न होकर प्रायः उसके दास ही हुआ करते हैं। असुरों ने लंबे समय से धन को अपने अधिकार में रखा है और उसे विकृत किया है, इससे उसपर एक ऐसी विकृतिकारिणी छाप पड़ गयी है जिससे बहुत कम लोग ही पूरे बच सकते हैं। इसी कारण अधिकतर आध्यात्मिक साधनमार्गों में पूरे आत्मसंयम, अनासक्ति और धन के सारे बंधनों और सारी वैयक्तिक तथा अहंकारयुक्त वित्तेषणा के त्याग पर जोर दिया जाता है। कुछ साधनमार्ग तो धन और संपदा पर निषेध ही लगा देते और जीवन की दरिद्रता और रिक्तता को एकमात्र आध्यात्मिक अवस्था घोषित करते हैं। परंतु यह भूल है; इससे धनबल विरोधिनी शक्तियों के हाथ में रह जाता है। उसे उसके अधिकारी भगवान् के लिये पुनः जीत लेना और दिव्य जीवन के लिये दिव्य रूप से उसका उपयोग करना साधक के लिये अतिमानसिक मार्ग है।

धनबल और उससे मिलनेवाले साधनों और पदार्थों से तुम्हें संन्यासी की तरह मुंह नहीं मोड़ लेना चाहिये, न ही तुम्हें उनके लिये राजसिक आसक्ति या उनके भोग के आत्मसुख की दासवृत्ति ही पोसनी चाहिये। धन को केवल ऐसी शक्ति के रूप में देखो जिसे मां के लिये पुनः जीत लेना और उनकी सेवा में नियोजित करना है।

सारा धन भगवान् का है; वह जिनके हाथ में है वे उसके ट्रस्टी हैं, मालिक नहीं। वह आज उनके पास है, कल और कहीं हो सकता है। सब कुछ

इसपर निर्भर करता है कि जबतक वह उनके पास है वे इस ट्रस्ट का पालन कैसे करते हैं, किस अन्तर्भाव से करते हैं, किस चेतना से उसका उपयोग करते हैं, किस उद्देश्य के लिये करते हैं।

अपने लिये धन के उपयोग में जो कुछ भी तुम्हारा है या तुम्हें मिलता है या तुम लाते हो उसे मां का मानो। तुम्हारी कोई भी मांग न हो; तुम्हें मां से जो मिलता है उसे स्वीकार करो और उसे उन कामों में लगाओ जिनके लिये वह तुम्हें दिया गया हो। नितान्त निःस्वार्थ होओ, पूरे न्यायनिष्ठ बनो, सही-सही रहो, ब्योरों में सावधान रहो, अच्छे ट्रस्टी बनो; सदा यह मानो कि जिस धन का तुम उपयोग कर रहे हो वह मां का है, तुम्हारा नहीं। फिर, जो कुछ उनके लिये मिले उसे उनके सामने श्रद्धा से रखो, अपने या और किसी के काम में न लगाओ।

धनी के धन के कारण उसके सामने सर न नवाओ, उसके आडम्बर, बल या प्रभाव की छाप अपने पर न पड़ने दो। जब तुम मां के लिये मांगते हो तो तुम्हें यह अनुभव करना चाहिये कि वे ही तुम्हारे द्वारा अपनी वस्तु का अल्पांश चाह रही हैं और जिस व्यक्ति से तुम मांगते हो वह क्या उत्तर देता है उससे उसकी जांच होगी।

यदि तुम धनदोष से मुक्त हो और साथ ही संन्यासी की तरह तुम धन से भागते नहीं, तो भागवत कार्य के लिये धन जय करने की अधिक क्षमता तुम्हें मिलेगी। मन का समत्व, स्पृहा का अभाव और जो कुछ तुम्हारा है और तुम्हें मिलता है उसका और तुम्हारी सारी अर्जनशक्ति का भगवती शक्ति को अर्पण इस मुक्ति के लक्षण हैं। धन और उसके उपयोग के संबंध में मन की कोई भी चंचलता, स्पृहा या कुण्ठा किसी-न-किसी अपूर्णता या बंधन का निश्चित चिह्न है।

इस मार्ग में आदर्श साधक वह है जो दरिद्रता की अवस्था में रहने की आवश्यकता होने पर वैसे ही रह सके और अभाव का कोई भी बोध उसे स्पर्श न करे, दिव्य चेतना की पूरी आंतरिक क्रीड़ा में बाधा न दे, और धनी की अवस्था में रहने की आवश्यकता होने पर वैसे ही रह सके और एक क्षण के लिये भी वासना में या अपने धन या उपयोगसामग्री की आसक्ति में या भोगवृत्ति की दासता में न जा पड़े, न ही दुर्बल होकर उन आदतों में बंध जाये जो धन रहने पर पड़ जाती हैं। भागवती इच्छा और भागवत आनंद ही उसके लिये सब कुछ हैं।

अतिमानसिक सृष्टि में धनशक्ति को भागवती शक्ति के हाथ में वापस

करना है; उसे, स्वयं भगवती मां अपनी सृष्टि-दृष्टि से जैसा निर्णय करें उसी प्रकार, नूतन दिव्यीकृत प्राण और देह की सच्ची, सुंदर और सुसमंजस सज्जा और सुव्यवस्था के लिये व्यवहृत करना होगा। परंतु पहले उसे मां के लिये फिर से जीत लाना होगा और इस विजय के लिये सबसे सबल वे होंगे जो अपनी प्रकृति के इस अंग में सबल, विशाल और अहंकार-निर्मुक्त हैं, कोई प्रत्याशा नहीं करते, अपने लिये कुछ बचाकर नहीं रखते, संकोच नहीं करते और परमा शक्ति के विशुद्ध वीर्यवान् माध्यम हैं।

५

यदि तुम दिव्य कर्म के सच्चे कर्मी बनना चाहते हो तो तुम्हारा पहला लक्ष्य होगा वासनामात्र और स्वार्थाभिमुख अहं से पूरा मुक्त होना। तुम्हारा सारा जीवन भगवान् को अंजलि और बलि के रूप में होगा; कर्म में तुम्हारा एकमात्र लक्ष्य होगा भगवती शक्ति की लीला में उनकी सेवा करना, उन्हें ग्रहण करना, कृतार्थ करना, उनके प्राकट्य का यन्त्र बनना। तुम्हें दिव्य चैतन्य में विकसित होते जाना होगा ताकि तुम्हारी इच्छा और उनकी इच्छा में कोई भेद न रह जाये, तुममें उनकी प्रेरणा के अलावा कोई और संकल्प न उठे, कोई ऐसा कर्म न हो जो तुममें और तुम्हारे द्वारा होनेवाला उन्हींका चिन्मय कर्म न हो।

जबतक तुम यह संपूर्ण सक्रिय एकत्व उपलब्ध नहीं कर सकते तुम्हें अपने-आपको इस रूप में देखना होगा कि तुम मां की सेवा के लिये सृष्ट जीव और देह हो, तुम्हारा सारा कर्म उन्हीं के लिये है। यदि तुममें पृथक् कर्तृत्वबोध सबल हो और तुम्हें यह अनुभव होता हो कि तुम्हीं कर्ता हो तो भी वह कर्म मां के लिये ही करना है। अहमात्मिका पसंद का जोर, वैयक्तिक लाभ की लालसा, स्वार्थाभिमुखी कामना की प्रत्याशा, इन्हें पूरा-का-पूरा उन्मूलित कर देना होगा प्रकृति में से। कोई फलेच्छा न रह जाये, पुरस्कार की एषणा न रह जाये; तुम्हारे लिये एकमात्र फल है भगवती मां की प्रसन्नता और उनके कार्य की पूर्ति, तुम्हारे लिये एकमात्र पुरस्कार है दिव्य चेतना, स्थिरता, बल एवं आनंद में निरंतर प्रगति। सेवा का आनंद और कर्म द्वारा आंतरिक वर्द्धन का आनंद ही निरहंकार कर्मी के लिये यथेष्ट प्रतिदान है।

परंतु एक समय आयेगा जब तुम अधिकाधिक यह अनुभव करोगे कि तुम यन्त्र हो, कर्ता नहीं। कारण, प्रथमतः तुम्हारे भक्तिबल से भगवती मां के साथ तुम्हारा संपर्क इतना घनिष्ठ हो जायेगा कि किसी भी समय एकाग्र होकर और सब कुछ उनके हाथों में छोड़कर तुम उनका आशु निदेश, प्रत्यक्ष आदेश या प्रेरणा पा लोगे, यह निश्चित संधान पा लोगे कि क्या करना है, कैसे करना है और क्या फल होगा। और बाद में तुम यह अनुभव कर लोगे कि दिव्य शक्ति केवल प्रेरणा ही नहीं देती, पथ ही नहीं दिखाती, तुम्हारे कर्मों का प्रवर्तन और उद्यापन भी करती है; तुम्हारी सारी गतिविधि का उत्स मां में है, तुम्हारे सारे सामर्थ्य उन्हींके हैं; मन, प्राण और देह उन्हींकी क्रिया के चैतन्यमय, आनन्दमय

यन्त्र हैं, उसकी लीला के साधन हैं, भौतिक विश्व में उनके प्राकट्य के आधार हैं। इस ऐक्य और निर्भरता की अपेक्षा अधिक सुखद स्थिति कोई और नहीं हो सकती; कारण, यह डग तुम्हें अज्ञान के संघर्ष-संकुल दुःखमय जीवन की सीमा को पार कराकर फिर से तुम्हारी आध्यात्मिक सत्ता के सत्य में, उसकी गभीर शांति एवं तीव्र आनंद में ले जायेगा।

जबतक यह रूपांतर-संपादन चलता है तुम्हारा अपने-आपको अहं के सारे विकारों के दोष से मुक्त रखना अन्य किसी भी समय की अपेक्षा अधिक आवश्यक होता है। तुम्हारे आत्मदान और आत्मोत्सर्ग की निर्मलता में कोई भी मांग, कोई भी हठ दबे पांव न आ जाये, उसे कलंकित न करे। कर्म या कर्मफल के प्रति कोई भी आसक्ति नहीं हो, कोई भी शर्तें न रखी जायें, तुम्हें जिस शक्ति द्वारा अधिकृत होना चाहिये उसपर अधिकार करने के लिये दावा न हो, यन्त्र होने का अभिमान न हो, कोई दम्भ या उद्धतता न हो। तुम्हारे मन या प्राण या दैहिक अंगों में ऐसा कुछ भी न रहने दिया जाये जो तुम्हारे द्वारा कार्य करती शक्तियों की महत्ता को अपने ही उपयोग के लिये विकृत करे या अपनी ही वैयक्तिक और पृथक् तुष्टि के लिये हस्तगत करे। तुम्हारी श्रद्धा, तुम्हारी निष्ठा, तुम्हारी अभीप्सा की निर्मलता पराकाष्ठा को प्राप्त करें और सत्ता के सारे स्तरों और क्षेत्रों में व्याप्त हों; ऐसा होने पर हर क्षोभकारी तत्त्व और विकृतिकारी प्रभाव तुम्हारी प्रकृति में से अधिकाधिक निकलते जायेंगे।

इस सिद्धि का अंतिम पर्व तब आयेगा जब तुम भगवती मां के साथ पूरे एकीभूत हो जाओगे और अपने-आपको अन्य तथा पृथक् सत्ता, यन्त्र, सेवक या कर्ता के स्थान पर सत्यतः मां की चेतना एवं शक्ति की संतान और सनातन अंश अनुभव करोगे। वह सदा ही तुममें होंगी और तुम उनमें होगे; तुम्हें यह सतत, सहज और स्वाभाविक अनुभव होगा कि तुम्हारे सारे विचार, तुम्हारा सारा देखना, तुम्हारे सारे कर्म, तुम्हारा श्वास लेना या हिलना-डोलना भी उन्हीं से निःसृत हैं और उन्हीं के हैं। तुम यह जानोगे, देखोगे और अनुभव करोगे कि तुम वह व्यक्ति और शक्ति हो जिसे मां ने अपने-आप में से रचा है और जो लीला के लिये उनमें से निःसृत है और फिर भी सदा ही उनमें निरापद है और तुम उन्हीं की सत्ता की सत्ता, उन्हीं की चेतना की चेतना, उन्हीं की शक्ति की शक्ति, उन्हीं के आनंद के आनंद हो। जब यह अवस्था पूर्णांग होगी और मां की अतिमानसिक ऊर्जाराशि तुम्हें अबाध रूप से चालित कर सकेगी तब तुम सिद्ध भागवत कर्मी बनोगे; ज्ञान, इच्छा और कर्म तब सुनिश्चित, सहज, ज्योतिर्मय, स्वतःस्फूर्त और निर्दोष होंगे, परमेश्वर से प्रवाहित होंगे, शाश्वत की दिव्य गतिधारा होंगे।

६

मां की चार शक्तियां उनके चार प्रधान व्यक्त रूप हैं, उनके दिव्य स्वरूप के अंश और विग्रह हैं जिनके द्वारा वह अपने सृष्ट जीवों पर क्रिया करती हैं, लोक-सृष्टियों में व्यवस्था और सामंजस्य लाती हैं और अपनी हजारों शक्तियों के क्रियान्वयन का निदेशन करती हैं। कारण, मां एक हैं, किंतु हमारे सामने वह भिन्न-भिन्न रूपों में आती हैं; अनेकानेक उनकी शक्तियां और मूर्तियां हैं, अनेकानेक उनके स्फुलिंग और विभूतियां हैं जो विश्व में उनका कार्य करती हैं। जिन अद्वितीया को हम मां कहकर पूजते हैं वह हैं सकल अस्तित्व की अधिष्ठात्री भागवती चित्शक्ति, एका और साथ ही इतनी बहुरूपिणी कि अति क्षिप्र मन और सर्वथा विनिर्मुक्त और परम व्यापक बुद्धि के लिये भी उनकी गतिधारा को समझना असंभव है। मां हैं परमेश्वर की चेतना एवं शक्ति और अपनी सृष्टि से बहुत ही ऊपर। किंतु उनकी गतिविधि का कुछ आभास और अनुभव मिलता है उनके विग्रहों और उन देवीमूर्तियों से जिनमें वह अपने सृष्ट जीवों के सामने प्रकट होना स्वीकार करती हैं और जो अपने अधिक निर्दिष्ट तथा मर्यादित गुण और कर्म के कारण अपेक्षाकृत सहजग्राह्य होती हैं।

मां की त्रिधा सत्ता का अनुभव तुम्हें तब हो सकता है जब तुमको हमें और विश्व को धारण करनेवाली चिन्मयी शक्ति के साथ एकत्व का संस्पर्श होगा। वह विश्वातीता हैं, आद्या पराशक्ति हैं; वह लोकों से ऊपर हैं और सृष्टि को परमेश्वर के चिर-अव्यक्त रहस्य से संयुक्त करती हैं। वह विश्वव्यापिनी हैं, विश्वरूपिणी महाशक्ति हैं; वह इन सारी सत्ताओं की सृष्टि करती हैं, इन कोटि-कोटि प्रक्रियाओं और शक्तियों को अपने अंदर धारण करती हैं, उनमें प्रवेश करती हैं, उन्हें अवलम्ब देती और परिचालित करती हैं। वह व्यष्टिरूपिणी हैं, वह अपनी सत्ता के इन दो बृहत्तर रूपों की शक्ति को शरीरी करती हैं, उन्हें हमारे लिये जीवन्त बनाती और निकट लाती हैं और मानवीय व्यक्तित्व तथा दिव्य प्रकृति के बीच मध्यस्थ होती हैं।

आद्या अद्वितीया पराशक्ति के रूप में मां सकल लोकों से ऊपर हैं और पुरुषोत्तम भगवान् को अपनी सनातन चेतना में धारण किये रहती हैं। पूर्ण शक्ति और अनिर्वचनीय सत्ता उन अद्वितीया में ही बसती हैं; जिन सत्यों को व्यक्त करना है उन्हें वह वहन करतीं या उनका आह्वान करती हैं, वे जिस

परम रहस्य में छिपे हुए थे उसमें से उतारकर उन्हें वह अपनी अनन्त चेतना के आलोक में ले आतीं, अपनी सर्वजयी शक्ति और अपार प्राणधारा में शक्ति का रूप देतीं और विश्व में शरीरी करती हैं। पुरुषोत्तम मां में सदा ही नित्य सच्चिदानन्द के रूप में प्रकट हैं, लोकों में उन्हीं के द्वारा ईश्वर और शक्ति के द्वैताद्वैत चैतन्य और पुरुष और प्रकृति के द्वैत तत्त्व-रूप में व्यक्त हुए हैं, लोकों और भुवनों में, देवों और देवशक्तियों में उन्हीं के द्वारा शरीरी हुए हैं और ज्ञाताज्ञात लोकों में जो कुछ है उसके रूप में उन्हीं के कारण साकार हुए हैं। सब कुछ पुरुषोत्तम के साथ उनकी लीला है; सब कुछ उनका शाश्वत के रहस्यों को, अनन्त के चमत्कारों को व्यक्त करना है। वही सब कुछ हैं, क्योंकि सब कुछ ही दिव्य चित्-शक्ति का अंश और अच्छेद्य अंग है। यहां या कहीं भी ऐसा कुछ भी नहीं हो सकता जो उनके द्वारा निर्दिष्ट और परमेश्वर द्वारा अनुमत न हो; जिसे वह परमेश्वर से चालित होकर दिव्य दृष्टि में देखतीं और फिर अपने सृष्टिशील आनन्द में बीजरूप में डालकर घड़ती हैं, केवल वही वस्तु रूपायित हो सकती है।

महाशक्ति विश्वमाता को अपनी विश्वातीत चेतना द्वारा परम पुरुष से जो मिलता है उसे वह कार्यान्वित करती हैं और अपने बनाये लोकों में प्रवेश करती हैं; वहां उनकी विद्यमानता लोक-लोकों को उस दिव्य भाव और उस दिव्य सर्वपोषक शक्ति एवं आनंद से भरती और अवलम्ब देती है जिनके बिना उनका अस्तित्व नहीं हो सकता था। जिसे हम प्रकृति कहते हैं वह उनका सबसे बाहरी क्रियारूप है; महाशक्ति ही अपनी शक्तियों और प्रक्रियाओं को विन्यस्त करतीं और उनमें सामंजस्य लाती हैं, प्रकृति की क्रियाओं को चलातीं और उनमें जो कुछ भी देखा जा सकता या अनुभव किया जा सकता या जीवनधारा में सचल किया जा सकता है उस सबमें, गुप्त या व्यक्त रूप से विचरण करती हैं। प्रत्येक लोक और कुछ नहीं, महाशक्ति की अखिल लोकसंस्थान-लीला में एक लीला है; महाशक्ति उनमें विश्वातीता मां की विश्वभूत आत्मसत्ता और व्यक्तित्व के रूप में हैं। प्रत्येक लोक वह वस्तु है जिसे उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टि में देखा, अपने सौंदर्यमय एवं शक्तिमय हृदय में धारण किया और अपने आनंद में सृष्ट किया है।

किंतु उनकी सृष्टि के स्तर अनेक हैं, भागवती शक्ति के पादपीठ अनेक हैं। इस सृष्टि के शिखर पर जिसके कि हम अंग हैं, अनंत सत्ता, चेतना, शक्ति एवं आनंद के लोक हैं जिनपर मां अनावृत शाश्वत शक्तिरूप में खड़ी हैं। वहां सारी सत्ताओं का जीवन और विचरण अनिर्वचनीय सम्पूर्णता और अव्यभिचारिणी

एकता में होता है, क्योंकि मां उन्हें नित्य अपनी बांहों में लिये रहती हैं। हमारे अधिक समीप हैं पूर्ण अतिमानसिक सृष्टि के लोक जिनमें मां अतिमानसिक महाशक्ति हैं, दिव्य सर्वज्ञ इच्छा एवं सर्वशक्तिमय ज्ञान की शक्ति हैं जो अपनी अभ्रांत क्रियाओं में नित्य प्रकट है और प्रत्येक प्रक्रिया में स्वतःस्फूर्त रूप से पूर्ण। वहां की सारी गतिविधि सत्य के पदक्षेप हैं; वहां सकल सत्ताएं दिव्य ज्योति के जीवभूत अंश, शक्तियां और शरीर हैं; वहां सारे अनुभव तीव्र परमानन्द के सागर, प्लावन और तरंगें हैं। किन्तु यहां, जहां कि हम रहते हैं, अज्ञान जगत् हैं, चेतना में अपने मूल से पृथक् हुए मन, प्राण और शरीर के जगत् हैं; यह पृथ्वी इनका सार्थक केन्द्र है और इसका क्रमविकास अति महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया। इतने सारे अंधकार, संघर्ष और अपूर्णता से युक्त इस जगत् को भी विश्वमाता ने धारण कर रखा है; यह भी महाशक्ति द्वारा ही प्रचालित हो रहा है और अपने गुप्त लक्ष्य की ओर ले जाया जा रहा है।

अज्ञान के इस त्रिधा जगत् की महाशक्ति के रूप में मां एक मध्यवर्ती लोक में खड़ी हैं,—एक ओर है अतिमानस-ज्योति, सत्यात्मक जीवन, सत्यात्मिका सृष्टि जिसे यहां उतार लाना है, दूसरी ओर है चेतना के स्तरों का यह ऊर्ध्वगामी और निम्नगामी श्रेणीक्रम जो दोहरी सीढ़ी की तरह एक ओर जड़ के निर्ज्ञान में समाप्त होते हैं और फिर प्राण, हृदय एवं मन के प्रस्फुटन द्वारा परमात्मा के आनन्त्य में वापस उठते हैं। इस विश्व में और पार्थिव क्रमविकास में जो कुछ होना है उसे, वह जो देखती, अनुभव करती और अपने अंदर से उंडेलती हैं, उसके द्वारा निश्चित करती हुई मां वहां देवताओं से ऊपर खड़ी हैं और उनकी सकल शक्तियों और विग्रहों को कार्य के लिये उनके सामने लाया जाता है और मां उनके स्फुलिंगों को इन नीचे के लोकों में हस्तक्षेप करने, शासन करने, लड़ने और जीतने, उनके युगचक्रों का परिचालन और आवर्तन करने, उनकी शक्तियों की समष्टिगत और व्यष्टिगत धाराओं का निदेशन करने के लिये नीचे भेजती हैं। ये स्फुलिंग ही वे बहुतेरे दिव्य रूप तथा विग्रह हैं जिनके द्वारा मनुष्य युग-युग में विभिन्न नामों से मां की पूजा करता रहा है। किन्तु इन शक्तियों और इनके स्फुलिंगों द्वारा वह अपनी विभूतियों के मन और शरीर को भी प्रस्तुत करती और घड़ती हैं, ताकि वह भौतिक जगत् में और मानवी चेतना के छद्मवेश में अपनी शक्ति, गुण और सत्ता की कोई आभा व्यक्त कर सकें। पार्थिव लीला के सारे दृश्य ऐसे नाटक की तरह रहे हैं जो मां के द्वारा रचित, विन्यस्त और अभिनीत हैं और जिसमें विश्वदेव उनके सहकारी हैं और स्वयं मां प्रच्छन्न अभिनेत्री।

मां केवल सबपर ऊपर से शासन ही नहीं करतीं, अपितु इस निम्नतर त्रिधा जगत् में उतर आती हैं। निर्वैयक्तिक रूप में, यहां की सारी वस्तुएं, अज्ञान की गतिविधि भी, अपनी शक्ति को प्रच्छन्न रखनेवाली मां ही हैं; वे उन्हीं की क्षीणीकृत सत्त्ववाली सृष्टियां हैं, उन्हीं की प्रकृतिदेह और प्रकृतिशक्ति हैं, और उनका अस्तित्व इसलिये है कि परमेश्वर के रहस्यमय आदेश से चालित होकर, एक ऐसी चीज को कार्यान्वित करने के लिये जो कि अनन्त की संभावनाओं में विद्यमान थी, मां ने यह महान् आत्मबलिदान स्वीकार किया है और अज्ञान के अन्तःकरण और रूपों को अवगुण्ठन की तरह धारण किया है। परंतु व्यक्तिगत रूप में भी वह करुणावश यहां अन्धकार में उतर आयी हैं उसे ज्योति की ओर ले जाने के लिये, मिथ्यात्व और प्रमाद में उतर आयी हैं उसे सत्य में संपरिवर्तित करने के लिये, इस मृत्यु में उतर आयी हैं उसे देवोचित जीवन में बदलने के लिये, इस जगत्-वेदना और उसके दुरपनेय दुःख और कष्ट में उतर आयी हैं उसे अपने उदात्त आनंद के रूपान्तरकारी उल्लास में पर्यवसित करने के लिये। अपनी संतान के लिये अपने गभीर विपुल स्नेहवश ही मां ने इस अंधकार का आवरण ओढ़ना चाहा है, अंधकार और मिथ्यात्व की शक्तियों के आक्रमणों और उत्पीड़क प्रभावों को सहना स्वीकार किया है, उस जन्म के तोरण में से होकर निकलना सहा है जो कि मृत्यु है, सृष्टि की वेदना, दुःख और कष्ट को अपने अंदर लिया है,—कारण, ऐसा दीख पड़ा था कि उसे केवल इसी प्रकार ज्योति, आनन्द, सत्य एवं अनंत जीवन की ओर उन्नीत किया जा सकेगा। यही वह महान् आत्मबलिदान है जिसे समय-समय पर पुरुष-यज्ञ कहा गया है किंतु जो गभीरतर अर्थ में प्रकृति का आत्मस्वाहाकार है, मां भगवती का यज्ञ है।

मां के इस विश्वपरिचालन में, पार्थिव लीला के साथ उनके व्यवहार में, उनके चार महारूप, उनकी प्रधान शक्तियों और विग्रहों में से चार, सामने रहे हैं। उनके एक विग्रह में है प्रशान्त विशालता, व्यापक ज्ञान, अचंचल मांगल्य, अपार करुणा, अतुल अद्वितीय महिमा, विश्वराट् गौरव महिमा। दूसरे में मूर्त है उनके भास्वर वीर्य और अदम्य आवेग की शक्ति, उनका योद्धभाव, उनका सर्वजयी संकल्प, उनकी प्रखर क्षिप्रता और प्रलयंकर प्रताप। तीसरा है कान्तिमय, माधुर्यमय, सौन्दर्यमय,—वहां है मां का सौन्दर्य, सुसंगति और सुचारु छन्द का प्रगाढ़ रहस्य, उनका विचित्र सुकुमार वैभव, उनका दुर्निवार आकर्षण, उनकी मोहिनी मधुरिमा। चौथा विभूषित है मां के अंतरंग ज्ञान, निपुण, निर्दोष कर्म और सब चीजों में प्रशान्त और शुद्ध पूर्णता के सामर्थ्य से। ज्ञान, बल, सामंजस्य,

संसिद्धि उनके विभिन्न गुण हैं; वे इन्हें ही जगत् में अपने साथ लाते हैं, अपनी विभूतियों को मानवीय वेश में व्यक्त करते हैं और जो लोग अपनी पार्थिव प्रकृति को मां के साक्षात् तथा जीवन्त प्रभाव की ओर खोल सकते हैं उनमें उनकी ऊर्ध्वस्थ दिव्य स्थिति के धर्मानुसार उन्हें प्रतिष्ठित करेंगे। इस चतुष्टय को हम ये चार महान् नाम देते हैं,—महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती।

राजराजेश्वरी महेश्वरी आसीन हैं विचारमानस और इच्छाशक्ति से ऊपर की विशालता में और उन्हें वह शोधित तथा उन्नीत करके ज्ञानस्वरूप और बृहत् बनाती या पराज्योति से प्लावित करती हैं। कारण, महेश्वरी ही वह शक्तिमयी ज्ञानमयी हैं जो हमें अतिमानसिक आनन्त्यों और वैश्व बृहत्ताओं की ओर, परमा ज्योति के ऐश्वर्य की ओर, अलौकिक ज्ञान के भण्डार की ओर, मां की चिरन्तन शक्तियों की अपरिमेय गति की ओर खोलती हैं। अचंचला और अद्‌भुत हैं वह महिमामयी चिरप्रशान्ता। उन्हें कोई भी चीज चला नहीं सकती क्योंकि सकल ज्ञान उनमें है; ऐसी कोई चीज नहीं जिसे वह जानना चाहें पर जो उनसे छिपी रहे; सकल वस्तु, सकल सत्ता, उनकी प्रकृति, उन्हें क्या चलाता है, जगत् का विधान, उसके कालविभाग, सब कुछ कैसा था, है और होगा, यह सब उन्हें ज्ञात है। उनमें वह बल है जो सबका सामना करता और सबको वश में करता है और उनकी बृहत् दुराधिगम्य ज्ञानवत्ता और समुन्नत प्रशान्तशक्ति के सामने अंत में कोई भी नहीं ठहर सकता। वह सम हैं, धीर हैं, अटल उनकी इच्छाशक्ति है; मनुष्यों से वह उनकी प्रकृति के अनुसार व्यवहार करती हैं और वस्तुओं तथा घटनाओं से उनकी शक्ति और उनके अन्तरस्थ सत्य के अनुसार। उनमें पक्षपात है ही नहीं, परंतु वह परमेश्वर के आदेशों का अनुसरण करती हैं और किन्हीं को ऊपर उठाती हैं और किन्हीं को नीचे गिरातीं या अपने से अलग हटाकर अंधकार में डाल देती हैं। ज्ञानियों को वह और भी महान्, और भी ज्योतिर्मय ज्ञान देती हैं; दृष्टिवानों को वह अपनी मन्त्रणा में सम्मिलित करती हैं; विरोधियों को वह विरोध के परिणाम भोग कराती हैं; अज्ञ और मूढ़ जनों को वह उनकी अंधता के अनुसार लिये चलती हैं। प्रत्येक मनुष्य में उसकी प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों को वह उनकी आवश्यकता, प्रवृत्ति और वांछित प्रकृति के अनुसार उत्तर देतीं और संचालित करती हैं, उनपर यथावश्यक दबाव डालतीं या उन्हें उनकी प्रिय स्वतंत्रता में छोड़ देती हैं ताकि वे अज्ञान-राहों में फलें-फूलें या विनष्ट हो जायें। कारण, वह सबसे ऊपर हैं, जगत् की किसी भी वस्तु से बद्ध नहीं, आसक्त नहीं। फिर भी, अन्य किसी की भी अपेक्षा उनका हृदय जगन्माता का है। कारण, उनकी

करुणा अनन्त और अपार है; उनकी आंखों में सब कोई, असुर, राक्षस, पिशाच, विद्रोही और विरुद्धाचारी भी उन्हीं की सन्तान और उन एक अद्वितीया के अंश हैं। उनका अस्वीकरण स्थगन ही है और उनसे मिला हुआ दण्ड उनका प्रसाद। किंतु उनकी करुणा के कारण उनके ज्ञान पर पर्दा नहीं पड़ता, उनका कर्म निर्दिष्ट पथ से नहीं हटता; कारण, वस्तुओं का सत्य ही उनका विषय है, ज्ञान उनका शक्तिकेन्द्र है और हमारे अंतरात्मा तथा हमारी प्रकृति को दिव्य सत्य में निर्मित करना उनका व्रत और प्रयास।

महाकाली की प्रकृति और है। बृहत्ता नहीं, उत्तुंगता, ज्ञान नहीं, शक्ति और बल उनके विशिष्ट गुण हैं। उनमें दुर्निवार तीव्रता है, संसिद्धि के लिये शक्ति का विपुल आवेग है, सारी सीमाओं और बाधाओं को चूर्ण करने के लिये धावन करनेवाली दिव्य प्रचण्डता है। उनका सारा दिव्यत्व प्रस्फुटित होता है रुद्रकर्म की प्रभा में; वह हैं क्षिप्रता के लिये, आशुफलदायिनी प्रक्रिया के लिये, द्रुत, ऋजु आघात के लिये, सर्वजयी सम्मुखीन आक्रमण के लिये। असुर के लिये भयंकर उनका मुखमण्डल है, भगवद्विद्वेषियों के लिये निदारुण और निर्मम उनका चित्त है; विश्वलोकों की रणरंगिणी हैं वह, संग्राम से वह कभी भी विमुख नहीं होतीं। अपूर्णता उन्हें सहन नहीं; मनुष्य में जो कुछ भी अनिच्छुक है उसके प्रति उनका व्यवहार रूढ़ है, जो कुछ अज्ञान और अंधकार के लिये हठ करता है उसपर कठोर हैं वह। विश्वासघात, मिथ्याचार और विद्वेष पर उनका कोप अविलम्ब और भीषण होता है, दुष्ट इच्छा पर उनके शूल का प्रहार तुरत होता है। भागवत कर्म में औदासीन्य, अवहेलना और आलस्य उन्हें सह्य नहीं; असमय सोनेवाले और दीर्घसूत्री को, आवश्यकता होने पर, वह तुरत तीक्ष्ण वेदना से प्रहारित करके जगाती हैं। क्षिप्र, ऋजु और अकपट प्रेरणाएं, अकुण्ठ और अव्यभिचारिणी गतिधाराएं, अग्निशिखा की तरह ऊर्ध्वगामिनी अभीप्सा,—ये महाकाली के संचार हैं। अदम्य उनकी अन्तर्वृत्ति है, श्येन पक्षी की उड़ान की तरह उत्तुंग और दूरप्रसारिणी उनकी दृष्टि और इच्छाशक्ति हैं, ऊर्ध्वपथ में द्रुत उनकी गति है, उनकी भुजाएं मारने और तारने के लिये फैली हुई हैं। कारण, वह भी मां ही हैं; उनका स्नेह उतना ही तीव्र है जितना कि उनका कोप और उनमें गभीर तथा आवेग-आप्लुत करुणा है। जब उन्हें अपने बल के साथ हस्तक्षेप करने का अवसर मिलता है तब साधक की गति को रुद्ध करनेवाले विघ्न, उसपर आक्रमण करनेवाले शत्रु असंहत वस्तुओं की तरह एक ही क्षण में चूर्ण हो जाते हैं। विरोधी के लिये उनका कोप भयंकर है और दुर्बल और कायर के लिये उनके दबाव का प्रवेग पीड़ाकर, किंतु

महान्, बलवान् और उदात्त जनों का प्रेम पाती हैं वह, उनसे पूजित हैं वह, कारण, वे यह अनुभव करते हैं कि मां के प्रहार उनके आधार में जो विद्रोही है उसे ठोक-पीट करके समर्थ और निर्दोष सत्य बना देंगे, जो कुटिल और विकृत है उसपर सीधा हथौड़ा चलायेंगे और जो अशुद्ध या सदोष है उसे निकाल बाहर करेंगे। वह न हों तो जो काम एक दिन में किया जाता है उसमें शताब्दियां लग सकती थीं, उनके बिना आनंद विशाल और गभीर या कोमल, मधुर और सुंदर तो हो सकता था किंतु उसे अपनी परम पराकाष्ठाओं का प्रज्वलित उल्लास न मिलता। वह ज्ञान को विजयिनी शक्ति देती हैं, सौन्दर्य एवं सामंजस्य में उच्च ऊर्ध्वगामिनी गति और पूर्णता के मंद और कठिन श्रम में वह आवेग लाती हैं जो शक्ति को बहुगुणित करता है और लम्बे मार्ग को छोटा। परतम आनंद, उच्चतम उच्चता, महत्तम लक्ष्य और विशालतम दृष्टि से न्यून रहनेवाली कोई भी चीज उन्हें तुष्ट नहीं कर सकती। अतएव भगवान् की विजयिनी शक्ति उन्हीं के साथ है और यदि महासिद्धि बाद में न होकर अभी ही हो सके तो ऐसा उन्हीं के तेज, आवेग और क्षिप्रता के प्रसाद से होगा।

ज्ञान और शक्ति ही परमा माता की एकमात्र अभिव्यक्तियां नहीं; उनकी प्रकृति का एक और भी सूक्ष्मतर रहस्य है और उसके बिना ज्ञान और शक्ति अधूरी वस्तुएं होंगी और पूर्णता पूर्ण नहीं होगी। उनसे ऊपर है शाश्वत सौन्दर्य का आद्भुत्य, दिव्य सामंजस्यों का इन्द्रिय-अगम्य रहस्य, दुर्निवार विश्वव्यापक श्री और आकर्षण की मोहिनी शक्ति जो वस्तुओं, शक्तियों और सत्ताओं को खींचती और साथ धरे रखती और परस्पर सम्मिलित और संयुक्त होने को बाध्य करती है ताकि अन्तराल से एक प्रच्छन्न आनंद लीलायित होवे और उन्हें अपने छंद और अपने रूप बनावे। यह महालक्ष्मी की शक्ति है और देहधारी जीवों के चित्त के लिये दिव्य शक्ति का इससे अधिक आकर्षक रूप और कोई नहीं। महेश्वरी इतनी अति स्थिर, महीयसी और दूर लग सकती हैं कि पार्थिव प्रकृति की क्षुद्रता उनतक पहुंचने या उन्हें धारण करने में असमर्थ हो, महाकाली उसकी दुर्बलता की सहनशक्ति के लिये अति क्षिप्र और प्रचण्ड हो सकती हैं, किंतु महालक्ष्मी की ओर तो सब कोई हर्ष और चाह से मुड़ते हैं। कारण, वह भगवान् की उन्मादिका माधुरी का जादू डालती हैं : उनके निकट होना गभीर सुख है और उन्हें हृदय में अनुभव करना जीवन को आह्लादमय और अद्‌भुत बना देना है; श्री, शोभा और स्नेहधारा उनसे वैसे ही प्रवाहित होती हैं जैसे सूर्य से प्रकाश और जहां कहीं वह अपनी अद्‌भुत दृष्टि जमातीं या अपनी मुस्कान का माधुर्य टपकाती हैं, अंतरात्मा पकड़ में आ जाता, बन्दी हो जाता और

अगाध आनंद की गहराइयों में डूब जाता है। उनके हाथों के स्पर्श में चुम्बकत्व है, उनके करकमलों का गुह्य कोमल प्रभाव मन, प्राण और शरीर को मार्जित करता है और जहां उनके चरण पड़ते हैं वहां बह निकलते हैं चित्तोन्मादक आनंद के अलौकिक स्रोत।

तथापि इस मोहिनी शक्ति को प्रसन्न करना या अपने अंदर बसाये रखना सहज नहीं। महालक्ष्मी प्रसन्न होती हैं मन और अंतरात्मा के सामंजस्य और सौन्दर्य से, विचार और अनुभव के सामंजस्य और सौन्दर्य से, प्रत्येक बहिर्मुख कर्म और गतिविधि से, सामंजस्य और सौन्दर्य से, जीवन और चतुःपार्श्व के सामंजस्य और सौन्दर्य से। जहां निगूढ़ विश्वानन्द के छंदों के साथ साम्य है, जहां सर्व-सुंदर की पुकार को उत्तर दिया जाता है, जहां स्वरसंगति है, ऐक्य है, भगवान् की ओर मुड़े हुए अनेकानेक जीवनों का सानन्द प्रवाह है, वैसे वातावरण में ही रहने को वह सम्मत होती हैं। किंतु जो कुछ कुत्सित, नीच और हीन है, जो कुछ दीन, मलिन और अशुचि है, जो कुछ निर्मम और रुक्ष है, वह सब उनके आगमन का प्रतिरोध करता है। जहां प्रेम और सौन्दर्य हैं नहीं या होना नहीं चाहते, वहां वह नहीं आतीं; जहां वे अपकृष्ट वस्तुओं से मिश्रित और विकृत हो जाते हैं, वहां से प्रस्थान करने के लिये वह जल्दी मुड़ जाती हैं या वहां वह अपने वैभव उंडेलने को इच्छुक नहीं होतीं। यदि वह अपने-आपको मनुष्यों के हृदयों में स्वार्थपरता, घृणा, ईर्ष्या, असूया, विद्वेष और कलह से घिरा पाती हैं, यदि देवोद्दिष्ट अर्घ्यपात्र में विश्वासघातकता, लोभ और कृतघ्नता मिली हुई हैं, यदि आवेग की स्थूलता और अमार्जित कामना भक्ति को अवनत करती हैं, तो ऐसे हृदयों में सौम्या, सौन्दर्यमयी देवी नहीं ठहरेंगी। एक दैवी घृणा से उनका चित्त उचाट हो जाता है और वह वहां से हट जाती हैं, कारण, उनकी प्रकृति आग्रह या आयास करने की नहीं; या वह अपना सुखद प्रभाव फिर से प्रतिष्ठित करने के पहले अपने मुखड़े पर अवगुण्ठन डालकर इसकी प्रतीक्षा करती हैं कि यह कटु और विषाक्त आसुरी वस्तु वर्जित और विलुप्त हो जाये। संन्यासी की रिक्तता और रुक्षता उन्हें पसंद नहीं, हृदय के गभीरतर आवेगों का निरोध और अंतरात्मा तथा जीवन के सौन्दर्य-अंशों का कठोर दमन भी नहीं। कारण, वह प्रेम एवं सौन्दर्य द्वारा ही मनुष्यों पर भगवान् का जूआ डालती हैं। उनकी समुच्चतम सृष्टियों में जीवन परिणत हो जाता है स्वर्गिक श्रीसम्पन्न कलाकृति में और निखिल सत्ता परिणत हो जाती है पुनीत आनंद के काव्य में; जगत् की सम्पदा को एक महत्तम व्यवस्था-क्रम के लिये एकत्र और सज्जित किया जाता है, अति साधारण और अति सामान्य वस्तुएं

भी महालक्ष्मी की एकत्वसंबोधि और उनकी अंतःसत्ता के श्वास से अनोखी बन जाती हैं। उन्हें हृदय में स्थान देने से वह ज्ञान को अपूर्व शिखरों पर पहुंचा देती हैं और उसके सामने सारे ज्ञान से अतीत उल्लास के गुप्त रहस्यों को प्रकट करती हैं, भक्ति को भगवान् के तीव्र आकर्षण का उत्तर देती हैं, शक्ति और बल को वह छन्द सिखाती हैं जो उनके कार्यों के वीर्य को समंजस और परिमित रखता है और संसिद्धि पर ऐसी मोहिनी डाल देती हैं जिससे वह चिरस्थायिनी हो जाती है।

महासरस्वती मां की कर्मशक्ति हैं, उनकी पूर्णता एवं व्यवस्था की वृत्ति हैं। वह चारों में सबसे कनिष्ठा हैं, कार्यनिष्पादन की क्षमता में सबसे निपुण हैं और स्थूल प्रकृति के निकटतम हैं। महेश्वरी विश्वशक्तियों की बृहत् धाराएं निर्दिष्ट करती हैं, महाकाली उनकी ऊर्जा और वेग को प्रेरित करती हैं, महालक्ष्मी उनके छंदों और मापों को प्रकट करती हैं, किंतु महासरस्वती उनके संगठन और क्रियान्वयन के ब्यौरों की, अंगों के संबंध, शक्तियों के प्रभावी संयोजन और परिणाम तथा परिपूर्ति के अचूक यथातथ्य की अध्यक्षा हैं। वस्तुओं की विद्या, कार्यपद्धति और प्रयोगरीति महासरस्वती के प्रान्त हैं। सिद्धकर्मी का अंतरंग और यथायथ ज्ञान, उसकी सूक्ष्मदर्शिता और धीरता, उसके संबोधिमय मन, चेतन हाथों और दर्शिनी आंखों की निर्भूलता, इन्हें महासरस्वती अपनी प्रकृति में निरन्तर धारण किये रहती हैं और जिन्हें उन्होंने वरण किया है उनको ये चीजें प्रदान कर सकती हैं। यह शक्ति सारे लोकों की सबल, अक्लांत, सतर्क और निपुण निर्मात्री, विधात्री, शासिका, प्रयोगज्ञानवती, कलावती और श्रेणी-विभागकर्त्री है। जब वह प्रकृति के रूपांतर और नवनिर्माण को हाथ में लेती हैं उनका कार्य श्रमसाध्य होता है, ब्यौरों में बारीकी से जाता है और प्रायः हमारी अधीरता को धीमा और असमाप्य लगता है, किंतु होता है अविराम, सर्वांगीण और दोषलेशशून्य। कारण, उनके कर्मों में रहनेवाली इच्छा सतर्क, अतन्द्र और अक्लान्त है; वह हम पर आनत होकर प्रत्येक छोटे-छोटे ब्यौरे को देखती और स्पर्श करती हैं, प्रत्येक बारीक दोष, छिद्र, कुटिलता या असम्पूर्णता को देखती हैं, जो कुछ किया जा चुका है और बाद के लिये जो करना अभी शेष रह गया है उसपर विचार करती, उसे ठीक-ठीक तौलती हैं। उनकी दृष्टि के लिये कोई भी चीज अति तुच्छ या आपात-नगण्य नहीं; कोई भी चीज कितनी ही स्पर्श-अगम्य, छद्मयुक्त या गुप्त क्यों न हो, वह उनसे नहीं बच सकती। वह हर अंग को गढ़ती और फिर से गढ़ती हुई उसपर तबतक परिश्रम करती हैं जबतक कि वह अपना सच्चा रूप न प्राप्त कर लेवे, समग्र में अपने

ठीक स्थान पर न रख दिया जाये और अपना ठीक-ठीक कार्य पूरा न करे। निरन्तर अध्यवसाय से वस्तुओं का आयोजन और पुनरायोजन करने में उनकी आंखें एक साथ ही सारी आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति के उपाय को देखती हैं, उनकी संबोधि यह जानती है कि किसे वरण करना है और किसका वर्जन, और वह सही यन्त्र, सही समय, सही अवस्थाओं और सही प्रक्रिया को सफलता से निर्धारित करती है। अनवधान, अवहेलन और आलस्य से उन्हें घृणा है; किसी भी तरह जल्दबाजी से या उलट-पुलट कर काम निपटा देना, कोई भी अपटुता, न्यूनाधिकता और लक्ष्यभ्रष्टता, करणों और वृत्तियों का मिथ्या अनुकूलन और अपव्यवहार और चीजों को बिना किये या आधा करके छोड़ देना उनकी प्रकृति के लिये अप्रिय और विजातीय है। जब उनका कार्य शेष हो जाता है तो देखने में आता है कि कोई भी बात भुलायी नहीं गयी है, कोई भी अंश अस्थान में नहीं है, छूट नहीं गया है, दोषयुक्त अवस्था में नहीं छोड़ दिया गया है; सब कुछ ठोस, निर्भूल, सम्पूर्ण और प्रशंसनीय है। पूर्ण पूर्णता से न्यून रहनेवाली कोई भी चीज उन्हें तुष्ट नहीं करती और उनकी सृष्टि की सर्वांगपूर्ति के लिये यदि आवश्यक हो तो वह अनन्त काल तक श्रम करने को प्रस्तुत हैं। अतः मां की सारी शक्तियों में महासरस्वती ही मनुष्य और उसके सहस्रों दोषों को सबसे अधिक सहती रही हैं। सदया, सुस्मिता, समीप और सदा सहाय हैं वह; वह आसानी से विमुख या हताश नहीं होतीं, बार-बार की विफलता के बाद भी उनका आग्रह रहता है; पद-पद पर उनका हाथ हमें संभाले रहता है, किंतु शर्त यह है कि हमारा संकल्प अव्यभिचारी हो, हम ऋजु और एकनिष्ठ हों, कारण, द्विधा मन उन्हें सहन नहीं और उनका उद्‌भासक रूप विद्रूप अभिनय, छलकला, आत्मप्रवंचना और पाखण्ड के लिये निर्मम होता है। हमारे अभावों की पूर्ति के लिये वह मां हैं, हमारी कठिनाइयों में बंधु हैं, धीर और प्रशांत मन्त्री और परामर्शदात्री हैं; वह अपनी भास्वर मुस्कान से विषाद, अवसाद और खिन्नता के बादल छिन्न-भिन्न कर देती हैं, सदा नित्य विद्यमान सहायता की याद दिलाती हैं, चिरप्रकाश सूर्यकिरण की ओर अंगुली-निर्देश करती हैं; वह हमें उच्चतर प्रकृति की सर्वांगपूर्णता की ओर चलानेवाली प्रेरणा में दृढ़, अचंचल और अध्यवसायी हैं। अन्य शक्तियों का सारा कार्य अपनी सम्पूर्णता के लिये महासरस्वती पर अवलम्बित है, क्योंकि वे ही भौतिक आधार को सुनिश्चित करती हैं, अंग-प्रत्यंग को सविस्तार प्रस्फुटित करती हैं और इमारत को खड़ा करती और उसका कवच कस देती हैं।

मां भगवती के और भी कई महान् विग्रह हैं, परंतु उन्हें उतार लाना

अधिक कठिन था और पृथ्वीपुरुष के क्रमविकास में वे उतनी स्पष्टता से सामने खड़े नहीं हुए। उनमें ऐसे भी हैं जो अतिमानसिक सिद्धि के लिये अपरिहार्य हैं,—सबसे अधिक वह जो मां का भागवत प्रेम से प्रवाहित होते दुर्ज्ञेय और दुर्वार उल्लास एवं आनंद का विग्रह है, एकमात्र वह आनंद ही अतिमानसिक पुरुष के उच्चतम शिखरों और जड़तत्त्व के अधस्तम गह्वरों के बीच की खाई का उपचार कर सकता है, उसी आनंद में अनोखे दिव्यतम जीवन की कुंजी है और वही अभी भी विश्व की सारी अन्य शक्तियों के कार्य को अपने गुप्त धामों से सहारा दे रहा है। परंतु मानवीय प्रकृति सीमाबद्ध, अहमात्मिका और तमोग्रस्त है, इन महती सत्ताओं को धारण करने या उनकी विपुल क्रिया का आधार होने में असमर्थ है। वे अन्य विरलतर शक्तियां पार्थिव गतिधारा में केवल तब व्यक्त हो सकती हैं और अतिमानस-क्रिया केवल तब संभव हो सकती है जब कि शक्तिचतुष्टय ने रूपान्तरित मन, प्राण, देह में अपना सामंजस्य और स्वातंत्र्य प्रतिष्ठित कर लिया हो। कारण, जब मां के सारे विग्रह उनमें एकत्र होते हैं, व्यक्त किये जाते हैं और उनकी पृथक् क्रिया को सामंजस्यपूर्ण एकत्व में परिणत किया जाता है और वे मां में अपने अतिमानसिक देवस्वरूपों तक उठ जाते हैं, तभी मां अतिमानसिक महाशक्ति के रूप में व्यक्त होती हैं और अपनी ज्योतिर्मयी लोकातीत धाराओं को उनके अनिर्वचनीय व्योमधाम से बरसाती हुई लाती हैं। और तभी मानवीय प्रकृति सक्रिय देवप्रकृति में परिवर्तित हो सकती है, कारण, तब अतिमानसिक ऋत-चित् और ऋत-शक्ति की सारी मूल धाराएं साथ गुंथ जाती हैं और जीवन-वीणा अनन्त के छन्दों के योग्य हो जाती है।

यदि तुम यह रूपांतर चाहते हो तो अपने-आपको मां और उनकी शक्तियों के हाथों में दे डालो बिना कुण्ठा के, बिना बाधा के, और तुम्हारे अंदर मां का काम निर्विघ्न होवे। तुममें तीन चीजें आवश्यक हैं,—चेतना, नमनीयता, निःशेष समर्पण। कारण, तुम्हें चेतन होना होगा अपने मन, अन्तरात्मा, हृदय और प्राण में, अपने शरीर के कोषों में भी, और तुम्हें मां, उनकी शक्तियों और उन शक्तियों की क्रिया के प्रति सबोध होना होगा, कारण, यद्यपि वह तुम्हारी तामसिकता और तुम्हारे अचेतन अंगों और अचेतन अवस्थाओं में भी कार्य कर सकती हैं और सदा करती भी हैं, तथापि यह एक बात है और तुम्हारा उनसे जाग्रत् एवं जीवंत संयोग में होना एक और बात है। तुम्हारी सारी प्रकृति को उनके स्पर्श के प्रति सुनम्य होना होगा;—वह प्रश्न न करे जैसे कि आत्मनिर्भर और अज्ञ मन प्रश्न, संशय और विवाद करता और अपने प्रबोधन और परिवर्तन

का आप ही शत्रु होता है; वह अपनी ही प्रवृत्तियों के लिये हठ न करे जैसे कि मनुष्य की प्राणसत्ता उनके लिये हठ करती और हर दिव्य प्रभाव के विरोध में अपनी उन्मार्गगामिनी कामनाओं और दुर्भावनाओं को दृढ़ता से खड़ा करती है; वह बाधा न दे, अक्षमता, जड़ता और तमस् में न गड़ी हो, जैसे कि मनुष्य की शरीर-चेतना बाधा देती और अपनी क्षुद्रता और अंधकार के सुख से आसक्त रहती हुई उस प्रत्येक स्पर्श के विरुद्ध चीत्कार करती है जो उसके अंतःशून्य नित्यकर्म या उसके निष्प्राण आलस्य या उसकी घोर तन्द्रा में विघ्न डालता हो। तुम्हारी अन्तःसत्ता और बहिर्सत्ता का निःशेष समर्पण तुम्हारी प्रकृति के सारे अंगों में यह नमनीयता ले आयेगा; ऊपर से प्रवाहित हो आती ज्ञानवत्ता, ज्योति, शक्ति, सामंजस्य, सौन्दर्य, पूर्णता की ओर निरन्तर उन्मीलन से चेतना तुम्हारे अंग-प्रत्यंग में जाग्रत् होगी। शरीर भी जाग जायेगा और अंत में अपनी चेतना को, जो कि तब अवगूढ़ न रह जायेगी, अतिमानसिक अतिचेतन शक्ति से संयुक्त कर देगा, मां की सारी शक्तियों को ऊपर, नीचे और चारों ओर से ओत-प्रोत करते अनुभव करेगा और परम प्रेम एवं परम आनंद से पुलकित होगा।

परंतु सावधान रहो और मां भगवती को अपने क्षुद्र पार्थिव मन से समझने और परखने की चेष्टा मत करो जो कि अपनी पहुंच से परे की वस्तुओं को भी अपने ही नाप और मानकों, अपनी संकीर्ण युक्तियों और प्रमादी धारणाओं, अपने दर्पभरे अथाह अज्ञान और अपने तुच्छ आत्मविश्वस्त ज्ञान के नीचे लाना चाहता है। अपने अर्द्ध-प्रकाशित अंधकार के कारागार में बंद रहनेवाला मन भागवती शक्ति के पदक्षेपों की बहुमुखी स्वतंत्रता का अनुसरण नहीं कर सकता। मां की दृष्टि और क्रिया की क्षिप्रता और जटिलता मन की स्खलनशील धारणा-शक्ति से बाहर छूटी रहती हैं; मां की गति के माप मन के माप नहीं हैं। उनके बहुतेरे रूपों के द्रुत परिवर्तन, उनके छन्द-निर्माण और छन्द-भंग, उनके गतिवेग के वर्द्धन और गतिह्रास, व्यक्ति-व्यक्ति की समस्याओं के साथ उनके नाना रीतियों के व्यवहार, उनका कभी इस धागे को और कभी और किसी को लेना और छोड़ देना और उनका उन सभी को एक साथ ग्रथित करना, इन सबसे विभ्रान्त हुआ मन परमा शक्ति की रीति को नहीं पहचान सकता जब कि वह शक्ति अज्ञान की गहनता को भेद करके चक्कर काटती हुई पराज्योति की ओर तेजी से बढ़ती है। वरन्, मां की ओर अपने अन्तर्हृदय को उन्मीलित करो, उन्हें अपनी चैत्य प्रकृति से अनुभव करने और चैत्य दृष्टि से देखने में तुष्ट रहो, एकमात्र यह प्रकृति और यह दृष्टि ही सत्य को सीधा उत्तर देती हैं।

तब स्वयं मां तुम्हारे मन, हृदय, प्राण और शारीर चेतना को उनके चैत्य तत्त्वों द्वारा प्रबुद्ध करेंगी और उनके सामने अपनी रीति और प्रकृति को व्यक्त करेंगी।

फिर, अज्ञ मन की इस मांग की भूल से भी बचो कि भागवती शक्ति सदा ही सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्तासंबंधी हमारी स्थूल सतही धारणाओं के अनुसार कार्य करे। कारण, हमारा मन पद-पद पर अघटनसाधिका शक्ति, सहज सफलता और चकाचौंध करनेवाले ऐश्वर्य से प्रभावित होने को आकुल रहता है, नहीं तो भगवान् यहां हैं इसका उसे विश्वास ही नहीं होता। मां अज्ञान के क्षेत्र में अज्ञान से बरत रही हैं; वह वहां उतर आयी हैं और सर्वथा ऊपर नहीं हैं। अपने ज्ञान और शक्ति को वह अंशतः अवगुण्ठित रखती हैं और अंशतः व्यक्त करती हैं, प्रायः उनको अपने यंत्रों और विभूतियों से छिपाये रखती हैं और जिज्ञासु मन, अभीप्सु अंतरात्मा, युयुत्सु प्राण और पाशबद्ध व्यथाक्लिष्ट स्थूल प्रकृति की राह चलती हैं जिससे कि वह उन्हें रूपांतरित कर सकें। कुछ ऐसे विधान हैं जो परमा इच्छाशक्ति द्वारा निर्दिष्ट हैं, ऐसी बहुतेरी जटिल ग्रंथियां हैं जिन्हें खोलना होगा और अकस्मात् नहीं काट दिया जा सकता। इस क्रमविकासशीला पार्थिव प्रकृति पर असुर और राक्षस अधिकार जमाये हुए हैं और उन्हीं के दीर्घकाल से अधिकृत राज्य और क्षेत्र में उन्हीं की शर्तों पर उनका सामना करना और उन्हें जीतना होगा। हमारे अंदर की मानवीय सत्ता को उसकी सीमाओं के अतिक्रमण के लिये निर्देशित करना होगा और तैयार करना होगा; वह इतनी अधिक दुर्बल और तमोग्रस्त है कि उसे उससे परे बहुत दूर के रूप की ओर अकस्मात् उन्नीत नहीं किया जा सकता। भागवती चेतना और शक्ति विद्यमान हैं; जो कार्य पथ की अवस्थाओं में आवश्यक है उसे वे प्रति क्षण करती हैं, सदा यथानिर्दिष्ट डग भरती और अपूर्णता के बीच भावी पूर्णता को घड़ती हैं। किंतु तुममें अतिमानस का अवतरण हो जाने पर ही मां का अतिमानसिक प्रकृतियों के साथ अतिमानसिक शक्ति की तरह साक्षात् व्यवहार हो सकता है। यदि तुम अपने मन के पीछे चलते हो तो यदि मां तुम्हारे सामने प्रकट होंगी तो भी उन्हें पहचाना नहीं जायेगा। अपने मन के पीछे नहीं, अपने अंतरात्मा के पीछे चलो; सत्य को उत्तर देनेवाले अपने अंतरात्मा के पीछे चलो, न कि बाह्य रूपों पर उछलनेवाले मन के पीछे। भागवती शक्ति में आस्था रखो, वह तुम्हारे अंतर में देवोचित तत्त्वों को मुक्त करेंगी और सबको भागवती प्रकृति की अभिव्यक्ति के रूप में ढाल देंगी।

अतिमानसिक परिवर्तन नियति-निर्दिष्ट है और पार्थिव चेतना के क्रम-विकास में अनिवार्य; कारण, उसका ऊर्ध्वारोहण समाप्त नहीं हुआ है, मन

उसका सर्वोच्च शिखर नहीं। परंतु वह परिवर्तन आये, रूप ग्रहण करे और स्थायी हो, इसके लिये आवश्यक है नीचे से उसके लिये आवाहन और उस आवाहन के साथ यह संकल्प कि जब ज्योति अवतीर्ण हो तो उसे अस्वीकार नहीं करना, पहचानना है, और आवश्यक है ऊपर से परमेश्वर की अनुमति। इस अनुमति और इस आवाहन के बीच कड़ी का काम करनेवाली शक्ति मां भगवती की सत्ता और शक्ति है। कोई मानवीय प्रयास या तपस्या नहीं, एकमात्र मां की ही शक्ति आच्छादन को छिन्न और आवरण को विदीर्ण कर पात्र को स्वरूप में गढ़ सकती और इस अंधकार, असत्य, मृत्यु, वेदना के जगत् में ला सकती है सत्य एवं ज्योति, दिव्य जीवन एवं अमृतत्व-आनन्द।

द्वितीय भाग

श्रीमाताजी के विषय में पत्र

१

श्रीमाताजी और उनके देहधारण का प्रयोजन

श्रीमाताजी कौन हैं?

आप अपनी पुस्तक "माता" में श्रीमां (हमारी माताजी) का ही जिक्र करते हैं न?

हां।

क्या वह "व्यष्टिभावापन्न" भगवती माता ही नहीं हैं जिन्होंने "सत्ता के इन दो विशालतर स्वरूपों की—परात्पर और विश्वगत की—शक्ति को" मूर्तिमान् किया है?

हां, वही हैं।

वह हमारे प्रति अपने गभीर और महान् प्रेम के वश ही यहां (हमारे बीच) अंधकार और मिथ्यापन, भूल-भ्रांति और मृत्यु के अंदर अवतरित हुई हैं न?

हां।

१७-८-१९३८

*

ऐसे बहुत-से लोग हैं जिनका मत है कि श्रीमां मनुष्य थीं पर अब उन्होंने भगवती माता को अपने अंदर मूर्तिमान् किया है और उनका विश्वास है कि श्रीमां की प्रार्थनाएं[१] इस मत को पुष्ट करती हैं। पर, मेरे मन की धारणा, मेरे अंतरात्मा का अनुभव यह है कि वे स्वयं भगवती माता ही हैं जिन्होंने अंधकार, दुःख-कष्ट और अज्ञान का जामा पहनना इसलिये

[१] श्रीमां द्वारा लिखित 'प्रार्थनाएं और ध्यान' नामक पुस्तक।

स्वीकार किया है कि वे सफलतापूर्वक हम मनुष्यों को ज्ञान, सुख और आनंद की ओर, तथा परम प्रभु की ओर ले जा सकें।

भगवान् स्वयं मार्ग पर चलकर मनुष्यों को राह दिखाने के लिये मनुष्य का रूप धारण करते हैं और बाहरी मानव-प्रकृति को स्वीकार करते हैं। पर इससे उनका 'भगवान्' होना खतम नहीं हो जाता। यह एक अभिव्यक्ति होती है, बढ़ती हुई भागवत चेतना अपने-आपको प्रकट करती है। यह मनुष्य का भगवान् में बदल जाना नहीं है। श्रीमां अपने आंतर स्वरूप में बचपन में भी मानवत्व से ऊपर थीं। इसलिये 'बहुत-से लोगों' का जो उपर्युक्त मत है वह भ्रमात्मक है।

१७-८-१९३८

मेरी यह भी धारणा है कि उनकी 'प्रार्थनाएं' हम अभीप्सु जीवों को यह दिखलाने के लिये लिखी गयी हैं कि भगवान् के सामने किस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये। (क्या यह ठीक है?)

हां।

१७-८-१९३८

श्रीमां का आविर्भाव तथा अतिमानस का अवतरण

क्या श्रीमां के प्राकट्य तथा अतिमानस के अवतरण में कोई अंतर है?

श्रीमां अतिमानस को नीचे लाने के लिये ही आती हैं और अतिमानस का अवतरण होने पर ही उनका यहां पूर्ण रूप से अभिव्यक्त होना संभव होता है।

२३-९-१९३५

*

श्रीमां सीधे ऊपर के अपने लोक से साधक पर कार्य नहीं करतीं, यद्यपि वे यदि ऐसा करना चाहें तो कर सकती हैं—यहांतक कि वे संसार को एक दिन में अतिमानसभावापन्न भी बना सकती हैं; पर उस हालत में यहां बननेवाली अतिमानसिक प्रकृति ठीक वैसी होगी जैसी कि वह ऊपर है, न कि अतिमानसिक पृथ्वी की ओर विकसित होती हुई अज्ञानमयी

पृथ्वी, एक ऐसी अभिव्यक्ति जो देखने में ठीक वैसी ही नहीं होगी जैसा कि अतिमानस है।

यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण सत्य है।

१७-६-१९३५

श्रीमां के मूर्त होने का उद्देश्य

क्या मेरा यह सोचना ठीक है कि माताजी एक व्यक्ति के रूप में समस्त भागवत शक्तियों को मूर्तिमान् करती हैं और अधिकाधिक भागवत कृपा को भौतिक स्तर पर उतार लाती हैं? और उनका मूर्तिमान् होना सम्पूर्ण भौतिक स्तर के लिये परिवर्तित और रूपांतरित होने का एक सुयोग है?

हां, उनका मूर्तिमान् होना पृथ्वी की चेतना के लिये अपने अंदर अतिमानस को ग्रहण करने तथा उसे संभव बनाने के लिये पहले जो रूपांतर जरूरी है उसे प्राप्त करने का एक सुयोग है। पीछे चलकर अतिमानस के द्वारा और भी रूपान्तर साधित होगा, परंतु समूची पार्थिव चेतना अतिमानसभावापन्न नहीं हो जायेगी—सबसे पहले एक नयी जाति उत्पन्न होगी जो अतिमानस को प्रकट करेगी, जैसे कि मनुष्य मन को अभिव्यक्त करता है।

१३-८-१९३३

*

केवल एक ही दिव्य शक्ति है जो विश्व में भी कार्य करती है और व्यक्तियों में भी, और फिर जो व्यक्ति और विश्व के परे भी है। श्रीमां इन सबकी प्रतिनिधि हैं, पर वे यहां शरीर में रहकर कुछ ऐसी चीज उतारने के लिये कार्य कर रही हैं जो अभी तक इस स्थूल जगत् में इस तरह अभिव्यक्त नहीं हुई है कि यहां के जीवन को रूपांतरित कर सके—अतः तुम्हें उनको इस उद्देश्य से यहां कार्य करनेवाली भागवती शक्ति समझना चाहिये। वे अपने शरीर में वही हैं, पर अपनी संपूर्ण चेतना में वे भगवान् के सभी स्वरूपों के साथ अपना तादात्म्य बनाये हुई हैं।

*

माताजी बहुत सारी नहीं हैं, माताजी एक ही हैं पर उनके रूप बहुत-से हैं।

परात्पर रूप श्रीमां का केवल एक रूप है। मैं नहीं जानता कि परात्परा मां के मूर्त स्वरूप का क्या अर्थ है। एक ही मां का मूर्त स्वरूप होता है—उसके द्वारा वे किस चीज को अभिव्यक्त करती हैं यह स्वयं उनपर निर्भर है।

७-७-१९३६

*

अपने विश्व-कार्य में श्रीमां वस्तुओं के नियम के अनुसार क्यों कार्य करती हैं, और अपने मूर्त भौतिक शरीर में वे बराबर कृपा-शक्ति के द्वारा क्यों कार्य करती हैं?

विश्व को और विश्व के विधान को बनाये रखना विश्व-शक्ति का कार्य है। महत्तर रूपांतर आता है विश्वातीत परात्पर से और उसी परात्पर कृपा-शक्ति को कार्य-रूप में लाने के लिये यहां श्रीमां का मूर्त स्वरूप विद्यमान है।

१३-८-१९३३

भौतिक रूप में श्रीमां के पास जाने की उपयोगिता के विषय में आपका क्या विचार है?

भौतिक रूप में श्रीमां के पास जाने की उपयोगिता है—यह सशरीर मन और प्राण का उनकी सशरीर शक्ति के पास जाना है। अपने विश्व-कार्य में श्रीमां वस्तुओं के नियम के अनुसार कार्य करती हैं—उनकी मूर्त भौतिक क्रिया निरंतर कृपा-प्राप्ति का सुयोग प्रदान करती है—वास्तव में यही शरीर ग्रहण करने का उद्देश्य है।

१२-८-१९३३

श्रीमां के विभिन्न रूप

श्रीमां के बहुत-से अलग-अलग व्यक्तित्व हैं और उनमें जो व्यक्तित्व प्रधान होता है उसके अनुसार उनका बाह्य रूप बदल जाता है। अवश्य ही कुछ साधारण चीजें सबमें एक-सी बनी रहती हैं। सबसे पहला वह व्यक्तित्व है जिसे ये सब व्यक्ति-रूप अभिव्यक्त करते हैं पर जिसे नाम या शब्द द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता—फिर अतिमानसिक स्वरूप भी है जो पर्दे के पीछे से वर्तमान

अभिव्यक्ति के लक्ष्य के ऊपर अधिष्ठान कर रहा है।

९-११-१९३३

*

श्रीमां का केवल एक ही रूप नहीं है, बल्कि विभिन्न समयों पर उनके विभिन्न रूप होते हैं।

भौतिक शरीर के पीछे श्रीमां के बहुत-से रूप, शक्तियां और व्यक्तित्व विद्यमान रहते हैं।

१४-५-१९३३

*

दो दिन हुए, मैंने सूक्ष्म दर्शन के रूप में यह देखा कि मेरे हृदय से अभीप्सा की आग उठ रही है और ऊपर की ओर जा रही है तथा उसके साथ श्रीमाताजी की याद निरंतर बनी हुई है। फिर मैंने देखा कि श्रीमाताजी, जिस रूप में हम उन्हें स्थूल शरीर में देखते हैं, आग में उतर रही हैं और मेरे सभी अंगों को शान्ति और शक्ति से भर रही हैं। यह दर्शन क्या सूचित करता है? मैंने श्रीमां को उनके दिव्य रूप में न देख ठीक वैसा ही क्यों देखा जैसा कि हम उन्हें स्थूल शरीर में देखते हैं?

यह सूचित करता है अभीप्सा को और केवल आंतर सत्ता में ही नहीं वरन् बाहरी प्रकृति में भी सिद्धि ले आनेवाली क्रिया को। जब यह आंतरिक क्रिया अथवा दूसरे स्तर की क्रिया होती है तब मनुष्य श्रीमां को उनके किसी एक रूप में देख सकता है, पर भौतिक स्तर पर सिद्धि प्राप्त करने के लिये उनका उपयुक्त रूप वही है जिसे उन्होंने यहां धारण कर रखा है।

१५-७-१९३३

*

श्रीमाताजी विभिन्न समयों पर, जैसे प्रणाम या 'प्रॉस्पेरिटी' या मुलाकात के समय, अलग-अलग रूपों में क्यों दिखायी देती हैं? यहांतक कि कभी-कभी तो उनके स्थूल अंगों में भी अंतर दिखायी देता है। उनके आकार में इस प्रकार का अंतर दिखायी देने का कारण क्या है? क्या यह इस बात पर निर्भर करता है कि किस हद तक वे बाहर की ओर मुड़ती हैं?

मेरी समझ में यह बात निर्भर करती है उस व्यक्ति-स्वरूप पर जो सामने की ओर अभिव्यक्त होता है—क्योंकि उनके बहुत-से व्यक्ति-स्वरूप हैं और उनका शरीर सामने आनेवाले प्रत्येक स्वरूप का कुछ-न-कुछ अंश अभिव्यक्त करने के लिये काफी नमनीय है।

४-१२-१९३३

*

प्रायः ही जब मैं श्रीमाताजी को देखता हूं तब मैं अनुभव करता हूं मानों वे दिव्य आनंद की प्रतिमा हों और उनका रूप एक छोटी लड़की के जैसा दिखायी देता है। क्या मेरे अनुभव में कोई सत्य है?

आनन्द ही एकमात्र चीज नहीं है—ज्ञान, शक्ति, प्रेम तथा भगवान् की बहुत-सी दूसरी शक्तियां भी हैं। सिर्फ एक विशेष अनुभव के रूप में यह ठीक हो सकता है।

३०-४-१९३३

*

हां, बहुत-से लोग ऐसा देखते हैं, मानों श्रीमाताजी अपने साधारण भौतिक आकार से अधिक लम्बी हों।

२९-९-१९३३

श्रीमां के अवतरित होने का पूर्वज्ञान

जब रामकृष्ण साधना कर रहे थे, श्रीमां अपने बचपन के शुरू के आठ साल, १८७८ से १८८६ तक, भौतिक रूप में पृथ्वी पर थीं। क्या उन्हें ज्ञात था कि माताजी अवतरित हो गयी हैं? कम-से-कम उन्हें मां के अवतरित होने का कुछ अंतर्दर्शन अवश्य हुआ होगा, पर इस विषय में हमें निश्चित रूप से कहीं कुछ लिखा नहीं मिलता। और जब रामकृष्ण मां को अति तीव्र रूप में बुला रहे होंगे तब मां को भी उस उम्र में कुछ अनुभूति अवश्य हुई होगी।

श्रीमाताजी ने अपने बचपन के सूक्ष्म दर्शन में मुझे देखा था और 'कृष्ण'

समझा था—उन्होंने रामकृष्ण को नहीं देखा।

यह आवश्यक नहीं था कि उनको (रामकृष्ण को) माताजी के अवतरित होने का दर्शन प्राप्त हो, क्योंकि वे भविष्य की बात नहीं सोच रहे थे और न ज्ञानपूर्वक उसके लिये तैयारी कर रहे थे। मैं नहीं समझता कि उन्हें श्रीमाताजी के किसी अवतरण का कोई ख्याल था।

११-७-१९३५

*

'क्ष' की प्रकृति बहुत कुछ अत्यधिक वेदान्ती की-सी है। जिस चीज में हमारा विश्वास है उसमें और अवतरण आदि में उसका विश्वास नहीं। तथापि उसे स्वयं कुछ ऐसे अनुभव हुए जिनमें माताजी ने प्रत्यक्ष, मुक्त भौतिक रूप में हस्तक्षेप किया और उसे वह चीज नहीं करने दी जो वह करना चाहता था।

७-७-१९३६

माताजी में भगवान् को देखना

आज प्रातःकाल मैंने माताजी में महान् सौन्दर्य का अवलोकन किया। यह तो ऐसा था मानों उनका सारा शरीर अलौकिक प्रकाश से देदीप्यमान हो रहा हो। वास्तव में मुझे यों अनुभव हुआ मानों परात्परा देवी ऊपर के द्युलोकों से नीचे उतर आयी हों। इसकी व्याख्या करने की कृपा कीजिये।

यह महज इतना था कि तुमने उनके संग रहनेवाली दिव्यता का अनुभव किया जो वहां सदैव रहती है।

२०-७-१९३३

*

जहांतक पहली दृष्टि में ही माताजी में भगवान् को देखने की बात है, ऐसा देखनेवाला अकेला वही नहीं है। कितने ही लोग ऐसा देख चुके हैं... उदाहरणार्थ, 'क्ष' की चचेरी बहन, एक मुसलमान कन्या, ज्यों ही श्रीमां से मिली त्यों ही बोल उठी, "ये स्त्री नहीं, देवी हैं," और तब से उसे सदैव मां के विषय में महत्त्वपूर्ण स्वप्न आते रहे हैं, और जब कभी उसे कोई कष्ट होता है वह उनका

चिन्तन करती है और उनकी सहायता से कष्ट से मुक्त हो जाती है। माताजी में भगवान् को देखना उतना कठिन नहीं जितना तुम इसे समझ रहे हो।

२३-७-१९३५

*

मुझे मालूम नहीं उस मुस्लिम महिला ने ठीक-ठीक क्या देखा था। जो आपने कहा है उससे लगता है कि वह अन्तर्ज्ञान की झलकी थी।

बिलकुल नहीं, वह उनमें स्थित देवत्व का प्रत्यक्ष संवेदन था—क्योंकि मैं समझता हूं अंतर्ज्ञान से तुम्हारा मतलब एक इस प्रकार के विचार से है जो एकाएक आ जाता है? साधारणतया लोग अन्तर्ज्ञान से यही कुछ समझते हैं। उस महिला के और 'क्ष' के दृष्टान्त में यह चीज नहीं थी।

२९-७-१९३५

परंतु क्या पूर्णतया देदीप्यमान ज्योतिर्मयी भगवती माता के दर्शन करना अतीव कठिन नहीं है?

मैं नहीं समझता कि 'क्ष' को या किसी और को पहली ही दृष्टि में श्रीमाताजी के पूर्ण दिव्यत्व के दर्शन हुए होंगे। वह दर्शन केवल तभी हो सकता है जब कि किसी ने पहले से ही गुह्य लोकों का सूक्ष्म दर्शन प्राप्त करने की शक्ति विकसित कर रखी हो। अधिक महत्त्व की बात यह है कि इस बात का स्पष्ट दर्शन या घनिष्ठ आंतरिक अनुभव या प्रत्यक्ष बोध हो कि "यही वे हैं।" मैं समझता हूं कि इन मामलों में तुम्हारा झुकाव बहुत अधिक काल्पनिक और काव्यमय होने की ओर है और आध्यात्मिक रूप से यथार्थवादी होने की ओर बहुत कम।

बहुत-से लोगों में, जब वे साधना आरंभ करते हैं तब, गुह्य दर्शन की इस प्रकार की शक्ति सबसे पहले विकसित होती है और दूसरों में यह शक्ति स्वभावतः ही उपस्थित रहती है अथवा योग की किसी साधना के बिना ही कभी-कभी आती है। परंतु जो लोग मुख्यतः बुद्धि में निवास करते हैं उनमें (कुछ लोगों को छोड़कर) यह शक्ति साधारणतया स्वभावतः ही उपस्थित नहीं होती और उनमें से बहुतों को उसे विकसित करने में बड़ी कठिनाई होती है। इस विषय में मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ था।

इस दर्शनशक्ति के बिना चीजों को देखना एक प्रकार का जादू ही होगा। हम लोग यहां इस प्रकार के जादू का बहुत अधिक कारबार नहीं करते।

२९-७-१९३५

श्रीमां के दिव्यत्व की पहचान

कुछ लोग एकदम आरंभ कर देते हैं और दूसरों को समय लगता है।

'क्ष' ने पहली दृष्टि में ही श्रीमाताजी को भगवती के रूप में पहचान लिया था और उसके बाद से बराबर ही वह प्रसन्न रहा है; दूसरे लोगों को, जो श्रीमाताजी के भक्तों में ही शामिल हैं, इस बात का पता लगाने या इसे स्वीकार करने में वर्षों लग गये, पर वे सब उस स्थिति को प्राप्त हुए। कुछ लोग ऐसे भी हैं जिन्हें अपनी साधना के पहले पांच, छः, सात या अधिक वर्षों तक कठिनाइयों और विद्रोहों के सिवा और कुछ नहीं मिला, फिर भी अंत में चैत्य पुरुष जग गया। समय लगने की बात गौण है; एकमात्र आवश्यक बात है वहां पहुंच जाना—फिर चाहे जल्दी हो या देर में, आसानी से हो या कठिनाई के साथ।

*

बहुत बार मैं देखता हूं कि पुराने संस्कार उठ खड़े होते हैं और श्रीमां तथा उनकी दिव्यता में मेरी श्रद्धा को विचलित कर देते हैं। इस स्थिति को कैसे रोका जा सकता है?

विश्वास स्थिर रूप से तभी जम सकता है, यदि तुम माताजी की दिव्यता के दर्शन कर लो—यह आंतरिक चेतना और दिव्यदर्शन का प्रश्न है।

५-६-१९३७

*

मन को यह विश्वास कैसे दिलाया जाये कि श्रीमां दिव्य हैं और उनकी क्रियाएं मानवी नहीं?

यह इस प्रकार किया जा सकता है कि चैत्य को खोल दिया जाये और उसे मन तथा प्राण पर शासन करने दिया जाये—क्योंकि चैत्य को (श्रीमां की दिव्यता

का) ज्ञान है और वह उस चीज को भी देख सकता है जिसे मन नहीं देख सकता।

*

ऐसा मालूम होता है कि मेरी सत्ता का जो बाहरी भाग माताजी को स्वीकार नहीं करता था वह अब उनके दिव्यत्व को पहचानने लगा है। पर जब मैं शरीर से उनके सामने जाता हूं तब मैं इसे क्यों भूल जाता हूं?

अपनी अत्यंत बाहरी क्रिया में भौतिक मन स्थूल वस्तुओं को केवल स्थूल रूप में ही देखता है।

१५-८-१९३७

*

तुम्हारे अंदर का यह संघर्ष (श्रीकृष्ण की भक्ति और माताजी के दिव्यत्व के बोध के बीच का संघर्ष) एकदम अनावश्यक है; क्योंकि ये दोनों चीजें एक हैं और पूर्ण रूप में एक साथ चल सकती हैं। श्रीकृष्ण ही तुम्हें माताजी के पास ले आये हैं और माताजी की पूजा करके ही तुम उनको (श्रीकृष्ण को) पा सकते हो। वह स्वयं इस आश्रम में हैं और यहां जो काम हो रहा है वह उन्हीं का है।

१९३३

*

'क्ष' जैसे अच्छे भक्त और तेज विद्यार्थी को भी श्रीमाताजी को स्वीकार करना कठिन मालूम हो रहा है। मैं नहीं समझ पाता कि श्रीमां-संबंधी सरल सत्य को वह क्यों नहीं देख सकता?

अगर श्रीमाताजी को स्वीकार करना उसके लिये कठिन है तो वह भला अच्छा भक्त कैसे हुआ और भक्त है तो किसका? तेज छात्र होना दूसरी बात है; हो सकता है कि कोई मेधावी छात्र तो हो पर आध्यात्मिक विषयों में एकदम अयोग्य हो। अगर कोई विष्णु या किसी अन्य देवता का भक्त हो तो वह अलग बात है—वह केवल अपनी पूजा के विषय को ही देख सकता है और इसलिये

किसी अन्य वस्तु को स्वीकार करने में समर्थ नहीं होता।

१४-११-१९३४

*

कुछ लोग उच्चतर लोकों के क्रम में श्रीमाताजी की स्थिति को समझने में एकदम पथभ्रष्ट-से प्रतीत होते हैं। जब वे इन लोकों में होते हैं या उनसे कोई चीज ग्रहण करते हैं तब वे ऐसा समझना आरंभ कर देते हैं कि वे एक बड़ी ऊंचाई पर पहुंच गये हैं, और उच्चतर लोकों का माताजी के साथ कोई भी संबंध नहीं है। विशेषकर अतिमानस के विषय में उनकी ऐसी विचित्र धारणाएं हैं मानों वह श्रीमाताजी से कहीं बड़ी कोई चीज हो।

अगर उन्हें श्रीमाताजी से बड़ी अनुभूति या चेतना प्राप्त है तो उन्हें यहां नहीं रहना चाहिये और बाहर जाकर उसके द्वारा जगत् की रक्षा करनी चाहिये।

*

क्या यह मनोभाव कि मैं ब्रह्म हूं, पूर्णयोग में आवश्यक नहीं?

संपूर्ण प्रकृति का रूपांतर करने के लिये यह पर्याप्त नहीं। यदि पर्याप्त होता तो माताजी के यहां होने की आवश्यकता ही न होती। तब तो अपने विषय में यह सोचने भर से कि मैं ब्रह्म हूं रूपांतर साधित हो सकता। माताजी की उपस्थिति या उनकी शक्ति की कोई आवश्यकता न होती।

२७-१२-१९३५

माताजी का सत्य का प्रस्ताव

माताजी तुम्हारे लिये यह निश्चय नहीं कर सकतीं कि तुम्हें निर्विकल्प समाधि के मार्ग का अनुसरण करना चाहिये या इस योग को स्वीकार करना चाहिये; वह तो केवल सत्य का प्रस्ताव तुम्हारे सामने रख सकती हैं और अगर तुम उसे स्वीकार करो तो वह उसकी ओर तुम्हें ले जा सकती हैं।

८-९-१९३३

माताजी और ज्ञानयोग

भला माताजी ज्ञानयोग को नापसन्द क्यों करें? आत्मा का और विश्वपुरुष का साक्षात्कार (जिसके बिना आत्मा का साक्षात्कार अधूरा रह जाता है) हमारे योग का आवश्यक अंग है; यह अन्य योगों का अंत है, पर यह वास्तव में हमारे योग का आरम्भ है, अर्थात् यह वह स्थान है जहां से इसकी विशिष्ट अनुभूति आरम्भ हो सकती है।

२६-३-१९३६

*

निश्चय ही, समाधि इस योग में वर्जित नहीं। यह तथ्य कि माताजी सदैव इसमें जाया करती थीं इस बात का पर्याप्त प्रमाण है।

१०-६-१९३६

२

श्रीमाताजी के रूप और शक्तियां

"माता" पुस्तक में प्रयुक्त कुछ शब्दों की व्याख्या

१. मिथ्यात्व और अज्ञान

अज्ञान का अर्थ है अविद्या, पृथगात्मिका चेतना और उससे प्रवाहित होनेवाला अहंकारपूर्ण मन और प्राण तथा वह सब कुछ जो पृथगात्मिका चेतना और अहंकारपूर्ण मन तथा प्राण के लिये स्वाभाविक है। यह अज्ञान उस क्रिया का परिणाम है जिसके द्वारा विश्वव्यापी बुद्धि-शक्ति ने अपने-आपको अतिमानस (भागवत विज्ञान) की ज्योति से पृथक् कर लिया और सत्य को—सत्ता के सत्य को, भागवत चेतना के सत्य को, शक्ति और क्रिया के सत्य को, आनन्द के सत्य को—खो दिया। उसका फल यह हुआ है कि भागवत विज्ञान की ज्योति में सृष्ट पूर्ण सत्य और दिव्य सामंजस्य के जगत् के स्थान पर हमने पाया है एक ऐसा जगत् जो एक निम्न कोटि की विश्वव्यापी बुद्धि-शक्ति के आंशिक सत्यों पर प्रतिष्ठित है—उस बुद्धि-शक्ति के जिसमें सब कुछ अर्ध-सत्य, अर्ध-मिथ्या होता है। यही वह चीज है जिसे शंकर-जैसे कुछ प्राचीन दार्शनिकों ने, उसके पीछे विद्यमान महत्तर सत्यशक्ति (ऋत-चित्) को बिना देखे, 'माया' कह दिया और भगवान् की उच्चतम सर्जनात्मिका शक्ति मान लिया। इस सृष्टि की चेतना के अंदर सब कुछ या तो सीमित होता है अथवा पूर्ण ज्योति से पृथक् होने के कारण विकृत होता है; यहांतक कि जिस सत्य को वह चेतना देखती है वह केवल अर्ध-ज्ञान होता है। इसीलिये उसे कहा जाता है अज्ञान।

दूसरी ओर, मिथ्यात्व ठीक यह अविद्या ही नहीं, बल्कि उसका एक चरम परिणाम है। इसकी सृष्टि होती है एक आसुरिक शक्ति के द्वारा जो इस सृष्टि में हस्तक्षेप करती है और जो केवल सत्य से पृथक् ही नहीं हुई है और इस कारण ज्ञान में सीमित और भ्रांति की ओर उद्घाटित ही नहीं, बल्कि सत्य के विरुद्ध विद्रोह किये हुई है अथवा सत्य को केवल विकृत करने के लिये ही उसे पकड़ने की आदी है। यह शक्ति, यह काली आसुरिक शक्ति या राजसी माया अपनी निजी विकृत चेतना को सच्चे ज्ञान के रूप में और अपनी जान-

बूझकर की हुई सत्य की विकृतियों या उससे एकदम उलटी चीजों को वस्तुओं के सत्य के रूप में सामने रखती है। इसी विकृत और विकृतिकारिणी चेतना की शक्तियों और व्यक्तिरूपों को हम विरोधी सत्ताएं, विरोधी शक्तियां कहते हैं। जब कभी ये शक्तियां अज्ञान के सत्त्व के द्वारा विकृतियों की सृष्टि करती और उन्हें वस्तुओं के सत्य के रूप में सामने रखती हैं तब उन्हीं को हम, यौगिक अर्थ में, 'मिथ्या', 'मोह' कहते हैं।

२. शक्तियां और आकृतियां

ये सब वे शक्तियां और सत्ताएं हैं जो अज्ञान के जगत् में अपने ही द्वारा उत्पन्न की हुई मिथ्या चीजों को बनाये रखने में तथा उन्हें सत्य के रूप में, जिसका अनुसरण मनुष्यों को करना ही होगा, सामने रखने में दिलचस्पी रखती हैं। भारत में उन्हें कहा जाता है असुर, राक्षस, पिशाच (क्रमशः मनोमय प्राणलोक, मध्य-प्राणलोक और निम्न प्राणलोक की सत्ताएं) जो ज्योति की शक्तियों, देवताओं के विरोधी होते हैं। ये हैं शक्तियां ही, क्योंकि इनका भी विश्व के अंदर अपना क्षेत्र होता है जिसके अंदर ये अपनी क्रिया और अधिकार का प्रयोग करती हैं और इनमें से कुछ एक समय दिव्य शक्तियां थीं *'पूर्वे देवाः'*, (जैसे कि महाभारत में कहीं पर इन्हें नाम दिया गया है।) जो विश्वब्रह्माण्ड के पीछे विद्यमान भागवत संकल्प-शक्ति के विरुद्ध विद्रोह करने के कारण अंधकार में गिर गयी हैं। 'आकृतियां' शब्द उन रूपों को सूचित करता है जिन्हें ये जगत् पर शासन करने के लिये ग्रहण करती हैं और जो अधिकांश में झूठे होते हैं और बराबर ही मिथ्यात्व को प्रकट करनेवाले तथा कभी-कभी झूठा दिव्यत्व लिये हुए होते हैं।

३. शक्तियां और व्यक्तित्व

'शक्ति' (Power) शब्द के व्यवहार की बात समझायी जा चुकी है—जो कोई चीज या जो कोई व्यक्ति विश्व-क्षेत्र में सचेतन रूप से शक्ति का प्रयोग करे और जिसे संसार की गति के ऊपर या उसकी किसी विशिष्ट क्रिया के ऊपर अधिकार हो, उसके लिये इस शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। परंतु जिन चार[१] की बात तुम कहते हो वे भी शक्तियां हैं, परम दिव्य चेतना और शक्ति की, भगवती माता की विभिन्न शक्तियों की अभिव्यक्तियां हैं, जिनके द्वारा

[१] महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती।

वह विश्व पर शासन करती और यहां कार्य करती हैं। और फिर साथ ही वे दिव्य व्यक्ति-स्वरूप भी हैं, क्योंकि उनमें से प्रत्येक एक सत्ता है—जो परम देव के विभिन्न गुणों को तथा व्यक्तिगत चैतन्य-रूपों को अभिव्यक्त करती है। इस तरह सभी बड़े-बड़े देवतागण भगवान् के व्यक्तिस्वरूप हैं—एक ही चेतना बहुत-से व्यक्तिरूपों में लीला करती है, *'एकं सत् बहुधा'*। मनुष्यों के भीतर भी बहुत-से व्यक्ति-रूप होते हैं, केवल एक ही रूप नहीं होता, जैसा कि पहले लोग कल्पना किया करते थे। क्योंकि सभी चेतनाएं एक साथ ही 'एक' और 'बहु' दोनों हो सकती हैं। "शक्तियां और व्यक्ति-स्वरूप" एक ही सत्ता के विभिन्न रूपों को सूचित करते हैं। यह जरूरी नहीं है कि शक्ति निर्वैयक्तिक ही हो और निश्चय ही वह तुम्हारे संकेत के अनुसार *'अव्यक्तम्'* तो हर्गिज नहीं होती—उसके विपरीत, यह एक व्यक्त रूप है जो भागवत अभिव्यक्ति के जगतों में कार्य करता है।

अंश-विभूतियां

तुम्हारे पत्र में वर्णित 'मातृकाएं' अंश-विभूतियों (Emanations) के साथ मिलती-जुलती हैं। श्रीमां की अंशविभूति उनकी चेतना और शक्ति का कुछ अंश है जिसे वे अपने भीतर से प्रकट करती हैं और जो, जबतक कि वह लीला के अंदर है, उनके साथ घनिष्ठ रूप में जुड़ा होता है और जब उसकी लीला की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती तब अपने मूल उद्‌गम के अंदर वापस खींच लिया जाता है, पर जो हमेशा प्रकट किया जा सकता है और लीला में लाया जा सकता है। परंतु संपर्क को बनाये रखनेवाला धागा काटा या खोला भी जा सकता है और जो चीज एक अंशविभूति के रूप में प्रकट हुई थी वह एक स्वतंत्र दिव्य सत्ता के रूप में अपने ढंग से काम कर सकती है और जगत् में अपनी निजी लीला चरितार्थ कर सकती है। सभी देवता इस तरह की अंशविभूतियां अपनी सत्ता में से उत्पन्न कर सकते हैं जो तत्त्वत: चेतना और शक्ति में उनसे मिलती-जुलती हैं यद्यपि एकदम एकसमान नहीं होतीं। एक विशेष अर्थ में स्वयं विश्व को भी परात्पर भगवान् से पैदा हुई एक अंशविभूति कह सकते हैं। साधक की चेतना में श्रीमां की अंशविभूति साधारणतया वही रूप, आकार और स्वभाव ग्रहण करती है जिससे वह परिचित होता है।

एक अर्थ में श्रीमां की चारों शक्तियां, अपने मूलस्रोत के कारण, उनकी अंशविभूतियां कही जा सकती हैं, ठीक जैसे कि देवताओं को 'भगवान्' की अंशविभूतियां कह सकते हैं। परंतु उनका स्वभाव एवं स्वरूप देवताओं की

अपेक्षा अधिक स्थायी और सुनिश्चित होता है। वे स्वतंत्र सत्ताएं हैं जिन्हें आद्या-शक्ति ने अपनी-अपनी लीला करने की छूट दे रखी है और साथ ही, माताजी के—महाशक्ति के— अंश भी हैं। श्रीमां चाहें तो बराबर ही उनके द्वारा पृथक्-पृथक् सत्ताओं के रूप में प्रकट हो सकती हैं अथवा उन्हें अपने ही विभिन्न व्यक्तित्वों के रूप में एक साथ खींच सकती हैं और अपने अंदर धारण कर सकती हैं। वे चाहें तो उन्हें पीछे हटाये रखें और चाहें तो लीला करने दें। यह उनकी इच्छा है। अतिमानस स्तर पर वे श्रीमां के अंदर ही रहती हैं और स्वतंत्र रूप में कार्य नहीं करतीं बल्कि अतिमानसिक महाशक्ति के घनिष्ठ अंशों के रूप में कार्य करती हैं और एक दूसरे के साथ घना एकत्व और सामंजस्य बनाये रखती हैं।

५. देवता

ये चार शक्तियां श्रीमां की वैश्व दिव्य-शक्तियां हैं जो जगत्-लीला में स्थायी रूप से रहती हैं; इनकी गणना उन महत्तर विश्व-देवताओं के अंदर होती है जिनको लक्ष्य करके ही यह कहा गया है कि इस त्रिविध जगत् की महाशक्ति के रूप में माताजी वहां (अधिमानस-लोक में) "देवताओं से ऊपर अधिष्ठान करती हैं।" देवतागण, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मूलतः और तत्त्वतः भगवान् की स्थायी अंशविभूतियां हैं जिन्हें परात्परा माता ने, आद्याशक्ति ने परात्पर भगवान् के अंदर से उत्पन्न किया है; अपनी विश्व क्रियाओं में वे भगवान् की शक्तियां और व्यक्तिस्वरूप हैं और उनमें से प्रत्येक का विश्व के अंदर अपना स्वतंत्र स्थान, स्वभाव और कर्म है। वे निर्वैयक्तिक—निराकार सत्ताएं नहीं हैं बल्कि वैश्व व्यक्ति हैं, यद्यपि साधारणतया वे निर्वैयक्तिक शक्तियों की क्रिया के पीछे अपने को छिपा सकते हैं और छिपाते भी हैं। परंतु एक ओर जहां अधिमानस लोक में और इस त्रिविध जगत् में वे स्वतंत्र सत्ताओं के रूप में दिखायी देते हैं वहां दूसरी ओर वे अतिमानस-लोक में 'एकमेवाद्वितीयम्' के अंदर वापस चले जाते हैं और वहां वे केवल एक सुसमंजस कार्य के अंदर युक्त होकर एक ही 'व्यक्ति' के, दिव्य पुरुषोत्तम के बहुविध व्यक्ति-स्वरूपों के रूप में विद्यमान रहते हैं।

६. उपस्थिति (presence)

उपस्थिति (presence) शब्द से यह सूचित करना अभीष्ट है कि भगवान् का एक 'पुरुष' के रूप में संवेदन एवं प्रत्यक्ष अनुभव होता है, यह अनुभव

होता है कि वह 'पुरुष' व्यक्ति की सत्ता एवं चेतना में उपस्थित है या उसके साथ उसका संबंध है और उसकी कोई और विशेषता बतलाने या उसका वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार, "अनिर्वचनीय उपस्थिति" के विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि यह वहां है और इससे अधिक न कुछ कहा जा सकता है, न कहने की आवश्यकता है, यद्यपि इसके साथ ही व्यक्ति जानता होता है कि सब कुछ वहां है, व्यक्तित्व और निर्वैयक्तिकता, शक्ति और ज्योति और आनंद तथा और सब कुछ भी, और कि ये सभी उसी अवर्णनीय उपस्थिति से प्रवाहित होते हैं। यह शब्द कभी-कभी कम निरपेक्ष अर्थ में प्रयुक्त हो सकता है, पर मूल तात्पर्य सदा यही होता है,—अन्य प्रत्येक वस्तु को आश्रय देनेवाली सारभूत उपस्थिति का वास्तविक प्रत्यक्ष।

परात्परा मां

यही हैं जिन्हें आद्या शक्ति का नाम दिया गया है; ये विश्वातीत परम चेतना और शक्ति हैं और इन्हीं से सब देवता उत्पन्न हुए हैं, यहांतक कि अतिमानसिक ईश्वर भी—वह विज्ञानमय पुरुषोत्तम भी जिनकी शक्तियां और व्यक्ति-रूप देवता-गण हैं—इन्हीं के द्वारा अभिव्यक्ति में आते हैं।

आद्या शक्ति

आद्या शक्ति मूल शक्ति है और इसलिये श्रीमां का सबसे ऊंचा रूप है। वे देखनेवाले के स्तर के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होती हैं।

२२-७-१९३३

भगवती माता

भगवती माता भगवान् की चित्-शक्ति हैं—जो समस्त वस्तुओं की जननी हैं।

श्रीमां और ईश्वर

श्रीमां भगवान् की चेतना और शक्ति हैं—अथवा, यह कहा जा सकता है कि वे चिच्छक्ति-रूप में स्वयं भगवान् ही हैं। विश्व के स्वामी के रूप में ईश्वर

श्रीमां के अंदर से प्रकट होते हैं और श्रीमां उनकी बगल में विश्व-शक्ति के रूप में अपना स्थान ग्रहण करती हैं—विराट् ईश्वर भगवान् का एक रूप हैं।

गीता, तन्त्र और पूर्णयोग में भगवती माता

गीता स्पष्ट रूप में भगवती माता की बात नहीं कहती; वह बराबर ही पुरुषोत्तम को आत्मसमर्पण करने के लिये कहती है—वह भगवती माता का जिक्र केवल परा प्रकृति के रूप में करती है जो जीव बनती है—'जीवभूता', अर्थात् जो भगवान् को 'बहु' के अंदर अभिव्यक्त करती है और जिसकी सहायता से परात्पर प्रभु ने इन सब जगतों की सृष्टि की है तथा वे स्वयं अवतार के रूप में उतरते हैं। गीता वैदान्तिक परम्परा का अनुसरण करती है जो पूरी तरह से भगवान् के ईश्वर-स्वरूप पर जोर देती है और भगवती माता की बात बहुत कम करती है, क्योंकि उसका उद्देश्य है जगत्-प्रकृति से पीछे हट जाना और उसके परे जाकर चरम उपलब्धि प्राप्त करना; तान्त्रिक परम्परा शक्ति या ईश्वरी रूप पर अधिक जोर देती है और सबको भगवती माता पर ही निर्भर रहने को बाध्य करती है, क्योंकि उसका उद्देश्य है विश्व-प्रकृति को वश में करना और उस पर शासन करना तथा उसी के द्वारा उपलब्धि प्राप्त करना। यह योग इन दोनों पर जोर देता है; भगवती माता के प्रति आत्मसमर्पण करना आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना इस योग का उद्देश्य ही सिद्ध नहीं हो सकता।

पुरुषोत्तम के सम्पर्क में भगवती माता जगतों से ऊपर की परात्परा दिव्य चेतना और शक्ति, आद्या शक्ति हैं; वह परात्पर को अपने अंदर धारण करती हैं और अक्षर और क्षर के द्वारा भगवान् को विभिन्न जगतों में अभिव्यक्त करती हैं। अक्षर के सम्पर्क में वे वही परा शक्ति हैं जो समस्त सृष्टि के पीछे अपने अंदर पुरुष को निष्क्रिय-निश्चल रूप में धारण करती हैं और स्वयं भी उसके अंदर स्थिर-निश्चल रहती हैं। क्षर के संपर्क में वे सचल विश्व-शक्ति हैं जो सभी सत्ताओं और शक्तियों को प्रकट करती हैं।

*

श्रीमां के विषय में यह अनुभूति कि वे ही परात्पर तत्त्व हैं, एक तांत्रिक अनुभूति है—यह सत्य का एक पक्ष है।

*

तान्त्रिक अपनी साधना में शक्ति का आवाहन किया करते थे। क्या वह वही शक्ति और चेतना थी जो यहां माताजी में है?

यह इस पर निर्भर करता है कि वे किस शक्ति का आवाहन करते थे— सामान्यतया वे श्रीमाताजी के किसी रूप को ही पुकारा करते थे।

जगज्जननी

ईश्वरी शक्ति, दिव्य चिच्छक्ति और जगज्जननी शाश्वत 'एक' और अभिव्यक्त 'बहु' के बीच मध्यस्था बन जाती हैं। एक ओर, जिन शक्तियों को वे 'एक' के भीतर से ले आती हैं उनके खेल के द्वारा वे विश्व के अंदर बहुविध भगवान् को प्रकट करती हैं और अपने प्रकट करनेवाले पदार्थ के भीतर से उस 'बहु' के अनंत रूपों को भीतर गठित और बाहर विकसित करती हैं। दूसरी ओर, उन्हीं शक्तियों की पुनः-आरोहणकारी धारा के द्वारा वे सबको 'उस' की ओर वापस ले जाती हैं जिससे वे इसलिये उत्पन्न हुए हैं कि अंतरात्मा अपनी विकसनशील अभिव्यक्ति के अंदर अधिकाधिक या तो वहां विद्यमान भगवान् की ओर वापस जा सके अथवा यहां अपने दिव्य स्वभाव को धारण कर सके। उनके अंदर किसी निश्चेतन यन्त्रस्वरूप कार्यकारिणी शक्ति का स्वभाव नहीं है जिसे हम प्रकृति के प्रथम बाह्य स्वरूप—प्रकृति-शक्ति के अंदर पाते हैं, यद्यपि वह एक विश्वव्यापी यंत्र की रचना करती है; और न वहां असत् का भ्रम या अर्ध-भ्रम की जननी का वह बोध है जो मायासंबंधी हमारे पहले दृष्टिकोण के साथ लगा रहता है। अनुभव करनेवाले जीव के सामने यह तुरत प्रकट हो जाता है कि यहां एक सचेतन शक्ति है जो सत्त्व और प्रकृति में उन परात्पर के साथ एक है जिनसे कि वह उत्पन्न हुई थी। अगर हमें ऐसा मालूम होता है कि उसने हमें अज्ञान और निश्चेतना के अंदर डुबा दिया है और डुबा दिया है एक ऐसी योजना का अनुसरण करने के लिये जिसकी हम अभी कोई व्याख्या नहीं दे सकते, अगर उसकी शक्तियां विश्व की इन सब अस्पष्ट शक्तियों के रूप में हमारे सामने प्रकट होती हैं, तो भी बहुत शीघ्र यह दिखायी पड़ जाता है कि वह हमारे अंदर भागवत चेतना का विकास करने के लिये कार्य कर रही है और वह ऊपर खड़ी होकर हमें अपनी निजी उच्चतर सत्ता की ओर खींच रही है, हमारे सामने अधिकाधिक भागवत ज्ञान, संकल्पशक्ति और आनंद का सार-तत्त्व प्रकट कर रही है। यहांतक कि अज्ञान की क्रियाओं के अंदर भी जिज्ञासु

का अंतरात्मा उसके उस सज्ञान पथप्रदर्शन के विषय में सचेतन होता है जो उसके पगों को संभालता है और उन्हें धीरे-धीरे या शीघ्रता से, सीधे या बहुतेरे टेढ़े-मेढ़े रास्तों से अंधकार से बाहर निकालकर एक महत्तर चेतना के प्रकाश में, मृत्यु से बाहर निकालकर अमरता में, अशुभ और दुःख-कष्ट से बाहर निकालकर उच्चतम शुभ और आनंद में ले जाता है जिसके केवल एक क्षीण रूप की कल्पना उसका मानव मन अभी कर सकता है। इस तरह उसकी शक्ति एक साथ ही मुक्तिदायिनी और क्रियाशील, सृष्टिक्षम, फलोत्पादिका होती है— केवल ऐसी चीजों की सृष्टि करने में समर्थ नहीं होती जैसी कि अभी हैं, बल्कि ऐसी चीजों की सृष्टि करने में भी समर्थ होती है जो होनेवाली हैं; क्योंकि अज्ञान के तत्त्व से बनी हुई साधक की निम्नतर चेतना की ऐंठी और उलझी हुई क्रियाओं को दूर कर वह उसके अंतरात्मा और प्रकृति को एक उच्चतर दिव्य प्रकृति के सत्त्व और शक्तियों के द्वारा फिर से गढ़ती और नया रूप देती है।[१]

श्रीमां और निम्न-प्रकृति

श्रीमां को निम्नतर प्रकृति और उसके शक्ति-समूह के साथ एक समझना भूल है। यहां प्रकृति केवल एक मशीन है जो विकसनशील अज्ञान की क्रिया के लिये उत्पन्न की गयी है। जिस तरह अज्ञ मनोमय, प्राणमय या अन्नमय सत्ता स्वयं भगवान् नहीं है, यद्यपि वह आती भगवान् से ही है—वैसे ही प्रकृति-रूपी यन्त्र भगवती माता नहीं है। निस्सन्देह इस यन्त्र के अंदर और पीछे भगवती माता का कुछ अंश वर्तमान है जो क्रमविकास को सिद्ध करने के लिये इसे बनाये रखता है; पर स्वयं श्रीमां अविद्या की शक्ति नहीं हैं, बल्कि भागवत चेतना, शक्ति, ज्योति हैं, परा प्रकृति हैं जिनकी ओर हम मुक्ति और दिव्य परिपूर्णता के लिये मुड़ते हैं।

अज्ञान की विश्वव्यापी शक्ति और भगवती माता

इसमें इतना-सा सत्य है कि विश्वशक्ति प्रत्येक चीज को कार्यान्वित करती है और विश्वव्यापी आत्मा (विराट् पुरुष) उसके कार्य को धारण करता है। विश्व-

[१] 'योग-समन्वय' पुस्तक से

शक्ति एक ऐसी शक्ति है जो अज्ञान की शर्तों के अधीन कार्य करती है—यह निम्नतर प्रकृति के रूप में दीख पड़ती है और निम्नतर प्रकृति तुमसे गलत काम कराती है। भगवान् इन सब शक्तियों का खेल तबतक होने देते हैं जबतक तुम स्वयं कोई और अच्छी चीज नहीं चाहते। पर तुम यदि साधक हो तो तुम निम्नतर प्रकृति के खेल को स्वीकार नहीं करते, उसके बदले भगवती माता की ओर मुड़ते हो, और निम्नतर प्रकृति के बदले उनसे अपने द्वारा कार्य करने के लिये कहते हो। जब तुम अपनी सत्ता के प्रत्येक भाग में पूर्ण रूप से भगवती माता की ओर और एकमात्र उन्हीं की ओर मुड़ जाते हो, केवल तभी भगवान् तुम्हारे द्वारा सभी कर्मों को करते हैं।

सगुण और निर्गुण ईश्वर और श्रीमां

निर्गुण और सगुण केवल अलग-अलग रूप हैं जिन्हें भगवान् अभिव्यक्ति के अंदर ग्रहण करते हैं। श्रीमां ही सगुण या निर्गुण ईश्वर को अभिव्यक्त करती हैं (सृष्टि और कुछ नहीं, केवल अभिव्यक्ति है)।

२८-६-१९३३

शांत आत्मा, सक्रिय ब्रह्म और श्रीमां

वे अनुभूतियां बिलकुल ठीक थीं—परंतु वे भागवत सत्य के केवल एक ही पक्ष को दे रही हैं, उस पक्ष को दे रही हैं जिसे मनुष्य उच्चतर मन के द्वारा प्राप्त करता है—दूसरा पक्ष भी है जिसे मनुष्य हृदय के द्वारा प्राप्त करता है। उच्चतर मन से ऊपर ये दोनों सत्य एक हो जाते हैं। अगर कोई ऊपर शांत आत्मा को प्राप्त करे तो इसमें कोई खतरा नहीं है, परंतु साथ ही उससे कोई रूपांतर भी नहीं होता, केवल मोक्ष, निर्वाण प्राप्त होता है। अगर कोई विश्वात्मा को, सशक्त और सक्रिय रूप में, प्राप्त करे तो वह सबको आत्मा के रूप में, सबको स्वयं अपने रूप में, उस आत्मा को भगवान् के रूप में अनुभव करता है इत्यादि। यह सब सत्य है; परंतु खतरा इस बात का है कि वहां जो यह भाव है कि "सब कुछ स्वयं मैं हूं" उसमें 'मैं' को कहीं अहंकार अपने चंगुल में न ले ले। क्योंकि यह 'मैं-पन' मेरा व्यक्तिगत आत्मा नहीं है, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति का आत्मा है और साथ ही मेरा भी है। ऐसे किसी खतरे से छुट्टी पाने का उपाय यह है कि हम बराबर इस बात को याद रखें कि ये भगवान् 'माता' भी

हैं, व्यक्तिगत 'मैं' उन मां की संतान है जिनके साथ मैं एक हूं, फिर भी उनसे भिन्न हूं, उनका बालक, सेवक, यन्त्र हूं। मैं कह चुका हूं कि तुम्हें आत्मा को विश्व-चेतना के रूप में अनुभव करना बंद नहीं करना चाहिये, बल्कि उसके साथ-साथ यह याद रखना चाहिये कि सब कुछ श्रीमां ही हैं।

*

यह संभव है कि 'एकमेवाद्वितीय' में लय को प्राप्त होने की अनुभूति से आरंभ करके मनुष्य ज्ञान की ओर अग्रसर हो। पर शर्त यह है कि वह वहीं पर रुक न जाये, उसे ही उच्चतम सत्य न समझ बैठे, बल्कि उसी 'एक' को परात्परा मां, सनातन भगवान् की चिच्छक्ति, के रूप में उपलब्ध करने के लिये आगे बढ़े। अगर दूसरी ओर, तुम परात्परा मां के द्वारा आगे बढ़ो तो वे तुम्हें निश्चल-नीरव 'एक' के अंदर प्राप्त मुक्ति भी प्रदान करेंगी तथा साथ ही सक्रिय 'एकमेवाद्वितीय' की अनुभूति भी देंगी। और फिर उस सत्य को प्राप्त करना आसान हो जायेगा जिसमें वे दोनों एक और अविच्छेद्य हैं। उसके साथ-ही-साथ परात्पर भगवान् और उसकी अभिव्यक्ति के बीच जिस खाई को मन तैयार किये हुए है, वह भी पट जाती है और फिर उसके बाद सत्य के अंदर कोई ऐसी दरार नहीं रह जाती जो हर चीज को दुर्बोध बना दे।

*

वास्तव में भगवान् ही प्रभु हैं—आत्मा तो निष्क्रिय होता है, वह बराबर ही सब वस्तुओं को सहारा देनेवाला निश्चल-नीरव साक्षी होता है—वही स्थाणु, अचल भाव है। एक सक्रिय भाव भी है जिसके द्वारा भगवान् कार्य करते हैं—उसी के पीछे श्रीमां विद्यमान हैं। तुम्हें इस बात को आंख से ओझल नहीं होने देना चाहिये कि श्रीमां के द्वारा ही सब चीजें प्राप्त होती हैं।

१-९-१९३३

*

तुम परम आत्मा का साक्षात्कार प्राप्त करने के लिये यत्न कर रहे हो—पर वह आत्मा यदि माताजी का आत्मा नहीं तो क्या है? और कोई आत्मा है ही नहीं।

२९-९-१९३४

*

परम आत्मा के दो पक्ष हैं निष्क्रिय और सक्रिय। पहले के अनुसार वह शुद्ध नीरवता, विशालता और स्थिरता है, निष्क्रिय ब्रह्म है, दूसरे के अनुसार वह है विराट् आत्मा, वैश्व न कि व्यक्तिगत। उसमें व्यक्ति माताजी के साथ सायुज्य या एकत्व अनुभव कर सकता है। घनिष्ठता व्यक्तिगत भाव है, अतः वह चैत्य पुरुष का भाव है।

१८-१०-१९३४

माताजी की विश्वगत और व्यक्तिगत उपस्थिति

माताजी के निराकार स्वरूप से लोगों का क्या अभिप्राय होता है?—साधारणतया उनका अभिप्राय उनके वैश्व रूप से होता है। जब उनका यों अनुभव होता है कि वे एक ऐसी वैश्व सत्ता एवं शक्ति हैं जो सारे विश्व में फैली हुई है और जिसमें तथा जिसके सहारे सभी रहते-सहते हैं तो वह उनका यही विश्वगत रूप होता है। जब कोई उस "उपस्थिति" को अनुभव करता है तो वह निःसीम वैश्व शांति, ज्योति, शक्ति और आनंद अनुभव करने लगता है—यही है माताजी का 'स्वरूप'। इस स्वरूप का साक्षात्कार व्यक्ति को बारंबार तभी होता है जब वह सिर से ऊपर की चेतना में आरोहण करता है जहां वह इस सीमाबद्ध देह-चेतना से युक्त होकर अपने-आपको भी एक विशाल एवं स्थिर सत्ता अनुभव करता है, अपने को सर्वभूतों के साथ एकात्मा अनुभव करता है—शाश्वत शांति में प्रतिष्ठित तथा आवेग एवं विक्षोभ से मुक्त। पर इसका अनुभव हृदय के द्वारा भी प्राप्त हो सकता है—तब हृदय भी अपने को जगत् के समान विशाल, शुद्ध एवं आनंदपूर्ण तथा माताजी की उपस्थिति से परिपूरित अनुभव करता है। हृदय में माताजी की व्यक्तिगत और व्यष्टिगत उपस्थिति भी है जो सीधे ही प्रेम और भक्ति पैदा करती है तथा अंतरंग घनिष्ठता एवं व्यक्तिगत एकता की अनुभूति प्रदान करती है।

९-६-१९३५

भागवत शक्ति में श्रद्धा हमारी सामर्थ्य के पीछे सदा ही रहनी चाहिये और जब शक्ति प्रकट हो जाये तो श्रद्धा असंदिग्ध और पूर्ण होनी या बन जानी चाहिये। ऐसी कोई चीज नहीं जो उसके लिये असंभव हो क्योंकि वह एक चिन्मय शक्ति तथा विराट् भगवती है जो सनातन काल से सबका सृजन करनेवाली जननी है तथा परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता से सुसंपन्न है। संपूर्ण ज्ञान, समस्त शक्तियां,

समस्त सफलता और विजय, समस्त कौशल और कर्म-कलाप उसी के हाथों में हैं और वह परम आत्मा के ऐश्वर्यों तथा समस्त पूर्णताओं एवं सिद्धियों से परिपूर्ण है। वह महेश्वरी अर्थात् परम ज्ञान की देवी है, और सब प्रकार के सत्यों के लिये तथा सत्य के सभी विशाल रूपों के लिये अपनी अंतर्दृष्टि हमें प्राप्त कराती है। हमारे अंदर अपनी आध्यात्मिक संकल्प-संबंधी यथार्थता, अपनी अतिमानसिक विशालता की शांति और संवेगशीलता तथा अपना ज्योतिर्मय आनंद लाती है; वह महाकाली अर्थात् परम शक्ति की देवी है, और समस्त शक्तियां, आत्मबल, तपस् की उग्रतम कठोरता, संग्राम का वेग, विजय और अट्टहास्य उसी के अंदर विद्यमान हैं, अट्टहास्य ऐसा जो कि पराजय और मृत्यु को तथा अज्ञान की शक्तियों को तृणवत् समझता है : वह महालक्ष्मी है, परम प्रेम और आनंद की देवी है, और उसकी देनें हैं आत्मा की सुषमा, आनंद की मोहकता और सुन्दरता, अभयदान और प्रत्येक प्रकार का दैवी एवं मानवीय वरदान : वह महासरस्वती है, दिव्य कौशल की तथा परम आत्मा के सब कार्यों की अधिष्ठात्री देवी है, और जिस योग को कर्म-कौशल, 'योगः कर्मसु कौशलम्,' कहा जाता है वह महासरस्वती का ही है। इसी प्रकार दिव्य ज्ञान के नाना उपयोग, आत्मा का अपने-आपको जीवन के क्षेत्र में प्रयुक्त करना और उसकी समस्वरताओं का आनंद महासरस्वती के ही गुण और कार्य हैं। अपनी सभी शक्तियों और अपने सभी रूपों में वह सनातन ईश्वरी के प्रभुत्वों की परमोच्च भावना को अपने संग रखती है; साथ ही, किसी यंत्र से जिन कार्यों की मांग की जा सकती है उन सब प्रकार के कार्यों के लिये तीव्र और दिव्य सामर्थ्य, सर्वभूतों की सभी शक्तियों के साथ एकता, सहानुभूति एवं सुख-दुःख-सहभागिता, मुक्त तदात्मता, और अतएव विश्व में कार्य कर रहे समस्त दिव्य संकल्प के साथ स्वयंस्फूर्त एवं फलप्रद सामंजस्य—इन सब गुणों को भी वह अपने संग रखती है। उसके सान्निध्य और उसकी शक्तियों का घनिष्ठ अनुभव, और हमारे भीतर और चारों ओर उसकी जो क्रियाएं हो रही हैं उनके प्रति हमारी संपूर्ण सत्ता की संतुष्ट स्वीकृति—यह भागवत शक्ति में श्रद्धा की चरम पूर्णता है। और उसके पीछे है ईश्वर; और उसमें विश्वास पूर्णयोग की श्रद्धा का सबसे प्रधान अंग है। हमें अपने अंदर यह श्रद्धा धारण और पूर्णतया विकसित करनी चाहिये कि यहां का सभी कुछ परम आत्मज्ञान और प्रज्ञा की उन क्रियाओं का परिणाम है जो विश्व की विराट् परिस्थितियों में घटित होती हैं, हमारे अंदर या चारों ओर जो कुछ भी होता है उसमें ऐसा कुछ भी नहीं जो व्यर्थ हो या जिसका अपना नियत स्थान एवं समुचित अर्थ न

हो, जब ईश्वर हमारे परमोच्च 'पुरुष' एवं आत्मा के रूप में हमारे कार्यों को अपने हाथ में ले लेते हैं तब सभी कुछ संभव हो जाता है और जो कुछ वे पहले कर चुके हैं तथा जो कुछ वे भविष्य में करेंगे वह सब उनके निर्भ्रांत एवं पूर्वदर्शी मार्गनिर्देश का अंग था और होगा, साथ ही यह हमारे योग की सफलता, हमारी पूर्णता एवं हमारे जीवन-कार्य के लिये भी अभिप्रेत था और होगा। जैसे-जैसे उच्चतर ज्ञान का द्वार खुलेगा, यह श्रद्धा अधिकाधिक सार्थक सिद्ध होती जायेगी, जो बड़े एवं छोटे मर्म हमारे संकुचित मन की दृष्टि से परे थे उन्हें हम अब देखने लगेंगे और तब श्रद्धा ज्ञान में परिणत हो जायेगी। तब हम सन्देह की जरा-सी भी संभावना के बिना यह देखेंगे कि सभी कुछ एक ही संकल्पशक्ति की क्रिया के अंतर्गत घटित होता है और वह संकल्पशक्ति प्रज्ञा भी है क्योंकि वह जीवन में सदा ही आत्मा और प्रकृति की सच्ची क्रियाओं को विकसित करती है। जब हम ईश्वर की उपस्थिति को अनुभव करेंगे और अपनी सम्पूर्ण सत्ता एवं चेतना को एवं अपने समस्त चिंतन, संकल्प और कर्म को उन्हीं के हाथों में अनुभव करेंगे तथा सभी वस्तुओं में एवं अपनी आत्मा और प्रकृति के प्रत्येक करण के द्वारा परमात्मा की प्रत्यक्ष, अंतर्यामी और प्रभुत्वशालिनी संकल्पशक्ति को अनुमति प्रदान करेंगे तब वह हमारी सत्ता की स्वीकृति अर्थात् श्रद्धा की पराकाष्ठा होगी। और श्रद्धा की वह सर्वोच्च पूर्णता दिव्य शक्ति के लिये एक अवसर एवं पूर्ण आधार का भी काम करेगी : पूर्णता प्राप्त कर लेने पर वह ज्योतिर्मय अतिमानसिक शक्ति के विकास, आविर्भाव और कार्य-कलाप का आधार बनेगी।[१]

*

माता (The Mother) पुस्तक में आपने कहा है कि वैश्व महाशक्ति के रूप में, "श्रीमां जो कुछ देखती एवं अनुभव करती हैं तथा अपने में से उंडेलती हैं उसके द्वारा इस ब्रह्माण्ड में तथा पार्थिव विकास में जो कुछ घटित होना है उसका निर्धारण करती हैं। ऐसा करती हुई वे वहां देवगण के ऊपर स्थित हैं। उनकी सभी शक्तियां और विग्रह (व्यक्तित्व) इस कार्य के लिये उनके अंदर से बाहर निकल उनके सामने आ उपस्थित होते हैं और वे उनकी अंश-विभूतियों को इन निम्नतर लोकों में भेजती हैं जिससे वे (अंश-विभूतियां) इनमें अंतःक्षेप करके इनपर शासन करें,

[१] योग-समन्वय (शताब्दी-संस्करण, १९७२) पृ. ९०४-०६।

युद्ध करके विजय लाभ करें, इनके युगचक्रों का परिचालन, आवर्तन एवं परिवर्तन करें, इनकी शक्तियों की समष्टिगत और व्यष्टिगत कार्य-दिशाओं का निर्देशन करें।"[१] क्या इसका यह अर्थ है कि विश्व-युद्ध या बोल्शेविक क्रांति या सत्याग्रह-आन्दोलन आदि किसी रूप में माताजी के द्वारा आयोजित एवं निर्धारित किये गये थे?

वे घटनाएं विश्व-योजना के अन्तर्गत ही हैं और अतएव वैश्व महाशक्ति के द्वारा आयोजित की गयी थीं और प्रकृति की शक्ति के आवेग के अधीन लोगों के द्वारा क्रियान्वित की गयी थीं।

१-६-१९३३

माताजी की प्रेम और आनंद की अतिमानसिक शक्ति

'चंडी' पुस्तक में अन्य शक्तियों के साथ-साथ श्रीमां की चार विश्व-शक्तियों के नाम—महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती—तो वर्णित हैं पर 'राधा' का नाम नहीं दिया गया है। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि जब 'चंडी' की रचना हुई थी तब ऋषियों की दृष्टि के सामने राधा-शक्ति नहीं प्रकाशित हुई थी और 'चंडी' में केवल श्रीमां की विश्व-शक्तियों का ही वर्णन आया है, उनकी अतिमानसिक शक्तियों का वहां उल्लेख नहीं है। अपनी पुस्तक 'दि मदर' (The Mother) में श्रीमां की चार शक्तियों का वर्णन करने के बाद आपने कहा कि, "मां भगवती के और भी कई महान् व्यक्तित्व हैं, पर उनका अवतरण कराना अधिक कठिन रहा और भू-पुरुष के क्रमविकास में वे उतनी स्पष्टता के साथ सामने आये भी नहीं हैं। उनमें अवश्य ही कुछ व्यक्तित्व ऐसे हैं जो विज्ञान-सिद्धि के लिये अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं—सबसे अधिक आवश्यक वह है जो माता के परम भागवत प्रेम से प्रवाहित होनेवाले रहस्यमय परम उल्लासमय आनंद की मूर्ति है, यह वह आनंद है जो विज्ञान-चैतन्य के उच्चतम शिखर और जड़ प्रकृति के निम्नतम गह्वर के बीच का महान् अंतर मिटाकर दोनों को मिला सकता है, अनुपम परम दिव्य जीवन की कुंजी इसी आनंद के पल्ले है और अब भी यही

[१] योग-समन्वय (शताब्दी-संस्करण, १९७२) पृ. १०४-०६।

आनंद अपने गुप्त धाम से विश्व की अन्य सभी महाशक्तियों के कार्य का सहारा बना हुआ है।" इस उद्धरण में जिस मूर्ति की बात कही गयी है क्या वह 'राधाशक्ति' नहीं है जिसे प्रेममयी राधा, महाप्राण-शक्ति और ह्लादिनी-शक्ति भी कहा गया है?

हां; परंतु राधा-कृष्ण-लीला के प्रतीक प्राणमय जगत् से लिये गये हैं और इस कारण वहां जिस शक्ति का वर्णन किया गया है वह राधा-शक्ति केवल एक आंतर प्रकाश है। यही कारण है कि उसे महाप्राण-शक्ति और ह्लादिनी-शक्ति कहा गया है। यहां (ऊपर उद्धरण में) जिस शक्ति की बात कही गयी है वह यह आंतरिक रूप नहीं है बल्कि वह तो ऊपर के प्रेम और आनंद की पूर्ण शक्ति है।

७-२-१९३४

सभी स्तरों में श्रीमां की शक्तियां

क्या महेश्वरी संबोधि और अधिमानस स्तर की देवी हैं?

अधिमानस से लेकर भौतिक तक के सभी स्तरों में ये शक्तियां प्रकट हो सकती हैं।

२५-८-१९३३

माताजी की शक्तियों के अनेक रूप

जहांतक देवताओं का प्रश्न है, मनुष्य उनके ऐसे रूप रच सकता है जिन्हें वे स्वीकार करेंगे, पर इन रूपों की अंतःप्रेरणा भी मनुष्य के मन के अंदर उन्हीं स्तरों से आती है जिनसे वे देवता संबंध रखते हैं। समस्त सृष्टि के दो पक्ष हैं, साकार और निराकार,—देवता भी निराकार हैं, तथापि उनके आकार भी हैं, पर एक ही देवता अनेक रूप ग्रहण कर सकता है, यहां महेश्वरी का, वहां पालस एथिनी का। स्वयं महेश्वरी के, अपनी निम्नतर अभिव्यक्ति में अनेक रूप हैं—दुर्गा, उमा, पार्वती, चण्डी इत्यादि। देवता मानवीय रूपों की सीमा में आबद्ध नहीं—मनुष्य ने भी उनके दर्शन सदा मानवीय रूपों में ही नहीं किये।

कृष्ण-महाकाली

अपनी वैश्व शक्ति में माताजी सभी वस्तुएं तथा सभी दिव्य व्यक्तित्व हैं, क्योंकि उनके बिना तथा उनकी सत्ता का एक अंग-रूप हुए बिना कोई भी वस्तु अभिव्यक्त रूप में नहीं आ सकती। परंतु 'विज़न्स एण्ड वॉयसिज'[१] (Visions and Voices) में जो कुछ कहा गया है उसका अभिप्राय यह था कि ईश्वर और भगवती शक्ति एक ही 'व्यक्ति' या पुरुष के दो पक्ष हैं और कृष्ण-महाकाली के रूप में उनके इस दिव्यदर्शन को इस पुस्तक में इस रूप में प्रस्तुत किया गया है कि यह अभिव्यक्ति के लिये एक महाशक्ति है।

२०-१०-१९३६

दुर्गा

दुर्गा अपने अंदर महेश्वरी और महाकाली के गुणधर्मों को कुछ अंश में संयुक्त किये हुई हैं,—महालक्ष्मी के साथ उनका कोई अधिक संबंध नहीं। कृष्ण और महाकाली का संयोग एक ऐसा संयोग है जिसका इस योग में महान् शक्तिशाली प्रभाव होता है और यदि ये नाम तुम्हारी चेतना में एक साथ उठते हैं तो यह अच्छा लक्षण है।

२१-३-१९३८

*

दुर्गा श्रीमां की संरक्षण-शक्ति हैं।

१५-४-१९३३

*

सिंह, जिस पर दुर्गा आसीन हों, दिव्यीकृत भौतिक-प्राणिक और प्राणिक-भाविक शक्ति के द्वारा कार्य कर रही भागवत चेतना का प्रतीक होता है।

*

सिंह देवी दुर्गा का, जगदम्बा के विजयशील और रक्षाकारी पक्ष का सूचक लक्षण है।

[१]एक साधक द्वारा लिखी पुस्तक।

मृत्यु का सिर भगवती शक्ति द्वारा पराजित और निहत असुर का (देवताओं के शत्रु का) प्रतीक है।

महाकाली और काली

महाकाली और काली एक ही नहीं। काली एक अवर (निम्न कोटि का) रूप है। उच्चतर भूमिकाओं में महाकाली सामान्यतया सुनहरे रंग में प्रकट होती हैं।

यह काली, श्यामा इत्यादि साधारण रूप हैं जो प्राण के द्वारा दिखायी देते हैं; महाकाली का सच्चा रूप, जिसका मूल अधिमानस-लोक में है, काला या धूमिल या भयानक नहीं है बल्कि सुनहले रंग का है और असुरों के लिये भीषण होने पर भी सौन्दर्य से भरपूर हैं।

१०-२-१९३४

*

आज प्रार्थना करते समय मुझे काली माता की मूर्ति दिखायी दी। वह काले रंग की और नग्न थी और शिव की पीठ पर पैर रखे खड़ी थी—जैसा परम्परागत रूप से उसका वर्णन किया जाता है। काली इस रूप में क्यों दिखायी देती हैं और किस स्तर पर वे ऐसी दिखायी देती हैं?

ऐसी वे प्राण के स्तर पर दिखायी देती हैं। यह है विनाशकारी शक्ति के रूप में काली—यह उस अज्ञानगत प्रकृति-शक्ति का प्रतीक है जो कठिनाइयों से घिरी होती है, उनसे पार होने के लिये अंध संघर्ष में प्रत्येक वस्तु को तोड़ती-मरोड़ती चली जाती है जबतक कि वह अपने को स्वयं भगवान् पर ही पैर रखे खड़ी नहीं पाती—तब वह अपने-आपे में आ जाती है और संघर्ष एवं विनाश समाप्त हो जाते हैं। यही है इस प्रतीक का अर्थ।

९-२-१९३४

माताजी की महाकाली-शक्ति का कार्य

"माता" पुस्तक के पृष्ठ ५० पर माताजी की महाकाली-शक्ति के बारे में कहा गया है कि "उनकी भुजाएं मारने और तारने को आगे बढ़ी रहती हैं।" यहां पर "मारने" का तात्पर्य क्या है?

यह संसार में होनेवाली उनकी साधारण क्रिया को प्रकट करता है। वे असुरों पर प्रहार करती हैं, वे ऐसी प्रत्येक चीज पर प्रहार करती हैं जिससे पिंड छुड़ाना है या जिसे नष्ट करना है, साधना की बाधाओं आदि पर भी प्रहार करती हैं। मैं कह सकता हूं कि माताजी कभी महाकाली-शक्ति या महाकाली का दबाव तुम पर प्रयुक्त नहीं करतीं।

५-६-१९३६

*

माताजी के महाकाली-रूप के विषय में 'माता' पुस्तक में कहा गया है, "जब उन्हें अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ कहीं भी दखल देने का अवसर मिलता है तब वे सब बाधाएं जो साधक को पंगु बना देती हैं एक क्षण में निःसार पदार्थों के समान नष्ट हो जाती हैं और वे सब शत्रु भी मृतप्राय हो जाते हैं जो साधक पर आक्रमण किया करते हैं।" महाकाली-शक्ति के इस हस्तक्षेप का अनुभव किस रूप में होता है?

यह मानों किसी क्षिप्र, आकस्मिक, सुनिश्चित और अनिवार्य वस्तु के रूप में अनुभूत होता है। जब यह हस्तक्षेप करता है तब इसके पीछे एक प्रकार की भागवत या अतिमानसिक स्वीकृति होती है और यह एक अंतिम आज्ञा के जैसा होता है जिसके विरुद्ध कोई अपील नहीं चलती। जो कुछ किया जा चुका है वह न तो उलटा जा सकता है न मिटाया जा सकता है। विरोधी शक्तियां कोशिश कर सकती हैं, यहांतक कि छू सकती या चढ़ाई कर सकती हैं, पर घबराकर लौट जाती हैं और, ज्योंही वे पीछे हटती हैं, पुराना मैदान जैसा-का-तैसा सुरक्षित दिखायी पड़ता है—आक्रमण के समय भी यह अनुभव रहता है। वे कठिनाइयां भी जो इससे पहले प्रबल थीं, इस निर्णय के छू देने से अपनी शक्ति खो बैठती हैं, उनकी संभावना नष्ट हो जाती है अथवा वे दुर्बल छाया-सी रह जाती हैं जो केवल टिमटिमाने और बुझ जाने के लिये ही आती है। मैंने ऊपर 'अवसर मिलने' की बात कही है, क्योंकि महाकाली की यह चरम क्रिया अपेक्षाकृत बहुत कम होती है, अन्य शक्तियों की क्रिया या महाकाली की आंशिक क्रिया ही अधिक होती है।

२४-८-१९३३

मित्र[1]

हां, मित्र वास्तव में दो शक्तियों (महालक्ष्मी और महासरस्वती) का संयोग है।

महासरस्वती का स्पर्श

वह कौन-सी प्रज्ञा है जो मानव-मस्तिष्क में अधिक गहरे वलयन–gyri, हृदय के प्रकोष्ठों में सर्वथा निर्दोष पट तथा रचना की ऐसी अन्य सूक्ष्मताएं लायी? क्या यह महासरस्वती का कार्य है?

हां—सूक्ष्मांश की जटिलता की समस्त पूर्णता महासरस्वती के स्पर्श की द्योतक है।

१९-९-१९३३

साधना की वर्तमान गतिविधि

क्या यह सच है कि यहां हमारी साधना में अधिकतर श्रीमां का महा-सरस्वती-रूप ही कार्य करता है?

हां, इस समय, जब से साधना भौतिक चेतना के स्तर पर उतरी है तब से—या, यों कहना अधिक ठीक होगा कि यह महेश्वरी-महासरस्वती की शक्तियों का संयोग है।

२५-८-१९३३

श्रीमां की विभूतियां

ईश्वर की विभूतियों और श्रीमां की विभूतियों के बीच अभिव्यक्ति के रूप या अनुभव की दृष्टि से क्या अंतर है?

साधारणतया श्रीमां की विभूतियां नारीरूप होंगी और उनमें से अधिकांश श्रीमां के चार व्यक्तिरूपों में किसी एक के द्वारा अधिकृत होंगी। दूसरे, जिनका जिक्र

[1] एक वैदिक देवता।

तुमने किया है, (ईसा, बुद्ध, चैतन्य, नेपोलियन, सीजर आदि) ईश्वर के व्यक्ति-रूप और शक्तियां होंगे, पर सबकी तरह उनमें भी, श्रीमां की शक्ति कार्य करेगी। सारी सृष्टि और रूपांतर माताजी का ही काम है।

२९-१०-१९३५

*

जब समस्त सृष्टि-कार्य उनका है तब क्या हम यह मान सकते हैं कि श्रीमां के व्यक्ति-रूप ही पर्दे के पीछे से अवतार या विभूतियों के अवतरण के लिये उपयुक्त अवस्थाओं को तैयार करते हैं?

अगर तुम्हारा मतलब श्रीमां के दिव्य रूपों से हो तो उत्तर है "हां"। फिर यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक विभूति अपनी शक्ति इन चार शक्तियों से और अधिकतर उनमें से किसी एक से मुख्य रूप में लेती है, जैसे नेपोलियन महाकाली से, राम महालक्ष्मी से, आगस्टस सीजर महासरस्वती से शक्ति पाते थे।

३१-१०-१९३५

चित्-शक्ति, जीवात्मा, अन्तरात्मा और अहम्

चित्-शक्ति या भागवत चेतना स्वयं श्रीमां हैं—जीवात्मा उनका एक अंश है, चैत्य या अंतरात्मा उनकी एक चिनगारी है। अहम् चैत्य या जीवात्मा का एक विकृत प्रतिबिम्ब है। अगर तुम्हारे कहने का मतलब यही हो तो यह ठीक है।

अंतरात्मा और भगवती माता

पृथ्वी पर आयी प्रत्येक अंतरात्मा के विषय में यह बात सत्य है कि वह भगवती माता का अंश है जो अज्ञान की अनुभूतियों में से गुजर रहा है जिसमें कि वह अपनी सत्ता के सत्य को प्राप्त करे और यहां एक दिव्य अभिव्यक्ति और कर्म का यंत्र बने।

परात्परा मां—एक मन्त्र

ॐ आनन्दमयि चैतन्यमयि सत्यमयि परमे

OM anandamayi chaitanyamayi
satyamayi parame

Sri Aurobindo

[1] इस मन्त्र के अंग्रेजी लिप्यन्तर में अन्तिम दो शब्द श्रीमाताजी ने जोड़े हैं क्योंकि वे श्रीअरविन्द ने अपनी मूल लिपि में नहीं लिखे थे।

३

श्रीमाताजी की ज्योतियां तथा दिव्य-दर्शन

श्रीमां की ज्योतियां

सभी ज्योतियों को श्रीमां स्वयं अपने अंदर से प्रकट करती हैं।

ज्योति के अलग-अलग रूप

ज्योति एक साधारण शब्द है। ज्योति ज्ञान नहीं है, बल्कि वह एक आलोक है जो ऊपर से आता है और सत्ता को सब प्रकार के अंधकार से मुक्त करता है।

पर यह ज्योति नाना प्रकार के रूप भी ग्रहण करती है; जैसे, श्रीमां की सफेद ज्योति, श्रीअरविन्द की हल्की नीली ज्योति, सत्य की सुनहली ज्योति, चैत्य ज्योति (लाल और गुलाबी) इत्यादि।

१३-१०-१९३४

श्रीमां की सफेद ज्योति

ज्योतियां श्रीमां की शक्तियां हैं और संख्या में बहुत-सी हैं। सफेद ज्योति उनकी अपनी विशेष शक्ति है, मूल रूप में स्वयं भागवत चेतना की शक्ति है।

१५-७-१९३४

*

सफेद ज्योति श्रीमां की ज्योति है और यह हमेशा उनके चारों ओर बनी रहती है।

२२-८-१९३३

*

हल्की नीली ज्योति मेरी है और सफेद ज्योति श्रीमाताजी की है (यह कभी-कभी सुनहली भी होती है)। साधारणतया लोग श्रीमां के चारों ओर सफेद या सफेद हल्की नीली ज्योति देखते हैं।

४-९-१९३३

*

सफेद ज्योति श्रीमां की ज्योति है। जहां कहीं वह उतरती है या प्रवेश करती है वहीं वह शांति, पवित्रता, निश्चल-नीरवता ले आती है और उच्चतर शक्तियों के प्रति उद्‌घाटित करती है। अगर वह नाभि-केन्द्र के नीचे आती है तो उसका यह अर्थ होता है कि वह निम्नतर प्राण में कार्य कर रही है।

३१-७-१९३४

*

महत्त्वपूर्ण अनुभव है हृदय में श्वेत किरण का अनुभव—क्योंकि वह श्रीमां की ज्योति, सफेद ज्योति की किरण है, और उस ज्योति के द्वारा हृदय का आलोकित हो जाना इस साधना के लिये एक बहुत शक्तिशाली चीज है। वह साधिका जो अंतर्ज्ञान की बात कहती है वह इस बात का द्योतक है कि उसके अंदर आंतर चेतना बढ़ रही है—वह चेतना बढ़ रही है जो योग के लिये आवश्यक है।

२८-७-१९३७

*

यह (श्रीमां की ज्योति) बराबर ही आंतर पुरुष के अंदर विद्यमान रहती है।

*

उसका अर्थ है प्राण के अंदर दिव्य चेतना की ज्योति (श्रीमां की चेतना, सफेद ज्योति)। नीला रंग उच्चतर मन का है और सुनहला भागवत सत्य है। अतएव इसका मतलब है वह प्राण जिसमें उच्चतर मन और भागवत सत्य की ज्योति है और जो श्रीमां की ज्योति छिटका रहा है।

*

जो कुछ तुमने सूक्ष्म दर्शन के रूप में देखा था वह श्रीमां का अतिभौतिक शरीर था जो संभवतः उनकी सफेद ज्योति से बना था। वह ज्योति भागवत चेतना और शक्ति की ज्योति है जो विश्व के परे विद्यमान है।

३०-१-१९३५

*

आज प्रणाम-गृह में ध्यान करते समय मैंने सूक्ष्म दृष्टि से एक पर्वत-श्रेणी देखी जिससे सफेद ज्योति निकल रही थी। इसका तात्पर्य क्या है? किस लोक का यह स्वप्न है?

मानसिक लोक का। पर्वत निम्न स्तर से उच्च स्तर में आरोहण सूचित करता है। सफेद ज्योति श्रीमां की ज्योति है, उच्चतर स्तरों से उतरनेवाली भागवत चेतना की ज्योति है।

७-८-१९३३

*

यह (सफेद कमल) श्रीमाताजी का, भागवत चेतना का फूल है।

१५-४-१९३३

*

आज श्रीमाताजी ने जैसे ही प्रणाम-गृह में आसन ग्रहण किया वैसे ही मैंने देखा कि उनके दाएं और बाएं दोनों ओर सफेद ज्योति चमक रही है। क्या मेरे इसे देखने का कोई विशेष कारण था?

नहीं; श्रीमाताजी के चारों ओर हमेशा ही सफेद ज्योति देखी जा सकती है; क्योंकि यह उन्हीं की ज्योति है और हमेशा उनके साथ रहती है।

८-८-१९३३

*

कल शाम जब श्रीमां छत पर टहल रही थीं तब मुझे उनके शरीर पर एक ज्योति दिखायी दी। वह क्या थी?

बहुत-से लोग श्रीमां के चारों ओर प्रकाश देखते हैं। वह प्रकाश वहां सदा ही रहता है।

२६-७-१९३३

श्रीमाताजी का ज्योतिर्मण्डल

लोग श्रीमां के चारों ओर जो कुछ देखते हैं वह पहले तो उनका ज्योतिर्मण्डल होता है, जैसा कि उसे आजकल की भाषा में नाम दिया गया है, और दूसरे, वे सब ज्योति की शक्तियां होती हैं जो उनके ध्यान करने के समय उनसे बाहर निकलती हैं, उदाहरणार्थ छत के ऊपर, जहां वह हमेशा ही ध्यान किया करती हैं। (प्रत्येक मनुष्य का एक ज्योतिर्मण्डल होता है—पर अधिकांश लोगों में वह दुर्बल होता है और बहुत अधिक प्रकाशयुक्त नहीं होता, श्रीमां का ज्योतिर्मण्डल

ज्योतियों और शक्तियों की पूरी लीला होता है)। लोग उसे साधारणतया नहीं देखते, क्योंकि वह एक सूक्ष्म-भौतिक चीज है, कोई स्थूल जड़ व्यापार नहीं है। लोग उसे केवल दो अवस्थाओं में देख सकते हैं—एक तो, अगर वे पर्याप्त रूप में सूक्ष्म दृष्टि विकसित करें, या फिर स्वयं ज्योतिर्मण्डल ही इतना सुदृढ़ होना आरंभ कर दे कि वह उसे ढक रखनेवाले स्थूल जड़-तत्त्व के कोष पर भी प्रभाव डाल सके। निश्चय ही माताजी उसे लोगों को दिखाने का कोई विचार नहीं रखतीं—अपने-आप ही, एक के बाद एक, आश्रम के करीब २० या ३० आदमियों ने शायद उसे देखा है। निस्सन्देह यह इस बात का द्योतक है कि उच्चतर शक्ति (चाहे उसे अतिमानसिक कहो या न कहो) ने जड़-तत्त्व पर प्रभाव डालना आरंभ कर दिया है।

१५-११-१९३३

*

यदि श्रीमाताजी की ज्योति को देखना एक गलत बात हो या मन या प्राण की एक रचना हो तो भगवान् की उपलब्धि तथा सभी आध्यात्मिक अनुभूतियों पर मानसिक या प्राणिक रचना या भूल होने का संदेह किया जा सकता है और इस तरह सारा योग ही असंभव हो जाता है।

६-९-१९३३

श्रीमां की हीरक-ज्योति

(क) इस (हीरे की जैसी ज्योति) का अर्थ है श्रीमां की मूल शक्ति।

(ख) हीरक-ज्योति भागवत चेतना के हृदय से निकलती है और जहां जाती है वहां भागवत चेतना की ओर उद्घाटन ले आती है।

(ग) श्रीमाताजी के हीरक-ज्योति के साथ उतरने का अर्थ है तुम्हारे अंदर होनेवाली क्रिया को परात्परा शक्ति का अनुमोदन प्राप्त होना।

(घ) श्रीमां की हीरक-ज्योति पूर्ण पवित्रता और शक्ति-सामर्थ्य की ज्योति है।

(ङ) हीरक-ज्योति भगवान् की केन्द्रीय चेतना और शक्ति है।

*

हीरा श्रीमां की ज्योति और क्रियाशक्ति का सूचक है—हीरे की जैसी ज्योति

अपने खूब घने रूप में उनकी चेतना की ज्योति है।

१३-११-१९३६

श्रीमां के महाकाली-रूप की सुनहली ज्योति

श्रीमां की ज्योति सफेद होती है—विशेषकर हीरे-जैसी सफेद। महाकाली का रूप साधारणतया सुनहला होता है, खूब उज्ज्वल और तीव्र सुनहला।

१२-१०-१९३५

*

सुनहली ज्योति भागवत सत्य की ज्योति है जो साधारण मन से ऊपर के उच्चतर लोकों में दिखायी देती है—यह मूलतः अतिमानसिक ज्योति है। यह मन से ऊपर दिखायी देनेवाली महाकाली की भी ज्योति है। सफेद ज्योति की तरह सुनहली ज्योति भी प्रायः ही माताजी से निकलती हुई दिखायी देती है।

१७-९-१९३३

*

मैंने सुना है कि काली का रंग काला है और उनके चार हाथ हैं। परंतु मैंने अपने अंतर्दर्शन में उनके केवल दो ही हाथ देखे और उनका रंग तेज सफेद था। मैंने उन्हें ऐसा क्यों देखा?

प्राणमय लोक में होनेवाली महाकाली की एक अभिव्यक्ति का रूप काला होता है—परंतु अधिमानस-लोक में स्वयं महाकाली सुनहली हैं। जिसे तुमने देखा था वह अपने ज्योतिर्मय शरीर में महाकाली-शक्ति को लिये हुई स्वयं श्रीमाताजी थीं, वह ठीक महाकाली का रूप नहीं था।

२६-९-१९३३

*

यह पीले रंग की आभा पर निर्भर करता है। यदि वह सुनहरा सफेद है तो वह मन से ऊपर के स्तर से आता है और रंगों का यह संयोग महेश्वरी-महाकाली की शक्ति का सूचक है। उच्चतर मन का रंग फीका नीला है।

२१-३-१९३८

*

सुनहली ज्योति की रेखा उच्चतर भागवत सत्य की ज्योति की रेखा है जो हृदयाकाश में चारों ओर छा रही थी। हीरक-पुंज श्रीमां की ज्योति है जो उस आकाश में बरस रही थी। अतएव यह इस बात का चिह्न है कि हृदय-केन्द्र में (चैत्य और भाव के केन्द्र में) उन शक्तियों की क्रिया हो रही है।

१७-१२-१९३६

श्रीमां के कुछ सूक्ष्म दर्शन तथा अनुभव

कल शाम को जब श्रीमाताजी दर्शन देने के लिये नीचे उतरीं तब मैंने उनके चेहरे पर प्रातःकाल के सूर्य की तरह लाल रंग की ज्योति को चमकते हुए देखा। लाल रंग की ज्योति का क्या अर्थ है?

लाल रंग भौतिक वातावरण में प्रेम की अभिव्यक्ति को सूचित करता है।

५-६-१९३३

*

आज प्रणाम-गृह में श्रीमाताजी के आने से पहले ध्यान करते समय मैंने देखा कि श्रीमाताजी एक बहुत ऊंची जगह से उतर रही हैं, वह गुलाबी रंग की साड़ी पहने हैं और अपने बालों में 'भागवत प्रेम' नामक पुष्प लगाये हुए हैं। इसका क्या तात्पर्य है?

यह भागवत प्रेम के अवतरण को सूचित करता है।

५-६-१९३३

*

दो दिन हुए मैंने स्वप्न में देखा कि मैं एक कमरे में बिछौने पर लेटा हुआ हूं और वहां श्रीमाताजी गुलाबी रंग के एक घोड़े के साथ प्रवेश कर रही हैं। घोड़ों को देखकर मैंने श्रीमां से कहा कि यह मुझे काटेगा, पर श्रीमाताजी ने उत्तर दिया कि नहीं, यह नहीं काटेगा। इस स्वप्न का क्या अर्थ है?

गुलाबी रंग चैत्य प्रेम का रंग है—घोड़ा सक्रिय शक्ति है। अतएव गुलाबी रंग

के घोड़े का अर्थ यह है कि श्रीमां अपने साथ प्रेम की सक्रिय शक्ति ला रही थीं।

३-८-१९३३

*

आज प्रणाम-गृह में ध्यान करते समय मैंने देखा कि नीली ज्योति से भरपूर आकाश से एक सुन्दर पक्की सड़क पृथ्वी पर आ रही है और श्रीमाताजी धीरे-धीरे उस सड़क से नीचे उतर रही हैं। श्रीमां का समूचा शरीर सफेद और सुनहली ज्योति से बना था और वह ज्योति चारों ओर फैल रही थी। जब श्रीमाताजी रास्ते के अंत पर आ गयीं और पृथ्वी पर उतर आयीं तब उनका शरीर पृथ्वी के साथ मिलजुल गया। तब मैं सहसा ध्यान से जग गया। क्या यह कोई सूक्ष्म दर्शन था? इसका क्या तात्पर्य है?

हां, यह मन (साधारण मन नहीं, बल्कि उच्चतर मन) के स्तर पर प्राप्त एक सूक्ष्म दर्शन है। यह इस बात को सूचित करता है कि श्रीमाताजी पवित्र और दिव्य सत्य की (सफेद और सुनहली) ज्योति के साथ जड़-तत्त्व में उतर रही हैं।

५-८-१९३३

*

दो दिन पहले मैंने स्वप्न में देखा कि श्रीमां एक ऊंची जगह पर खड़ी हैं और उनके सामने एक स्तम्भ है जिसपर एक तुलसी का पौधा लगा है। इसका क्या मतलब है?

मेरी समझ में इसका अर्थ यह है कि श्रीमां ने भक्ति को नीचे उतारा है और उसे रोप दिया है।

५-६-१९३३

*

सांप शक्तियां हैं—प्राण-जगत् के सांप साधारणतया अशुभ शक्तियां होते हैं और लोग प्रायः इन्हीं को देखते हैं। परंतु अनुकूल या दिव्य शक्तियां भी उस रूप में प्रतिबिम्बित होती हैं, जैसे, कुंडलिनी-शक्ति सांप के रूप में कल्पित की

गयी है। श्रीमाताजी के सिर के ऊपर और चारों ओर घूमने-फिरने वाले सांप शायद शिवमूर्ति का स्मरण कराते हैं और उनका अर्थ है असंख्य शक्तियां जो सब अंत में उस एक अनंत शक्ति के अंदर एकत्र कर दी गयी हैं जिससे वे निकली हैं।

२८-१०-१९३६

*

मुझे एक स्वप्न आया था जिसमें मैंने देखा कि श्रीमाताजी मेरे समीप हैं। एक बार जब वे हंसीं तो मुझे ऐसा लगा मानों मैंने उनके मुंह के अंदर सभी जगतों को देखा, जैसे कि यशोदा ने कृष्ण के मुंह में देखा था। ऐसा देखने के बाद तुरंत ही मैंने अनुभव किया कि मैं इस जगत् से ऊपर उठ गया हूं और उसकी ओर एक मुक्त साक्षी की तरह देख रहा हूं। क्या यह एक सच्ची स्वप्नानुभूति थी और मैंने वास्तव में श्रीमाताजी को ही देखा, अथवा यह कोई दूसरे प्रकार का प्रभाव था?

मैं नहीं समझता कि यह कोई दूसरा प्रभाव था। यह बहुत सच्ची अनुभूति के जैसा ही प्रतीत होता है।

१९-६-१९३५

*

जब श्रीमाताजी छत पर आयीं तब उनकी ओर देखते समय मैंने सहसा उनकी गोद में एक बालक देखा जो मुझे ईसामसीह मालूम पड़ा, क्योंकि ईसामसीह के चेहरे से वह मिलता-जुलता था। यह सूक्ष्म-दर्शन लगभग एक मिनट तक बना रहा और यह सब मैंने खुली आंखों से देखा। क्या यह सत्य हो सकता है?

हो सकता है—क्योंकि ईसा भगवती माता के पुत्र थे।

२५-११-१९३३

*

मालूम होता है कि तुम उच्चतर अध्यात्मभावापन्न मन के किसी लोक में ऊपर उठ गये हो और साथ ही उसमें भागवत सत्य की शक्ति को लिये हुए महेश्वरी

का अवतरण हुआ है। भौतिक चेतना में इसका फल यह हुआ कि तुमने सभी वस्तुओं में एक दिव्य चेतना और दिव्य जीवन को देखा और उच्चतर सत्य की सुनहली ज्योति से शरीर के सभी कोष प्रकाशित हो उठे।

अक्टूबर, १९३३

*

पिछली रात स्वप्न में मैंने देखा कि श्रीमाताजी के शरीर से मेरे शरीर में ज्योति आ रही है और उसे रूपांतरित कर रही है। दोनों ही शरीर स्थूल शरीरों से अधिक लम्बे थे और पत्थर की तरह धुंधले रंग के थे। इसका क्या अर्थ है?

बहुत अच्छा, यह श्रीमाताजी की ओर भौतिक चेतना का उद्घाटन है। तुमने जिसे देखा वह संभवतः अवचेतन शरीर था—इससे धुंधले रंग का अर्थ स्पष्ट हो जाता है—पत्थर स्थूल प्रकृति को सूचित करता है।

३०-९-१९३३

*

हाल में मैं देख रहा हूं कि शाम को छत से नीचे उतरने के पहले श्रीमाताजी वहां बड़ी देर तक खड़ी रहती हैं। मैं अनुभव करता हूं कि उस समय वे हमें विशेष रूप से कुछ देती हैं, इसलिये मैं ग्रहण करने तथा वे जो कुछ देती हैं उसे अनुभव करने के लिये एकाग्र होता हूं। परंतु आज शाम को सहसा मैंने देखा (जब मैं उनकी ओर ताकता हुआ ध्यान कर रहा था) कि उनका भौतिक शरीर विलीन हो गया,—उनके शरीर का कोई चिह्न वहां नहीं था, मानों वे वहां थी ही नहीं। फिर कुछ क्षणों के बाद उनकी आकृति पुनः प्रकट हो गयी। उस समय मुझे ऐसा लगा कि वे आकाश में मिल गयी थीं और सभी वस्तुओं के साथ एकाकार हो गयी थीं। मैंने भला ऐसा क्यों देखा?

श्रीमाताजी आवाहन या अभीप्सा करती हैं और जबतक वह कार्य पूरा नहीं हो जाता तबतक खड़ी रहती हैं। कल कुछ समय तक वह शरीर के बोध से परे चली गयी थीं और शायद इसी बात के कारण तुमने उन्हें उस रूपमें देखा।

२९-८-१९३२

*

आज प्रणाम-गृह में ध्यान करते समय मैंने सूक्ष्म रूप में देखा कि श्रीमाताजी गभीर ध्यान में डूब गयी हैं। मैंने उन्हें इस रूप में क्यों देखा?

श्रीमाताजी अपनी आंतर सत्ता में बराबर ही ध्यानावस्थित चेतना में रहती हैं—इसलिये यह बिलकुल स्वाभाविक है कि तुम उन्हें उस रूप में देखो।

५-६-१९३३

*

नींद में या ध्यान में ऐसा हुआ, मुझे याद नहीं पड़ता। मैं नाना प्रकार के फूलों की थाली लिये श्रीमां के पास जा रहा था। प्रणाम करने से पहले मैंने उन्हें "भगवत्प्रेम" के तीन फूल अर्पित किये। क्या इसका मेरी साधना से कोई संबंध है?

इस प्रसंग में यह ३ संख्या का क्या अर्थ है यह कुछ स्पष्ट नहीं। संभवतः यह सत्ता के तीन भागों में भगवान् के प्रेम के लिये अभीप्सा है।

१२-७-१९३६

*

मैंने माताजी को "अनासक्ति" के पुष्प के-से रंग में देखा। क्या इसका कोई अर्थ है?

इसका अर्थ अवश्य यही होगा कि माताजी तुम्हें यही शक्ति दे रही थीं या फिर तुम्हें उनसे इसी शक्ति की आवश्यकता थी।

१०-१-१९३४

*

माताजी एक पर्वत के शिखर पर बैठी हैं; एक सकरी पगडंडी उधर ले जा रही है और मैं क्रमशः उस ओर बढ़ रहा हूं।

यह केवल उच्चतर चेतना की उस पवित्रता और नीरवता का प्रतीक है जिस तक साधना के मार्ग से पहुंचना है। पर्वत कठिनाई का प्रतीक है क्योंकि व्यक्ति को एक या दूसरी ओर न फिसलकर सीधे जाना होगा।

*

दोपहर की झपकी के समय जो कुछ हुआ वह मैं आपको बता दूं। मैं माताजी की गोद में था। उन्होंने अपना रूपान्तरकारी करतल मेरे सिर पर रखा हुआ था। अपने अंगूठे से वे मेरे सिर के ब्रह्मकेन्द्र को दबा रही थीं या, यों कहना चाहिये कि, खोल रही थीं। मुझे लगने लगा मानों वहां से कोई चीज प्राप्त हुई हो। तब एकाएक चेतना किसी और लोक में जा पहुंची। शरीर के कोषों में भी अतिभौतिक प्रकाश का अनुभव हुआ, शरीर तो पहले ही प्रकाश से परिप्लावित हो चुका था। स्वयं भौतिक सत्ता भी ऊपर उठा ले जायी गयी। क्या आप कृपा करके इस दृग्विषय की व्याख्या करेंगे?

इसमें व्याख्या करने की कोई बात नहीं। यह ऐसा ही था जैसा तुमने इसका वर्णन किया है : एकदम ही चेतना को उच्चतर भूमिका में ऊंचा उठा ले जाना और साथ ही उस चेतना का भौतिक सत्ता में उतरना।

५-९-१९३४

*

अपने सिर के ऊपर मुझे अनंत और शाश्वत शांति का स्तर दिखायी देता है। श्रीमां इस स्तर की साम्राज्ञी हैं। वहां से मैं एक अनवरत ज्योतिर्धारा अपनी ओर आती अनुभव करता हूं। पहले वह मेरी उच्चतर सत्ता का स्पर्श करती हुई बिना किसी प्रतिरोध के उसमें से गुजर जाती है। किंतु फिर जब वह नीचे की ओर जाती है तो मार्ग में उसका प्रवाह तंग होकर एक छोटी-सी धारा का रूप ले लेता है जो ब्रह्मरंध्र में से गुजरती है। यह वर्णन आपको कैसा लगता है?

यह बिलकुल ठीक है। किंतु बहुतों में वह सारे सिर में से एक पुञ्ज रूपमें उतरती है, न कि ब्रह्मरंध्र में से एक धारा के रूप में।

१३-२-१९३६

*

माताजी अपने आसन पर विराजमान हैं। उनके पीछे अनेक फणोंवाला नाग उनके सिर पर छत्रच्छाया किये हुए है। उसका रंग चमकीला सुनहरा

है; प्रत्येक फण के केंद्र में एक चमकीला लाल गोल धब्बा है।

नाग 'प्रकृति-शक्ति' का प्रतीक है; सुनहरा = उच्चतर 'सत्य-प्रकृति'; अनेक फण = अनेक शक्तियां। लाल बहुत संभवतः महाकाली-शक्ति का चिह्न है। अपने फणों से सिर पर छत्रच्छाया करता हुआ नाग राजाधिराजता का प्रतीक है।

२३-१-१९३७

*

मुझे एक विषम चट्टान दिखायी देती है। उसपर सूर्य का प्रकाश पड़ता है और उसका आकार बदल जाता है; केन्द्र में एक खोखला वृत्त बन जाता है और चट्टानें अपने-आपको उस वृत्त के चारों ओर व्यवस्थित कर लेती है। वृत्त के केन्द्र में लगभग दो फीट ऊंची शिव की प्रस्तर-मूर्ति प्रकट होती है; उसके बाद शिव की इस मूर्ति से माताजी का आविर्भाव होता है। वे ध्यानस्थ हैं। सूर्य का प्रकाश माताजी की देह के ठीक पीछे पड़ता है। इसका क्या अर्थ है?

चट्टानें = भौतिक (अत्यंत जड़ सत्ता)।

जड़ सत्ता का उद्‌घाटित होना जो वहां आध्यात्मिक चेतना के निर्माण के लिये स्थान बना देता है।

शिव की प्रस्तर-मूर्ति = वहां नीरव आत्मा या ब्रह्म का (अनन्त की शांति, नीरवता एवं विशालता का, साक्षी पुरुष की पवित्रता का) साक्षात्कार।

इस नीरवता में से आविर्भूत होती है भगवती शक्ति जो जड़ के रूपांतर के लिये घनीभूत है।

सूर्य का प्रकाश = सत्य की ज्योति।

१२-१०-१९३६

*

परले दिन आपने मुझे समाधि में सचेतन रहने के लिये कहा था; मैंने इसके लिये जी-तोड़ यत्न किया और उसका परिणाम यह है : मैंने एक परम पावन देवी को एक स्थान में प्रवेश करते देखा जहां कुछ साधक उनके दर्शन के लिये एकत्रित थे। वे एक बंद कमरे में गयीं जहां हमें एक-एक करके जाना था। मैंने देखा कि हर एक को एक-दो मिनट दिये जा रहे थे जैसा हमारे दर्शन-दिनों में होता है। मेरी बारी अंत में आयी।

कमरे के बीचों-बीच वे देवी सादे कपड़े पहने विराजमान थीं। उनके मुंह की ओर देखे बिना मैंने अपना सिर उनकी गोद में रख दिया। उन्होंने अपने हाथ मेरे सिर पर रखकर मुझे हलके-से पुचकारा, इस बीच वे धीरे-धीरे कुछ ऐसा-सा गुनगुना रही थीं "उसे... प्राप्त हो जाये"; वाक्य का दूसरा शब्द मैं उस समय बिलकुल साफ-साफ पकड़ पाया था, पर अब याद नहीं कर पा रहा। वह किसी आध्यात्मिक शक्ति का नाम था। ज्यों ही उन्होंने यह वाक्य पूरा किया, मैंने उस शक्ति को एकाएक प्रबल धारा के रूप में मेरे सिर में प्रवेश करते अनुभव किया। कुछ क्षण बाद उन्होंने एक और शक्ति का नाम उच्चारित किया। इस शक्ति ने प्रचण्ड बल के साथ मेरा द्वार खटखटाया—इसकी तीव्रता चूर-चूर कर देनेवाली थी।

कुछ देर बाद मैंने सिर उठाकर उन देवी की ओर पहली बार दृष्टिपात किया। उनकी आकृति श्रीमां-जैसी दिखायी देती थी। तब मैंने उनसे कहा, "क्या मैं आपसे एक प्रश्न पूछ सकता हूं?" ऐसा प्रतीत हुआ कि उन्हें यह प्रश्न अच्छा नहीं लगा, पर क्योंकि उन्होंने इनकार नहीं किया था, मैंने फिर यही प्रश्न पूछा। इस बार उन्होंने कहा, "मुझे प्रश्नों का पूछे जाना पसंद नहीं।" (उन्होंने मुझे दो विभिन्न शक्तियों के जो उपहार दिये थे उन्हींके बारे में मैं पूछना चाहता था।) उसके बाद, मुझे याद नहीं मैंने क्या कहा। बहुत देर के बाद हम दोनों बाह्य चेतना में लौट आये, क्योंकि हम दोनों ही एक साथ समाधि में चले गये थे। इसका पता हमें तभी चला जब हमने द्वारपाल से पूछा कि हमने कितना समय साथ-साथ बिताया। उसके बाद मैंने उनसे कहा, "अवश्य ही आप समाधि में चली गयी होंगी और बस मैं भी आपके पीछे-पीछे वहीं पहुंच गया।"

यह सारा ही दृग्विषय मेरी समझ के परे है।

१. वे परम पावन देवी कौन थीं?

२. उन्होंने मुझे अपनी शक्तियों का दान देने का अनुग्रह क्यों किया?

३. समाधि के अंदर समाधि! यह एक नयी ही वस्तु है!

स्पष्टतः ही, वे परम पावन देवी स्वयं माताजी ही थीं—अपने अतिभौतिक रूप में। उन्हें प्रश्न पसंद न हों यह स्वाभाविक ही था—मानसिक प्रश्न माताजी को कभी भी विशेष पसंद नहीं और जब वे ध्यान करा रही होती हैं, जैसा कि वे इस अनुभव में करा रही थीं, तब तो बहुत ही कम। यह सचमुच में अजीब

उच्चतर शक्तियां "क्यों" (तुम्हारा वही शाश्वत क्यों)—दी गयीं यह पूछना सचमुच ही अजीब बात है। लोग शक्ति के उपहारों के विषय में किसी प्रकार की शंका नहीं करते और जब वे उपहार प्रदान करती हैं तो उनसे उनके प्रदान करने के कारणों की जिज्ञासा नहीं करते, वे बस उन्हें पाकर अतीव आनंदित होते हैं। निःसन्देह, समाधि के भीतर समाधि, क्योंकि तुम्हारी साधना समाधि में, समाधि के तरीकों के अनुसार ही चल रही थी। सचेतन निद्रा में भी यह इसी प्रकार चल सकती है।

*

जब मैं तीसरे पहर झपकी ले रहा था तब मुझे एक अत्यंत सुन्दर नारी के अन्तर्दर्शन हुए जो सूर्य-तले बैठी थी। सूर्य की किरणें या तो उसे घेरे थीं या उसी के शरीर से छिटक रही थीं—मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता कि वह कौन थी। उसकी आकृति और वेष-भूषा पूर्वीय की अपेक्षा कहीं अधिक यूरोपीय प्रतीत होती थी।

यह कोई नारी नहीं। नारी के शरीर से किरणें नहीं फूटतीं, न वह किरणों से घिरी ही होती है। बहुत संभवतः वह थी 'सूर्य-देवी' या अन्तर्ज्योति की शक्ति, श्रीमां की शक्तियों में से एक।

२०-१२-१९३५

*

आज हमें 'क्ष' ने बताया कि श्रीमां पूजा के दिन दुर्गा के विग्रह को उतारने का यत्न कर रही थीं।

कोई यत्न नहीं किया गया—दुर्गा का विग्रह उतरा।

जब मैं प्रणाम के लिये पहुंचा, माताजी की आकृति देखकर मुझे अनुभूति हुई कि वे स्वयं दुर्गा ही हैं। मैं नहीं जानता कि ऐसी अनुभूति उस दिन की पूजा के साथ संबद्ध होने के कारण उत्पन्न हुई, या उससे बिलकुल स्वतंत्र रूप में।

यह सब उस भौतिक मन की मूर्खता है जो आंतरिक अनुभूति या आंतरिक

प्रत्यक्ष को शब्दजाल से उड़ा देने में अपने को अति चतुर समझता है।

ये अनुभूतियां इतनी अनिश्चित और क्षणिक होती हैं, और फिर इनके साथ कोई ठोस अन्तर्दर्शन भी नहीं होता।

इन प्रथम स्पर्शों से तुम और क्या आशा करते हो!

इसका एक उदाहरण आपको देता हूं: मुझे यों सुनायी पड़ा मानों देवी भगवती मुझे कह रही हो, "मैं आ रही हूं" तथा ऐसी और बहुत-सी बातें जो मुझे अब याद नहीं।

ये वस्तुएं कम-से-कम इस बात का प्रमाण हैं कि आंतरिक मन और प्राण अतिभौतिक वस्तुओं की ओर खुलने का यत्न कर रहे हैं। परंतु ज्यों ही यह चीज शुरू हो, यदि तुम इसे तुरंत ही तुच्छ समझो तो यह भला कभी विकसित ही कैसे हो सकती है!

अब मैंने हृदय में एकाग्रता करना शुरू कर दिया है। गत रविवार को जब मैं ध्यान कर रहा था, मुझे आपके मुखमंडल का अंतर्दर्शन हुआ, वह कोई एक घंटा भर मेरे सामने तैरता-सा रहा, उसके साथ ही हुआ गहरे हर्षोल्लास का अनुभव। मैं पूर्णरूप से सचेतन था, पर शरीर बिलकुल सुन्न पड़ गया था। क्या मेरे अंदर कोई चीज खुल गयी है? क्या यह सब देवी भगवती के दिये हुए वचन का पूरा होना है?

यह ऐसा ही लगता है। कुछ भी हो, स्पष्टतः ही हृदय-केन्द्र में उद्घाटन हुआ है, नहीं तो तुममें यह परिवर्तन न होता और न शरीर में भौतिक चेतना के निश्चल होने के साथ-साथ यह अन्तर्दर्शन ही होता।

साक्षात्कार और श्रीमां का अन्तर्दर्शन

क्या श्रीमां के अन्तर्दर्शन को अथवा स्वप्न या जागरित अवस्था में उन्हें देखने को साक्षात्कार कहा जा सकता है?

वह साक्षात्कार न होकर अनुभव होगा। साक्षात्कार होगा अपने अंदर माताजी

की उपस्थिति को देखना, उनकी शक्ति को कार्य करते अनुभव करना—अथवा सर्वत्र शांति या निश्चल-नीरवता का, वैश्व प्रेम, वैश्व सौन्दर्य या आनंद आदि-आदि का साक्षात्कार करना। अन्तर्दर्शन अनुभवों की श्रेणी में आते हैं, जबतक वे अपने को स्थिर रूप से प्रतिष्ठित न कर लें और उनके साथ एक ऐसा साक्षात्कार न हो जिसे वे मानों सहारा देते हैं—उदाहरणार्थ, हृदय में या सिर के ऊपर सदा माताजी का सूक्ष्मदर्शन इत्यादि।

१२-३-१९३४

अन्तर्दर्शन की क्षमता और आध्यात्मिक उन्नति

कुछ लोगों को माताजी के चारों ओर ज्योति आदि के दर्शन होते हैं पर मुझे नहीं होते। मेरे अंदर क्या रुकावट है?

यह कोई रुकावट नहीं—यह केवल आंतरिक इन्द्रियों के विकास का प्रश्न है। इसका आध्यात्मिक उन्नति के साथ कोई अनिवार्य संबंध नहीं। कुछ लोग पथ पर बहुत आगे बढ़ चुके हैं पर उन्हें इस प्रकार का अन्तर्दर्शन यदि होता भी है तो बहुत ही कम—दूसरी ओर, कभी-कभी यह निरे आरंभिक साधकों में, जिन्हें अभी केवल अत्यंत प्राथमिक आध्यात्मिक अनुभव ही हुए होते हैं, बहुत बड़ी मात्रा में विकसित हो जाता है।

१-१२-१९३३

*

'क्ष' ने मुझे बताया, "पांडिचेरी में पैर रखने से चिरकाल पूर्व मुझे भगवती माता के साथ सतत संपर्क प्राप्त हो चुका था। मैं उन्हें केवल ध्यान या अन्तर्दर्शन में ही नहीं देखती थी अपितु अपनी पूरी उघड़ी आंखों के सामने भी ठोस रूप में देखा करती थी। मैं प्रायः ही उनसे बातचीत किया करती थी, विशेषकर अपनी कठिन घड़ियों में जब वे आकर मुझे बताया करती थीं कि मुझे क्या करना चाहिये। इतनी बात अवश्य है कि जबतक मैंने इस स्थान के दर्शन नहीं किये तबतक मुझे यह मालूम नहीं था कि भगवती माता आश्रम की श्रीमां से भिन्न और कोई नहीं, और उन्होंने ही अपने को इस भौतिक सांचे में ढाल रखा है।" हां तो, मैं इतना अधिक व्यवहारवादी हूं कि ऐसी सब बातों पर

विश्वास नहीं कर सकता, विशेषकर, नंगी आंखों से श्रीमां के दर्शन करने के उसके दावे पर, जिसका अर्थ होगा— **साधना में आगे बढ़े होना।**

पर इसमें असंभाव्य कुछ भी नहीं। इसका अर्थ केवल यही है कि उसने अपने आन्तर दिव्यदर्शन और अनुभव को बाह्य रूप दिया जिससे वह स्थूल आंखों से भी देख सके, पर देखती थी आन्तर दृष्टि ही और सुनती भी आन्तर श्रवण-शक्ति ही थी, न कि भौतिक दृष्टि या श्रवणशक्ति। यह काफी सामान्य बात है। यह "आगे बढ़ी हुई" साधना की सूचक नहीं,—"आगे बढ़ी हुई" इन शब्दों का अर्थ कुछ भी क्यों न हो,—वरन् यह केवल विशेष क्षमता की सूचक है।

२-७-१९३६

*

ये वस्तुएं (अपने आराध्य देवता के दर्शन करना और उनसे बातचीत करना) योगाभ्यासियों में सर्वत्र ही अतीव सामान्य रूप से देखने में आती हैं। इस आश्रम में साधक इतने अधिक बुद्धिप्रधान, सन्देहवादी और यथातथ्यवादी हैं कि इस प्रकार का अनुभव अधिक नहीं प्राप्त कर सकते। यहांतक कि जो लोग इसे विकसित कर सकते हैं वे भी वायुमण्डल में प्रबलता से छायी हुई बहिर्मुख और भौतिकताग्रस्त मनोवृत्ति के कारण वंचित हो जाते हैं।

२-७-१९३६

*

यह बात साधना की एक विशेष अवस्था में उन लोगों के लिये बिलकुल सामान्य है जिनमें अपने आराध्य देवता के दर्शन करने या उनकी वाणी सुनने और कार्य या साधना के संबंध में उस इष्टदेव या इष्टदेवी से सतत आदेश-निर्देश ग्रहण करने की क्षमता होती है। त्रुटियां और कठिनाइयां बनी रह सकती हैं, पर यह बात सीधे मार्गदर्शन की सत्यता में बाधक नहीं हो सकती। ऐसे दृष्टान्तों में गुरु की आवश्यकता यह देखने के लिये होती है कि वह अनुभव, वाणी या अन्तर्दर्शन यथार्थ है या नहीं—क्योंकि झूठे मार्गदर्शन का प्राप्त होना भी संभव है, जैसा 'क्ष' और 'य' को प्राप्त हुआ।

८-७-१९३६

स्वप्न में माताजी को देखना

कल रात स्वप्न में मुझे माताजी का रूप दिखायी दिया। क्या वह वास्तविक था या उसमें केवल कल्पना ही कार्य कर रही थी?

वास्तविक से तुम्हारा क्या मतलब है? वह स्वप्नानुभव में माताजी का रूप था। कल्पना केवल जाग्रत् मन से संबंध रखती है।

३-७-१९३३

*

पर क्या मिथ्या शक्तियां माताजी का रूप नहीं धार सकतीं?

यदि मिथ्या शक्तियां माताजी का रूप धारें तो वह किसी बुरे उद्देश्य से होगा। यदि कोई आक्रमण नहीं हुआ या गलत सुझाव नहीं दिया गया तो तुम्हें यह कल्पना करने की जरूरत नहीं कि झूठी शक्तियों ने ही यह रूप धारा है।

निःसन्देह, यह सदैव संभव है कि तुम्हारी अपनी चेतना की कोई वस्तु माताजी के विषय में स्वप्न रच ले या उनका आकार वहां ला खड़ा करे जब कि वे वहां स्वयं उपस्थित न हों। ऐसा तब होता है जब वह किसी और स्तर का अनुभव न होकर एक निरा स्वप्न हो, अर्थात् मन के बहुत से विचार और स्मृतियां आदि एकत्र कर दिये गये हों।

५-७-१९३३

*

अवश्य ही, माताजी अपने भौतिक रूप के अतिरिक्त अन्य अनेक रूपों में प्रकट हो सकती हैं, और यद्यपि मैं उनसे कहीं कम अनेक-रूपधारी हूं तथापि मैं भी रूप धार सकता हूं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि तुम किसी भी महाशय को मैं और किसी भी महिला को माताजी समझ सकते हो। तुम्हारे स्वप्नगत आत्मा को एक प्रकार का विवेक विकसित करना होगा। वह विवेक अपना कार्य चिह्नों और रूपों के आधार पर नहीं कर सकता, क्योंकि प्राणलोक के भिक्षुक लगभग हर एक वस्तु का अनुकरण कर सकते हैं—अतः उसे (विवेक को) अन्तर्ज्ञानमय होना चाहिये।

२३-५-१९३५

आपकी पुस्तक "Bases of Yoga" (बेसिज़ ऑफ योग, "योग के आधार") में एक स्थान पर यह आता है, "तुम माताजी के साथ ही बातचीत करते हो जो सदा तुम्हारे साथ और तुम्हारे अंदर हैं।" क्या आप कृपा करके मुझे समझा सकते हैं कि व्यक्ति माताजी के साथ कैसे बातचीत करता है?

व्यक्ति वाणी या विचार को अपने अंदर बोलते हुए सुनता है और वह उत्तर भी अंदर-ही-अंदर देता है। इतना जरूर है कि यदि साधक में अहंभाव, कामना, मिथ्याभिमान, महत्त्वाकांक्षा के रूप में किसी प्रकार की असत्यहृदयता हो तो इस प्रकार की बातचीत उसके लिये सदा निरापद नहीं होती—क्योंकि तब वह अपने मन में स्वयं एक वाणी या विचार रचकर उसे माताजी पर आरोपित कर सकता है और वह वाणी या विचार उससे ऐसी प्रिय और खुशामदभरी बातें कहेगा जो उसे पथभ्रांत कर देंगी। या फिर यह भी हो सकता है कि वह किसी अन्य 'वाणी' को माताजी की समझ बैठें।

२-७-१९३६

*

क्या मनुष्य केवल अंदर से आनेवाली वाणी पर निर्भर कर सकता है और इस प्रकार माताजी के द्वारा परिचालित हो सकता है?

यदि वह माताजी की वाणी हो; पर तुम्हें इसका पक्का निश्चय होना चाहिये।

७-७-१९३३

*

क्या यह तथ्य नहीं कि अन्तर में माताजी की वाणी सुनना और उसे उनकी करके पहचान पाना आसान है?

नहीं, अपने अंदर माताजी की वाणी को सुनना और पहचान पाना सुगम नहीं।

८-७-१९३३

*

कब व्यक्ति को अंदर से माताजी की वाणी सुनने के लिये तैयार कहा जाता है?

जब उसमें समता, विवेक और पर्याप्त यौगिक अनुभव हो—अन्यथा किसी भी वाणी को माताजी का समझ बैठने की संभावना रहती है।

७-७-१९३३

*

प्रणाम के समय माताजी की गोद में अपना सिर रखते हुए मुझे एक वाणी सुनायी दी। वह माताजी की लगी। क्या सचमुच में उन्होंने मुझे अंदर से कुछ कहा था या यह निरा मेरा भ्रम था?

हो सकता है कि माताजी ने तुमसे कोई बात कही हो। पर इस समय उन्हें ऐसा याद नहीं पड़ता।

२७-४-१९३३

४

श्रीमाताजी की उपस्थिति

सतत उपस्थिति

हमेशा इस तरह रहो मानों तुम परात्पर प्रभु और भगवती माता की आंखों के एकदम नीचे हो। कोई ऐसा काम मत करो, कुछ भी ऐसा सोचने और अनुभव करने की चेष्टा मत करो जो भागवत उपस्थिति के लिये अनुपयुक्त हो।

माताजी की व्यक्तिगत और विश्वगत उपस्थिति

आपने लिखा है : "हमेशा इस तरह आचरण करो मानों माताजी तुम्हारी ओर ताक रही हों; क्योंकि वास्तव में वे हमेशा उपस्थित रहती हैं।" आपने मुझे समझाया था कि इसका अर्थ यह नहीं है कि वे भौतिक रूप में सर्वत्र उपस्थित रहती हैं, क्योंकि यह संभव नहीं है। परंतु मैंने जब इस विषय में माताजी से पूछा तो उन्होंने कहा कि वे सब स्थानों पर व्यक्तिगत रूप से उपस्थित रहती हैं। भला इन विरोधी वक्तव्यों में सामंजस्य कैसे बैठाया जाये?

अगर 'भौतिक रूप से' का मतलब तुम 'शरीर से'—उनके दृश्य ठोस जड़ शरीर से—समझते हो तो यह स्पष्ट है कि ऐसा नहीं हो सकता। जब तुमने माताजी से वह प्रश्न पूछा था तब उन्होंने तुम्हारा यह मतलब नहीं समझा था —उन्होंने कहा कि वे सर्वत्र उपस्थित रह सकती हैं, और निश्चय ही उनका मतलब अपनी चेतना में उपस्थित रहने से था। एक चेतना ही—शरीर नहीं—हमारे भीतर 'पुरुष', 'व्यक्ति' है, शरीर तो केवल चेतना के कार्य के लिये एक आधार और यन्त्र है। अपनी चेतना में माताजी व्यक्तिगत रूप से उपस्थित रह सकती हैं। विश्वगत रूप की उपस्थिति, निस्सन्देह, हमेशा रहती है और विश्वगत तथा व्यक्तिगत एक ही सत्ता के दो स्वरूप हैं।

२५-८-१९३६

माताजी का लोगों के विचारों और कार्यों को जानना

आपने कहा है, "हमेशा इस प्रकार व्यवहार करो मानों श्रीमां तुम्हारी ओर ताक रही हों; क्योंकि वह, सचमुच, हमेशा उपस्थित रहती हैं।" क्या इसका अर्थ यह है कि श्रीमाताजी हमारे सभी मामूली विचारों को सदा ही जानती हैं अथवा जब वह एकाग्र होती हैं केवल तभी जानती हैं?

यह कहा गया है कि माताजी हमेशा उपस्थित रहती हैं और तुम्हारी ओर ताक रही हैं। इसका मतलब यह नहीं कि अपने भौतिक मन में वे हमेशा तुम्हारी ही बात सोचती रहती हैं और तुम्हारे विचारों को देखती रहती हैं। इसकी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वे सर्वत्र हैं और अपने विश्वव्यापी ज्ञान के द्वारा सर्वत्र कार्य करती हैं।

१२-८-१९३३

*

किस अर्थ में माताजी सर्वत्र हैं—क्या भौतिक स्तर पर होनेवाली सभी घटनाओं को वे जानती हैं?

इस बात तक को कि आज लायड जार्ज ने क्या जलपान किया अथवा रूज-वेल्ट ने नौकरों के विषय में अपनी धर्मपत्नी से क्या कहा? भला क्यों माताजी को भौतिक स्तर पर होनेवाली सभी घटनाओं को मनुष्य के ढंग से "जानना" ही चाहिये? शरीर धारण करने पर उनका कार्य होता है विश्वशक्तियों की क्रियाओं को जानना और अपने कार्य के लिये उनका उपयोग करना; बाकी चीजों के संबंध में, जिन चीजों को जानने की उन्हें जरूरत होती है उन्हें वे जानती हैं—कभी तो अपनी आंतरिक सत्ता के द्वारा और कभी अपने भौतिक मन के द्वारा। अपने विश्वव्यापी आत्मा के अंदर उन्हें समस्त ज्ञान प्राप्त है, पर वे केवल उसी को आगे ले आती हैं जिसे आगे ले आने की आवश्यकता होती है, जिससे कि कार्य किया जा सके।

१३-८-१९३३

*

किसी आदमी का कहना है कि माताजी हमारी सभी भौतिक क्रियाओं

को देखती हैं। यह भला कैसे होता है? क्या हमारे सभी भौतिक कार्य उनके मन पर प्रतिबिम्बित होते हैं और छायाचित्र की तरह वे उन्हें देखती हैं अथवा जब हम लोग उन्हें करते हैं तब उसी समय वे उनकी चेतना में भी घटित होते हैं? पर क्या यह बात उन्हें बहुत घबरा देनेवाली और कष्ट देनेवाली नहीं होगी? और यह क्या अत्यंत स्थूल प्रकार की कोई "टेलीपैथी" नहीं होगी?

इसका कुछ मूल्य नहीं है। लोग जो कुछ करते हैं उसे माताजी देख सकती हैं; उनके छायाचित्र माताजी सूक्ष्म स्थिति में, जो नींद या ध्यान से मिलती-जुलती है, ग्रहण करती हैं अथवा साधारण स्थिति में उनके छायाचित्र या सूचनाएं प्राप्त करती हैं; परंतु इस तरह अपने-आप जो कुछ आता है उसका बहुत-सा अंश अनावश्यक ही होता है और प्रत्येक चीज को हमेशा ग्रहण करना असह्य दुःख देनेवाला ही होगा, क्योंकि वह लाखों तुच्छ चीजों में चेतना को लगाये रखेगा; अतएव वैसा नहीं होता। अधिक महत्त्व की बात है उनकी आंतरिक अवस्था को जानना और मुख्यतः यही उनके पास आती है।

२९-६-१९३७

*

(हाल में घटी एक घटना के विषय में) मेरी ऐसी धारणा थी कि माताजी को ऐसी बातों का तुरंत ज्ञान हो सकता है। कुछ लोग तो यहांतक कहते हैं कि वे सब कुछ जानती हैं—भौतिक या आध्यात्मिक जो कुछ भी है वह सब-का-सब। दूसरे यह मानते हैं कि वे केवल उन्हीं विषयों को जानती हैं जिनमें चेतना का उलझाव होता है, जैसे, कामुक चेष्टाएं इत्यादि, पर भौतिक वस्तुओं के विषय में वे उतना नहीं जानतीं।

हे भगवान्! तुम यह आशा नहीं करते कि उनका मन सभी स्तरों पर तथा सभी लोकों में घटित हो रही सभी घटनाओं का तथ्य-निरूपक विश्वकोष हो? अथवा इस भूतल पर ही, उदाहरणार्थ, लॉयड जार्ज ने कल रात क्या खाना खाया था?

निःसन्देह, चेतना के विषयों को तो वे सदैव अपने बाह्यतम स्थूल मन से भी जानती हैं। स्थूल भौतिक तथ्य वे जान अवश्य सकती हैं पर ऐसा करने के लिये वे बाध्य नहीं। यह कहना ठीक होगा कि यदि वे किसी विषय पर एकाग्रता करें या उसकी ओर उनका ध्यान खींचा जाये और वे उसे जानने का निश्चय

कर लें तो वे उसे जान सकती हैं। किसी के द्वारा किसी घटना की सूचना उन्हें मिलने से पहले ही मुझे बहुधा उनसे पता चल जाता है कि क्या घटना घटी है। पर सामान्यतया वे ऐसा करने की परवाह नहीं करतीं।

१६-७-१९३५

*

माताजी के ज्ञान के विषय में यह प्रश्न आज मेरे लिये और भी रोचक हो उठा। उन्होंने मुझे एक फूल दिया जिसका अर्थ है "अनुशासन"। मुझे आश्चर्य होने लगा कि क्यों यह विशेष फूल दिया गया है; अंत में मुझे याद आया कि कल 'क्ष' और 'य' के साथ भोजन करने के मामले में मैंने ठीक अनुशासन का पालन नहीं किया था।

इस विषय में माताजी अपने सहजबोधों से परिचालित होती हैं जो उन्हें यह बताते हैं कि किसी विशेष क्षण किस फूल की आवश्यकता है या कौन-सा फूल सहायक होगा। कभी तो उस सहजबोध के साथ चेतना की विशेष अवस्था का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, कभी भौतिक तथ्य का प्रत्यक्ष बोध; पर केवल कोरा तथ्य ही, उदाहरणार्थ, साधारणतया, वह ऐसा विवरण नहीं देगा कि "अमुक विशेष कार्य" किया गया अथवा 'क्ष' या 'य' बीच में कैसे आये। यह नहीं कि ऐसा विवरण प्राप्त होना असंभव है, पर यह अनावश्यक है और जबतक आवश्यकता न हो तबतक ऐसा नहीं होता।

१६-७-१९३५

*

माताजी हमारे विचार जान सकती हैं, पर क्या वे उन विचारों के ठीक-ठीक शब्द भी जान सकती हैं?

हां, यदि व्यक्ति का मन बहुत स्पष्ट हो तो; अन्यथा जो कुछ आता है वह केवल सार, या विचार का एक भाग या कोई सामान्य भाव ही हो सकता है।

१९-५-१९३३

*

'अ' के विषय में जो कुछ तुमने लिखा है वह ठीक है...। वह यह नहीं

समझती कि दूसरे उपायों से माताजी इन सब बातों को जानती हैं और कोई भी खबर जो उन्हें मिलती है वह केवल उनकी पहले से जानी हुई बात में ही विशेष भौतिक यथार्थता जोड़ देती है।

जब वह माताजी के विरुद्ध ऐसे-ऐसे विचार रखती है तब वह भला कैसे खुल सकती है? ये विचार अनिवार्य रूप में उसे माताजी के प्रभाव की ओर से बंद ही कर देंगे।

माताजी ने उसे लिखा है कि 'य' ने कुछ नहीं कहा था और उन्होंने बिना कोई खबर पाये स्वयं 'अ' की आंतर सत्ता से ही उसके विषय में सारी बातें जान ली थीं; उसकी आंतर सत्ता निरन्तर उनके पास आती है और उनसे कहती है अथवा जो कुछ उसकी प्रकृति में है उसे उन्हें दिखा देती है।

इसके अतिरिक्त माताजी सूक्ष्म दर्शन के अंदर चीजों को देखती हैं और प्रणाम या अन्य समयों पर साधकों के विचारों को ग्रहण करती हैं...। परंतु माताजी इन अतिभौतिक सूचनाओं के आधार पर कभी कार्य नहीं करतीं, तबतक नहीं करतीं जबतक कि कोई भौतिक प्रमाण नहीं मिल जाता, जैसे कि इस प्रसंग में स्वयं पत्र से मिला। कारण, कोई भी आदमी उनके कार्य को नहीं समझेगा—भौतिक मन में रहनेवाले साधक उनके कार्य को निराधार बतलायेंगे, और जिनपर इसका असर पड़ेगा वे अपने गुप्त विचारों, भावनाओं और क्रियाओं को जोरों से अस्वीकार करेंगे, जैसा कि पहले बहुत-से लोगों ने किया है। यह सब मैं खानगी तौर से तुम्हें बता रहा हूं जिससे कि तुम यह समझ सको कि 'अ' के नाम लिखे माताजी के पत्रों का सच्चा आधार क्या है।

१०-९-१९३६

माताजी की अंशविभूतियां

आपके इस कथन का ठीक-ठीक अभिप्राय क्या है : "सदा इस प्रकार आचरण करो मानों माताजी तुम्हारी ओर ताक रही हों; क्योंकि वे सचमुच में सदा उपस्थित रहती हैं"?

माताजी की एक अंशविभूति प्रत्येक साधक के साथ हर समय विद्यमान रहती है। पुराने दिनों की बात है जब वे सारी रात समाधि में बिताया करती थीं और आश्रम में कार्य नहीं करती थीं, वे अपने साथ उस सबका ज्ञान लेकर लौटा करता थीं जो कुछ भी किसी भी व्यक्ति के साथ होता था। आजकल वैसा

करने के लिये उनके पास समय नहीं।

१६-७-१९३५

*

यह सब अत्यंत मनोरंजक है; और मैं समझता हूं स्वयं आपकी भी इतनी अंशविभूतियां हैं। अवश्य ही उनका उद्देश्य होगा हमें संरक्षण प्रदान करना।

अपनी किन्हीं भी अंशविभूतियों के बारे में मुझे कुछ पता नहीं। जहांतक माताजी की अंशविभूतियों का संबंध है, वे वहां संरक्षण देने के लिये नहीं बल्कि व्यक्ति के साथ वैयक्तिक संबंध या संपर्क को सहारा देने के लिये उपस्थित हैं, और जहांतक वह उन्हें क्रिया करने दे वहांतक क्रिया करने के लिये भी।

१६-७-१९३५

*

कृपया हमें अंशविभूतियों के विषय में समझाने के लिये इन पर कुछ अधिक प्रकाश डालिये। कैसे वे वैयक्तिक संबंध को सहारा देती हैं? मैं समझता था कि सभी वैयक्तिक संबंध सीधे माताजी के साथ होते हैं; किसी सहकारी के द्वारा नहीं! जब 'क्ष' कहता है कि उसे माताजी का भौतिक स्पर्श अनुभूत होता है, तो उसका संपर्क किसके साथ होता है— माताजी या अंशविभूति? और फिर, माताजी के जो विभिन्न रूप हम स्वप्नों में देखते हैं वे भी क्या उनकी अंशविभूतियां होते हैं?

इन वस्तुओं के संबंध में लिखना नितांत ही कठिन है, क्योंकि तुम सब इनके विषय में महामूढ़ हो और पग-पग पर समझने में गलती करते हो। अंश-विभूति माताजी की कोई सहकारी नहीं, स्वयं माताजी ही होती हैं। वे अपने शरीर से बंधी नहीं, बल्कि अपने को जिस रूप में चाहें बाहर प्रकट कर सकती हैं (अपनी अंशविभूति के रूप में बाहर जा सकती हैं)। जो अंश बाहर जाता है वह अपने को उस व्यक्तिगत संबंध के स्वरूप के अनुकूल बना लेता है जो माताजी का किसी साधक-विशेष के साथ होता है और वह संबंध प्रत्येक साधक के साथ अलग-अलग होता है, पर ऐसा करने से उस अंशविभूति के

स्वयं माताजी ही बने रहने में कोई बाधा नहीं पड़ती। उस अंश का साधक के समीप उपस्थित रहना उसके विषय में साधक की सचेतनता पर निर्भर नहीं करता। यदि प्रत्येक वस्तु साधक की उपरितलीय चेतना पर ही निर्भर करे तो कहीं भी दिव्य क्रिया के होने की संभावना नहीं रहेगी; मानव-कीट नित्य-शाश्वत काल के लिये मानव-कीट ही रहेगा और मानव-गर्दभ मानव-गर्दभ। कारण, यदि भगवान् पर्दे के पीछे न रह सकते हों तो कैसे इनमें से कोई युग-युग तक भी अपने कीटपने और गर्दभपने के सिवा किसी और चीज से कभी भी सचेतन हो सकेगा?

("जब 'क्ष' कहता है कि उसे माताजी का भौतिक स्पर्श अनुभूत होता है तो उसका संपर्क किसके साथ होता है...?" इस प्रश्न के सामने हाशिये में श्रीअरविन्द ने लिखा, "माताजी के साथ—अंशविभूति उसमें सहायता करती है—उसका काम ही यही है।")

१९-७-१९३५

*

माताजी जब अतिभौतिक स्तर पर कार्य करती हैं तो वे बाहर एक भिन्न प्रकार की अंशविभूति के रूप में प्रत्येक साधक के पास जाती हैं।

११-१२-१९३३

*

स्वप्नावस्था में होनेवाले अनुभव में हमें कभी-कभी माताजी के दर्शन होते हैं। क्या वह रूप उनकी अंशविभूति होता है या स्वयं उनका शरीर ही?

एक अंशविभूति। उनका भौतिक शरीर स्वप्नानुभव में भला कैसे दिखायी दे सकता है?

७-७-१९३३

*

ऐसा लगता है कि तीसरे पहर की नींद के समय मुझे बहुधा माताजी का संपर्क प्राप्त होता है। क्या तब माताजी ही अपनी अंशविभूति भेजती हैं?

हां, या वास्तव में उनका कोई अंश सदा ही तुम्हारे साथ रहता है।

१४-१२-१९३३

माताजी की उपस्थिति और भागवत चेतना

क्या माताजी की उपस्थिति और भागवत चेतना में कोई भेद है?

भागवत चेतना को मनुष्य निर्वैयक्तिक तौर पर, केवल एक नयी चेतना के रूप में ही, अनुभव कर सकता है। माताजी की उपस्थिति इससे अधिक कुछ है— मनुष्य साक्षात् उन्हींको अपने अंदर या ऊपर उपस्थित या उसे चारों ओर से घेरे हुए अनुभव करता है या ये सभी चीजें एक साथ।

८-७-१९३५

अंतर में माताजी की उपस्थिति

उसे अपने भीतर जाना होगा और अंतर में भगवती माता की और हृदय के पीछे चैत्य पुरुष की उपस्थिति को ढूंढ़ निकालना होगा और फिर वहीं से ज्ञान आयेगा और आंतरिक बाधाओं को विलीन कर देने की समस्त शक्ति आयेगी।

श्रीमाताजी की उपस्थिति

माताजी की सतत उपस्थिति अभ्यास के द्वारा आती है; साधना में सफलता पाने के लिये भागवत कृपा अत्यंत आवश्यक है, पर अभ्यास ही वह चीज है जो कृपा-शक्ति के अवतरण के लिये तैयारी करती है।

तुम्हें भीतर की ओर जाना सीखना होगा, केवल बाहरी चीजों में ही रहना बंद करना होगा, मन को स्थिर करना होगा और अपने अंदर होनेवाली माताजी की क्रिया के विषय में सचेतन होने की अभीप्सा करनी होगी।

*

हमारा विश्वास है कि माताजी हम सबके अंदर साधना कर रही हैं, विशेषकर हृदय के द्वारा; पर यह कैसी बात है कि हम इसे विरले ही अनुभव करते हैं? अवश्य ही हमारे अंदर कोई पर्दा है।

यह एक ऐसा पर्दा है जो तब हट जाता है जब माताजी की क्रिया और उनकी

उपस्थिति सब समय सचेतन रूप से अनुभूत होती है।

७-१-१९३५

*

माताजी की ठोस उपस्थिति को मनुष्य सब समय कैसे और कब अनुभव कर सकता है?

यह प्रथम तो चैत्य की सतत क्रिया का विषय है और दूसरे भौतिक सत्ता के परिवर्तन का तथा आंतरिक अतिभौतिक अनुभव की ओर उसके खुलाव का। प्राण और उसके उपद्रवों के अतिरिक्त भौतिक सत्ता यौगिक चेतना और अनुभव की अविच्छिन्न धारा को स्थापित करनेमें प्रधान बाधा है। यदि भौतिक सत्ता पूर्णतया रूपांतरित—उन्मुक्त और सचेतन—हो जाये तो स्थिरता और अविच्छिन्नता सुलभ हो जाती हैं।

१६-१०-१९३३

*

साधना में यह बात बिलकुल ठीक है और ठीक चेतना का ही अंग है कि तुम हृदय में माताजी की ओर आकर्षण अनुभव करो और उनकी उपस्थिति के सूक्ष्म दर्शन एवं साक्षात्कार के लिये अभीप्सा करो। किन्तु इस अनुभूति के साथ किसी प्रकार की बेचैनी नहीं जुड़ी होनी चाहिये। वह अनुभूति शांत रूप से तीव्र होनी चाहिये। तब यह अधिक आसान हो जायेगा कि तुम्हें उपस्थिति का संवेदन हो और वह तुम्हारे अंदर बढ़ता जाये।

उपस्थिति और प्रतिमूर्ति

क्या यह सच है कि जब उपस्थिति (प्रतिमूर्ति) हृदय में दिखायी देती है तो निम्न प्रकृति की सभी आदतें और क्रियाएं विलुप्त हो जाती हैं?

प्रतिमूर्ति और उपस्थिति एक ही वस्तु नहीं। मनुष्य प्रतिमूर्ति को देखे बिना भी उपस्थिति को अनुभव कर सकता है। परंतु तुमने जिन परिणामों का उल्लेख किया है उन्हें उत्पन्न करने के लिये हृदय में 'उपस्थिति' ही पर्याप्त नहीं, उसके लिये यह आवश्यक है कि 'उपस्थिति' संपूर्ण चेतना में हो और माताजी की शक्ति प्रकृति की समस्त क्रियाओं पर शासन करे।

सामने माताजी की उपस्थिति

शाम के ध्यान में हृदय से समर्पण की तीव्र क्रिया हो रही थी। तुरत मुझे अपने सामने माताजी की उपस्थिति का बोध हुआ और पैरों के नीचे से, पैरों से, मूलाधार चक्र से अभीप्सा उठने लगी; हृदय से, समस्त सत्ता से एक स्वेच्छाकृत और प्रेमपूर्ण समर्पण का भाव मानों संसिद्ध होने के लिये निकल रहा था। मैं समझता हूं कि चैत्य पुरुष सामने आ गया था। पर मैंने माताजी की उपस्थिति को अपने सामने क्यों अनुभव किया, अपने भीतर क्यों नहीं?

उस समय तुम्हें चैत्य-पुरुषोचित अवस्था प्राप्त हुई थी और उसका मतलब है कि चैत्य-पुरुष का प्रभाव सामने आ रहा है। जब पूर्ण चैत्य उद्घाटन हो जाता है तभी उपस्थिति अंदर आती है। उपस्थिति के सामने होने का यह अर्थ है कि वह तुम्हारे साथ है पर अभी भीतर प्रवेश करना उसके लिये बाकी है।

१३-७-१९३७

हृदय की धड़कन में उपस्थिति का अनुभव

पर मैं कोई कारण नहीं देखता कि क्यों मैं उस अनुभव को भावुकता कहूं और यह समझूं कि हृदय की धड़कनों आदि में माताजी की उपस्थिति का तुम्हारा बोध झूठा था। तुम्हारे चैत्य पुरुष ने ही तुम्हें यह सुझाव दिया था और उसका प्रत्युत्तर यह सूचित करता है कि चेतना तैयार थी। माताजी ने अनुभव किया था कि तुम्हारे अंदर कुछ घटित हो रहा है और यह अनुभव किया कि यह किसी उपलब्धि का आरंभ है—वे उसे प्रोत्साहित कर रही थीं; उन्होंने उसे निरुत्साहित नहीं किया। अगर वह कोई गलत या प्राणिक क्रिया होती, तो उन्होंने उस तरह अनुभव न किया होता।

१३-८-१९३४

दिन के समय उपस्थिति का अनुभव

अगर तुम दिन के अधिकतर भाग में माताजी की उपस्थिति को अनुभव करते हो तो इसका अर्थ यह है कि वास्तव में तुम्हारा चैत्य पुरुष क्रियाशील हो रहा है और वही इस तरह अनुभव कर रहा है। क्योंकि चैत्य पुरुष की क्रिया के

बिना यह संभव नहीं होता। अतएव तुम्हारा चैत्य पुरुष मौजूद है और वह बिलकुल दूर नहीं है।

१४-३-१९३५

नींद में उपस्थिति का अनुभव

यह (नींद में माताजी की उपस्थिति का अनुभव) स्वभावतः जागृत अवस्था में उपस्थिति के बोध के बाद आता है, पर इसमें थोड़ा समय लगता है।

११-१-१९३५

क्या व्यक्ति निद्रा में भी माताजी की उपस्थिति के प्रति पूर्णतया जाग्रत् हो सकता है?

ऐसा होता अवश्य है, पर साधारणतः केवल तभी जब अंतरात्मा की क्रिया अपने पूरे जोर पर हो।

काम में उपस्थिति का अनुभव

अधिकांश लोगों के लिये काम के साथ-साथ माताजी की उपस्थिति को अनुभव करना आसान नहीं है—वे अनुभव करते हैं मानों वे काम कर रहे हों, मन काम में व्यस्त होता जाता है और समुचित निष्क्रियता या स्थिरता नहीं रख पाता।

माताजी की उपस्थिति और एकता का बोध

यह कोई आवश्यक नियम नहीं है कि सबसे पहले मनुष्य को उपस्थिति का अनुभव प्राप्त करना चाहिये और फिर उसके बाद ही वह यह अनुभव कर सकता है कि वह माताजी का है। बल्कि अधिकतर यह होता है कि इस (उनका होने के) अनुभव के बढ़ने से ही वह उपस्थिति आती है। क्योंकि यह अनुभव आता है चैत्य चेतना से और उस चैत्य चेतना के बढ़ जाने से ही अंत में सतत उपस्थिति का बना रहना संभव होता है। यह अनुभव चैत्य पुरुष से आता है और आंतर सत्ता का जहांतक संबंध है यह सत्य है—इसका अभी

तक संपूर्ण सत्ता में सिद्ध न हो पाना इसे 'कल्पना' नहीं बना देता—बल्कि इसके विपरीत, जितना ही अधिक यह बढ़ता है उतनी ही अधिक समस्त सत्ता के इस सत्य को चरितार्थ करने की संभावना भी बढ़ जाती है। आंतर भाव बाहरी चेतना के ऊपर अपना अधिकाधिक अधिकार जमाता जाता है और उसे इस तरह फिर से गढ़ता है कि वह यहां भी एक सत्य बन जाये। यही है यौगिक रूपांतर के अंदर कर्म का अटल सिद्धांत—जो कुछ सत्य है वह बाहर आ जाता है, मन, हृदय तथा संकल्पशक्ति पर अपना अधिकार जमा लेता है और उनके द्वारा बाह्य अंगों के अज्ञान के ऊपर विजयी होता तथा वहां भी आंतर सत्य को प्रकट करता है।

१६-९-१९३६

*

मैंने माताजी को फ्रेंच में एक प्रार्थना लिखी। उन्होंने उसका यह उत्तर दिया : (Ouvre ton cœur et tu me trouveras déjà là.) ("अपना हृदय खोलो और वहां तुम मुझे पहले से ही उपस्थित पाओगे") इसका ठीक-ठीक अभिप्राय क्या है?

माताजी का अभिप्राय यह था कि जब हृदय का कुछ उन्मीलन हो जाता है तो तुम देखते हो कि शाश्वत एकत्व वहां सदा से ही था (वही एकत्व जिसे तुम ऊर्ध्वस्थ 'आत्मा' में सदैव अनुभव करते हो)।

२-७-१९३५

*

कुछ साधक कहते हैं कि उन्हें माताजी के साथ एकत्व प्राप्त है। मुझे संदेह है कि यह माताजी के साथ समीपता की उस अनुभूति से अधिक कुछ है जो उन्हें कभी-कभी प्राप्त होती है।

मैं समझता हूं कि वे माताजी की उपस्थिति को अनुभव करने का यत्न कर रहे हैं, इसलिये यदि उन्हें समीपता की किसी प्रकार की अनुभूति प्राप्त होती है तो वे उसे एकत्व कहते हैं। पर निःसन्देह वह एकत्व की ओर एक पगमात्र है एकत्व उससे कहीं अधिक कुछ है।

५-३-१९३४

*

कल आपने लिखा था, "उन्मीलन केवल अन्तर्दर्शनों से नहीं मापा जाता।" बिलकुल ठीक। पर शरीर के चारों ओर सूर्य और चन्द्र की किरणों के घुल-मिलकर एक हो जाने की अनुभूति, अवतरण की और अपने अंदर, पीछे तथा ऊपर माताजी की उपस्थिति की अनुभूति क्या एक असाधारण दिव्यदर्शन और अनुभव नहीं? क्या यह माताजी के प्रति पर्याप्त उद्घाटन हुए बिना प्राप्त हो सकता है?

हर ओर सूर्य और चांद को देखना या चारों ओर सर्वत्र माताजी की उपस्थिति अनुभव करना असाधारण क्यों होना चाहिये? ऐसे अनेकों साधक हैं जिन्हें यही या ऐसे अनुभव हुए हैं। सदा-सर्वदा इसी प्रकार माताजी की उपस्थिति अनुभव करना असाधारण हो सकता है। परंतु समय-समय पर इस प्रकार के अनुभव तो बहुतों को हो चुके हैं।

१५-९-१९३६

*

ध्यान के समय मुझे माताजी की चेतना के साथ एक प्रकार की एकता का अनुभव होता है; पर इन दिनों ध्यान में गहरे जाना मेरे लिये जरा भी संभव नहीं होता। क्या ध्यान किये बिना एकत्व की यह अनुभूति प्राप्त करना संभव नहीं?

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है चेतना का वह परिवर्तन जिसका एक अंग है एकत्व की यह अनुभूति। ध्यान में गहरे जाना तो एक साधनमात्र है और यदि महान् अनुभव इसके बिना ही आसानी से आ जाएं तो यह सदा आवश्यक नहीं होता।

८-४-१९३४

माताजी को पत्र लिखना और उनकी उपस्थिति का अनुभव करना

माताजी की उपस्थिति या निकटता का अनुभव करना इस बात पर निर्भर नहीं करता कि तुम उन्हें पत्र लिखते हो या नहीं। बहुत से लोग, जो बार-बार लिखते हैं, उसे अनुभव नहीं करते, कुछ लोग, जो प्रायः नहीं लिखते, उन्हें सर्वदा समीप अनुभव करते हैं।

११-६-१९३६

माताजी की उपस्थिति का आच्छादित हो जाना

माताजी की उपस्थिति हमेशा रहती ही है; पर तुम यदि स्वयं अपने ही ढंग से —अपनी निजी भावना, वस्तुओं के विषय में अपनी निजी धारणा, वस्तुओं के प्रति अपनी निजी इच्छा और मांग के अनुसार कार्य करने का निश्चय करो तो यह बिलकुल संभव है कि उनकी उपस्थिति आच्छादित हो जाये; वास्तव में स्वयं वे तुम्हारे पास से अलग नहीं हट जातीं, बल्कि तुम्हीं उनके पास से पीछे चले जाते हो। पर तुम्हारा मन और प्राण इसे स्वीकार नहीं करना चाहते, क्योंकि अपनी ही गतियों का समर्थन करना बराबर ही उनका अपना पेशा रहा है। और चैत्य पुरुष को उसका पूर्ण अधिकार दे दिया गया होता तो ऐसा न होता; उसने आच्छादन का अनुभव किया होता, बल्कि उसने तुरत यह कहा होता, "अवश्य मेरे अंदर ही कोई भूल रही होगी, मेरे अंदर कुहासा उत्पन्न हो गया है," और उसने कारण को खोजा और पा लिया होता।

२५-३-१९३२

*

जिस उपस्थिति के चले जाने के कारण तुम्हें दुःख हुआ है वह तभी अनुभूत हो सकती है जब कि आन्तर सत्ता समर्पित रहना जारी रखे और बाहरी प्रकृति को आन्तर आत्मा के साथ समस्वर बनाये रखा जाये अथवा कम-से-कम उसके स्पर्श के अधीन रखा जाये।

परंतु तुम यदि ऐसे कार्य करो जिन्हें तुम्हारी आन्तर सत्ता पसंद न करे तो अंत में यह अवस्था धीमी हो जायेगी और प्रत्येक बार उपस्थिति को अनुभव करने की संभावना कम होती जायेगी। अगर माताजी की कृपा को बनाये रखना है और उसे फलोत्पादक होना है तो तुम्हें शुद्धि के लिये एक सबल संकल्प रखना चाहिये और एक ऐसी अभीप्सा रखनी चाहिये जो न कभी ढीली पड़े और न बंद हो।

५

श्रीमाताजी के प्रति उद्‌घाटन और समर्पण

साधना का केन्द्रीय रहस्य

चैत्य सत्ता के श्रीमाताजी के प्रति खुले रहने से कार्य या साधना के लिये जो कुछ आवश्यक होता है वह सब धीरे-धीरे विकसित होता रहता है, यह एक रहस्य है, साधना का केन्द्रीय रहस्य है।

१३-२-१९३३

*

परंतु उपदेश के द्वारा न तो यह साधना सिखायी जाती है और न आगे चलायी जाती है। जो लोग अभीप्सा और श्रीमां का ध्यान करके अपने भीतर उनके कार्य और क्रियावली की ओर खुलने और उसे ग्रहण करने में समर्थ होते हैं केवल वे ही इस योग में सफल हो सकते हैं।

२१-६-१९३७

*

इन सब बातों के विषय में मन को परेशान करना और साधारण मन के द्वारा इन्हें व्यवस्थित करने की चेष्टा करना भूल है। जब तुम्हारी चेतना तैयार होगी तब श्रीमाताजी पर भरोसा रखने से ही आवश्यक उद्‌घाटन हो जायेगा। तुम्हारे वर्तमान कार्य को इस प्रकार व्यवस्थित करने में कोई हर्ज नहीं है जिसमें थोड़ा ध्यान करने के लिये समय और शक्ति बच जाये, पर केवल ध्यान के द्वारा ही आवश्यक चीज नहीं आयेगी। वह श्रद्धा और श्रीमां के प्रति खुले रहने से ही आ सकती है।

९-१०-१९३४

*

अपने-आपको माताजी की ओर खोले रखो और उनके साथ पूर्ण एकता बनाये रहो। अपने को उनके स्पर्श के प्रति पूर्णरूप से नमनीय बना दो और उन्हें तुम्हें पूर्णता की ओर वेगपूर्वक गढ़ने दो।

९-३-१९३४

*

बस तुम्हारा काम है अभीप्सा करना, अपने-आपको श्रीमां की ओर खुला रखना, जो भी चीजें उनकी इच्छा के विरुद्ध हैं उन सबका त्याग करना तथा अपने अंदर उन्हें कार्य करने देना—साथ ही अपने सभी कर्मों को उनके लिये ही करना और इस विश्वास के साथ करना कि केवल उनकी शक्ति के द्वारा ही तुम उन्हें कर सकते हो। इस तरह खुले रहो तो फिर यथासमय ज्ञान और उपलब्धि तुम्हें प्राप्त हो जायेंगी।

*

योगसाधना करने का मतलब ही है सब प्रकार की आसक्तियों को जीतने और एकमात्र भगवान् की ओर मुड़ जाने का संकल्प करना। योग की सबसे प्रधान बात है पग-पग पर भागवत कृपा पर विश्वास रखना, निरंतर अपने विचार भगवान् की ओर मोड़ते रहना और जबतक अपनी सत्ता उद्घाटित न हो जाये और आधार के अंदर कार्य करती हुई श्रीमां की शक्ति का अनुभव न हो सके तबतक अपने-आपको समर्पित करते रहना।

*

सभी चीजें भगवान् हैं क्योंकि भगवान् उनके अंदर है, पर है छुपा हुआ, प्रकट नहीं; जब मन बाहर वस्तुओं की ओर जाता है तो वह इस अनुभूति और भाव के साथ नहीं जाता कि उनमें भगवान् हैं, बल्कि उन बाह्य रूपों के लिये ही जाता है जो भगवान् को छुपाये हुए हैं। अतएव साधक के रूप में तुम्हारे लिये यह आवश्यक है कि तुम पूर्ण रूप से माताजी की ओर मुड़ो, जिनमें भगवान् प्रकट रूप में विद्यमान हैं, तथा उन बाह्य रूपों एवं प्रतीतियों के पीछे मत दौड़ो जिनकी कामना या जिनमें रुचि भगवान् के साथ तुम्हारे मिलन में बाधा पहुंचाती है। जब एक बार सत्ता समर्पित हो जाती है, तब वह सर्वत्र भगवान् को देख सकती है—और फिर वह बिना किसी पृथक् रुचि या कामना के सभी वस्तुओं को एक ही चेतना में समाविष्ट कर सकती है।

खुलने का ठीक तरीका

खुलने का क्या अर्थ है?

उसका अर्थ है श्रीमाताजी की उपस्थिति और उनकी शक्तियों को ग्रहण करना।

*

इस उद्घाटन को पाने का ठीक-ठीक और पूरा तरीका क्या है?

अभीप्सा, स्थिरता, ग्रहण करने के लिये अपने को फैलाना, उन सब चीजों का त्याग करना जो तुम्हें भगवान् की ओर से बंद कर देने की कोशिश करती हों।

*

यह कैसे जाना जा सकता है कि मैं श्रीमाताजी की ओर खुल रहा हूं, अन्य किसी शक्ति की ओर नहीं?

तुम्हें जाग्रत् रहना होगा और यह देखना होगा कि तुम्हारे अंदर विक्षोभ, कामना, अहंकार आदि की कोई क्रिया न हो।

*

श्रीमाताजी के प्रति सच्चे उद्घाटन के चिह्न क्या-क्या हैं?

वह स्वयं अपने-आपको तुरत दिखा देता है—जब तुम दिव्य शांति, समता, विशालता, ज्योति, आनंद, ज्ञान, शक्ति का अनुभव करते हो, जब तुम श्रीमाताजी के सान्निध्य या उपस्थिति या उनकी शक्ति की क्रिया आदि के विषय में सचेतन होते हो। अगर इनमें से किसी भी चीज का अनुभव हो तो इसका अर्थ है कि उद्घाटन है—अगर अधिक चीजों का अनुभव हो तो समझना होगा कि उद्घाटन अधिक पूर्ण है।

अप्रैल, १९३३

खुलना—इसका अर्थ क्या है? क्या यह कि "माताजी से कुछ भी छिपाकर न रखना"?

यह खुलने की ओर पहला कदम है।

१७-६-१९३३

*

भगवती माता की ओर कैसे खुला जाये?

शांत मन में श्रद्धा और समर्पण के द्वारा।

१८-६-१९३३

श्रीमां के प्रति उद्घाटन

खुले रहने का अर्थ है श्रीमां की ओर महज इस तरह मुड़े रहना कि उनकी शक्ति तुम्हारे अंदर कार्य कर सके और कोई भी चीज उसके कार्य को अस्वीकार न करे अथवा बाधा न पहुंचाये। अगर मन अपने निजी विचारों में ही बंद रहे और उसे अपने अंदर ज्योति और सत्य न लाने दे, अगर प्राण अपनी वासनाओं से चिपका रहे और जिस सच्चे प्रारंभ और जिन सब सत्य प्रवृत्तियों को श्रीमां की शक्ति ले आती है उन्हें न आने दे, अगर शरीर अपनी कामनाओं, आदतों और तामसिकता से अवरुद्ध हो, और ज्योति और शक्ति को अपने अंदर घुसने और कार्य करने न दे तो इसका अर्थ है कि व्यक्ति खुला नहीं है। एकदम आरंभ से ही अपनी समस्त गतिविधियों में पूर्ण रूप से उद्घाटित हो सकना संभव नहीं है, पर प्रत्येक भाग में एक केंद्रीय उद्घाटन और प्रत्येक अंग में (केवल मन में नहीं) एकमात्र श्रीमां की 'क्रिया' को ही होने देने की प्रबल अभीप्सा या संकल्प अवश्य होना चाहिये, तब बाकी चीजें धीरे-धीरे पूरी कर दी जायेंगी।

२८-१०-१९३४

*

श्रीमां की ओर खुले रहने का तात्पर्य है बराबर शांत-स्थिर और प्रसन्न बने रहना तथा दृढ़ विश्वास बनाये रखना—न कि चंचल होना, दुःख करना या हताश होना, अपने अंदर उनकी शक्ति को कार्य करने देना जो तुम्हारा पथ-प्रदर्शन कर सके, ज्ञान, शांति और आनंद दे सके। अगर तुम अपने को खुला न रख सको तो फिर उसके लिये निरंतर पर खूब शांति से यह अभीप्सा करो कि तुम उनकी ओर खुल सको।

*

कुछ असंतोष पैदा होकर माताजी की ओर खुल रहे हृदय पर आक्रमण करते हैं।

इन असंतोषों से पिण्ड छुड़ाओ, ये स्थायी चैत्य उन्मीलन में रुकावट डालते हैं।

*

क्योंकि चैत्य अभी-अभी खुलना शुरू कर रहा है, शायद इसीलिये वह

इन असन्तोषों के प्रभाव के अधीन हो जाता है?

चैत्य सदा यही अनुभव करता है कि "माताजी जो करती हैं वह अधिक-से-अधिक भले के लिये होता है," और वह सब कुछ प्रसन्नता से स्वीकार करता है। हृदय का प्राणिक भाव ही सुझावों से सहज में प्रभावित हो जाता है।

अन्तःसत्ता का उन्मीलन

क्या अन्तःसत्ता माताजी की ओर आप-से-आप खुल जाती है?

अन्तःसत्ता साधना के बिना या फिर जीवन में कोई चैत्य स्पर्श पाये बिना नहीं खुलती।

३०-११-१९३३

*

यह कौन-सा भाग है जो लिखने के द्वारा माताजी की ओर खुलने की चाह-सी अनुभव करता है, तब भी जब कि वही-की-वही चीज दुहरायी जाती रहती है?

वह आन्तरिक मन हो सकता है, वह चैत्य हो सकता है।

२८-११-१९३३

श्रीमां की कृपा ग्रहण करना

क्या माताजी की कृपा केवल साधारण होती है?

साधारण और विशेष दोनों प्रकार की होती है।

८-२-१९३४

जो कुछ वे साधारण रूप में देती हैं उसे कैसे ग्रहण किया जा सकता है?

तुम्हें सिर्फ अपने-आपको खोले रखना होगा और फिर जो कुछ तुम्हारे लिये

आवश्यक होगा और जो उस समय तुम ग्रहण कर सकोगे वह अपने-आप आयेगा।

१०-२-१९३४

*

क्या 'पुरुष' ही समस्त सत्ता में होनेवाले माताजी की करुणा के कार्य को अनुमति देता है?

हां।

अगर 'पुरुष' अनुमति न दे तो क्या इसका मतलब यह है कि अन्य सत्ताएं भी साधक को माताजी की कृपा ग्रहण करने के योग्य बनाने के लिये सामने नहीं आ सकतीं?

नहीं। पुरुष प्राय: ही पीछे रुक जाता है और अन्य सत्ताओं को अपने स्थान में अनुमति देने या त्याग देने का मौका देता है।

जब माताजी की कृपा नीचे साधक के ऊपर उतरती है तो क्या वह 'पुरुष' की अनुमति से ही आती है?

'अनुमति से' कहने का तुम्हारा तात्पर्य क्या है? माताजी की कृपा माताजी की इच्छा से नीचे उतरती है। 'पुरुष' कृपा को स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है।

अप्रैल, १९३३

उन्नति की शर्त

यदि कोई साधक अपनी प्रकृति की बाधाओं के कारण बहुत दिनों के बाद भी अपने को माताजी की ओर पूर्ण रूप से न खोल सके, तो क्या इसका अर्थ यह है कि वह माताजी द्वारा स्वीकृत नहीं होगा?

ऐसे प्रश्न का कोई अर्थ नहीं है। जो लोग यहां योग की साधना करते हैं वे माताजी द्वारा स्वीकृत हैं—क्योंकि 'स्वीकृत' का अर्थ है "योग में गृहीत, शिष्य-रूप में स्वीकृत।" परंतु योग में उन्नति करना और योग में सिद्धि पाना इस

बात पर निर्भर करता है कि कितनी मात्रा में साधक उद्‌घाटित हुआ है।

२४-६-१९३३

सच्चाई, उद्‌घाटन और रूपान्तर

'क्ष' कहता है कि माताजी ने उससे कहा कि अगर सच्चाई पूर्ण रूप से हो तो रूपान्तर एक ही दिन में हो जायेगा। मैं समझता हूं कि यह संभव नहीं हो सकता—परिवर्तन और रूपान्तर की एक लम्बी प्रक्रिया महज एक दिन के अंदर कैसे पूरी हो सकती है!

सच्चाई से माताजी का मतलब था एकमात्र भगवान् के प्रभाव के सिवा अन्य किसी प्रभाव की ओर न खुलना। अब अगर समूची सत्ता—शरीर का प्रत्येक कोष तक—इस अर्थ में सच्ची हो तो अत्यंत तीव्र रूपान्तर को कौन-सी चीज रोक सकती है? अज्ञान की प्रकृति के कारण, जिसमें से कि साधारण प्रकृति तैयार हुई है, लोग ऐसे नहीं हो सकते, भले ही उनका आलोकित अंग चाहे जितना भी ऐसा होना क्यों न चाहे—इसी कारण एक लम्बी और कष्ट-साध्य क्रिया की आवश्यकता होती है।

२६-७-१९३४

उद्‌घाटन की क्रमशः वृद्धि

सर्वदा आरंभ से ही उद्‌घाटन पूर्ण नहीं होता—सत्ता का एक अंग खुलता है, चेतना के दूसरे अंग तब भी बंद पड़े रहते हैं या केवल अधखुले होते हैं—तबतक अभीप्सा करते रहना चाहिये जबतक सब अंग न खुल जायें। सबसे अच्छे और अत्यंत शक्तिशाली साधकों को भी पूर्ण उद्‌घाटन में समय लगता है; और ऐसा कोई भी आदमी नहीं है जो बिना संघर्ष के तुरत सभी चीजों का त्याग करने में समर्थ हुआ हो। इसलिये ऐसा समझने का कोई कारण नहीं कि अगर तुम पुकारो तो तुम्हारी पुकार नहीं सुनी जायेगी—माताजी मानव-प्रकृति की कठिनाइयों को जानती हैं और वे बराबर तुम्हारी सहायता करेंगी। सदा प्रयास करते रहो, सदा पुकारते रहो और तब प्रत्येक कठिनाई के बाद कुछ-न-कुछ प्रगति होगी।

२०-४-१९३५

आन्तर और उच्चतर उद्घाटन

नित्य-स्मरण के द्वारा हमारी सत्ता पूर्ण उद्घाटन के लिये तैयार होती है। हृदय के खुल जाने पर श्रीमां की उपस्थिति का अनुभव होना आरंभ हो जाता है और, ऊपर की उनकी शक्ति की ओर उद्घाटित हो जाने पर उच्चतर चेतना की शक्ति नीचे शरीर में उतर आती है और वहां समूची प्रकृति को बदल देने के लिये कार्य करती है।

७-८-१९३४

*

इस योग की और कोई पद्धति नहीं है सिवा इसके कि चेतना को,—अच्छा हो कि हृदय में,—एकाग्र किया जाये और अपनी सत्ता को हाथ में लेने के लिये श्रीमां की उपस्थिति और शक्ति को पुकारा जाये और उनकी शक्ति की क्रिया के द्वारा चेतना को रूपांतरित किया जाये; कोई चाहे तो सिर में या भौंहों के बीच में भी चित्त को एकाग्र कर सकता है, पर बहुतों के लिये इन स्थानों में उद्घाटित होना अत्यंत कठिन है। जब मन स्थिर हो जाता है, एकाग्रता दृढ़ हो जाती है और अभीप्सा तीव्र हो जाती है, तब अनुभूति का आना आरंभ होता है। श्रद्धा जितनी ही अधिक होगी उतना ही शीघ्र फल भी दिखायी देने की संभावना है। बाकी चीजों के लिये साधक को केवल अपने ही प्रयास पर निर्भर नहीं करना चाहिये, बल्कि भगवान् के साथ संस्पर्श स्थापित करने और श्रीमां की शक्ति और उपस्थिति को ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त करने में सफल होना चाहिये।

*

सीधे चैत्य केन्द्र का खुलना केवल तभी आसान होता है जब अहं-केंद्रितता (अहंकार में केंद्रित रहना) बहुत अधिक कम हो जाये और उसके साथ ही श्रीमाताजी के प्रति खूब तीव्र भक्ति भी हो। आध्यात्मिक नम्रता, भगवान् के प्रति अधीनता और निर्भरता का बोध आवश्यक है।

१६-७-१९३६

*

हां, मन को स्थिर कर देने पर ही तुम श्रीमां को पुकारने तथा उनकी ओर

खुलने में समर्थ होगे। शांतिदायी प्रभाव चैत्य पुरुष का स्पर्श था—वह उन स्पर्शों में से एक स्पर्श था जो चैत्य उद्‌घाटन की तैयारी करते हैं—उस उद्‌घाटन की जो अपने साथ आंतर शांति, प्रेम और आनंद का उपहार लाता है।

१७-९-१९३४

*

श्रीमां की शांति तुम्हारे ऊपर विद्यमान है—अभीप्सा तथा शांत-स्थिर आत्मोद्‌घाटन के द्वारा वह नीचे उतरती है। जब वह प्राण और शरीर के ऊपर अपना अधिकार जमा लेती है तब समता का आना आसान हो जाता है और अंत में वह स्वाभाविक बन जाती है।

२८-८-१९३३

श्रीमां की शक्ति की ओर उद्‌घाटन और अन्य शक्तियों से बचना

श्रीमां की शक्ति की ओर अपने को खुला रखो, पर सब प्रकार की शक्तियों पर विश्वास न करो। जब तुम आगे बढ़ते जाओगे और साथ ही सीधे रास्ते पर बने रहोगे तो, एक ऐसा समय आयेगा जब चैत्य पुरुष अधिक प्रमुखता के साथ क्रियाशील हो उठेगा और ऊपर से आनेवाली दिव्य ज्योति अधिक शुद्धता और प्रबलता के साथ कार्य करने लगेगी जिससे कि मानसिक कल्पनाओं तथा प्राणिक रचनाओं के सच्ची अनुभूति के साथ मिल-जुल जाने की संभावना कम हो जायेगी। जैसा कि मैंने तुमसे कहा है, ये न तो अतिमानसिक शक्तियां हैं न हो ही सकती हैं; यह तो तैयारी का एक कार्य है जो एक भावी योगसिद्धि के लिये सारी चीजों को तैयार कर रहा है।

१८-९-१९३२

*

अपने अंदर माताजी की शक्ति को काम करने दो, पर किसी मिलावट या उसका स्थान ग्रहण करनेवाली किसी दूसरी चीज से—वह चाहे अहंकार की कोई अतिरंजित क्रिया हो या दिव्य सत्य के रूप में सामने आनेवाली कोई अज्ञान की शक्ति—बचने के लिये सावधान रहो। प्रकृति के अंदर से सब प्रकार के अंधकार और अचेतना के दूर होने के लिये विशेष रूप से अभीप्सा करो।

श्रीमां के प्रति एकनिष्ठता और विश्वासपात्रता

अगर कोई विरोधी शक्ति आये तो हमें उसे स्वीकार नहीं करना चाहिये और न उसके सुझावों का स्वागत ही करना चाहिये, बल्कि हमें श्रीमां की ओर मुड़ जाना चाहिये और किसी हालत में भी उनसे विमुख नहीं होना चाहिये। चाहे कोई अपने को खोल सके या नहीं, उसे एकनिष्ठ और विश्वासपात्र जरूर बने रहना चाहिये। सच्चाई और विश्वासपात्रता ऐसे गुण नहीं हैं जिनके लिये मनुष्य को योग ही करना पड़े। वे बहुत सीधी-सादी चीजें हैं जिन्हें सत्य की अभीप्सा करनेवाले किसी भी पुरुष या स्त्री को प्राप्त करनेमें समर्थ होना चाहिये।

सफल होने का एकमात्र पथ

तुम्हारी प्रकृति के एक बहुत ही प्रधान अंग में अहंपूर्ण व्यक्तित्व की एक मजबूत रचना है जिसने तुम्हारी आध्यात्मिक अभीप्सा के साथ अहंता और आध्यात्मिक महत्त्वाकांक्षा का एक हठी तत्त्व मिला दिया है। इस रचना ने अधिक सत्य और अधिक दिव्य किसी चीज को स्थान देने के लिये कभी भी भंग होना स्वीकार नहीं किया है। अतएव, जब कभी श्रीमाताजी ने तुम्हारे ऊपर अपनी शक्ति प्रयुक्त की अथवा जब-जब तुमने स्वयं अपने ऊपर शक्ति खींची तब-तब तुम्हारे अंदर की इस रचना ने उस शक्ति को अपने ढंग से काम करने से रोक दिया। इसने स्वयं ही मन की भावनाओं या अहंकार की किसी मांग के अनुसार अपने को गढ़ना आरंभ कर दिया है और यह अपने 'निजी ढंग' से, अपने निजी बल, अपनी निजी साधना और अपनी निजी तपस्या से अपनी निजी सृष्टि करने की चेष्टा कर रही है। इस क्षेत्र में कभी कोई सच्चा आत्मसमर्पण नहीं हुआ है, तुमने कभी भगवती माता के हाथों में खुले तौर पर और सहज भाव से अपने-आपको नहीं दिया है। लेकिन यही है अतिमानस योग में सफलता पाने का एकमात्र रास्ता। योगी, संन्यासी या तपस्वी होना यहां का लक्ष्य नहीं है। यहां का लक्ष्य है रूपांतर और यह रूपांतर केवल तुम्हारी अपनी शक्ति से अनन्तगुनी बड़ी एक शक्ति के द्वारा ही सिद्ध हो सकता है। यह केवल तभी सिद्ध हो सकता है जब तुम सचमुच भगवती माता के हाथों में एक बच्चे के समान बन जाओ।

*

जो कोई भी माताजी की ओर मुड़ा हुआ है वह मेरा योग कर रहा है। यह समझना एक भारी भूल है कि व्यक्ति अपने निजी प्रयत्न से पूर्णयोग "कर" सकता है अर्थात् इस योग के सभी पक्षों का अनुसरण करके उन्हें पूर्णरूप से चरितार्थ कर सकता है। कोई मानव प्राणी ऐसा नहीं कर सकता। व्यक्ति को इतना ही करना है कि वह अपने को माताजी के हाथों में सौंप दे और सेवा, भक्ति एवं अभीप्सा के द्वारा अपने को उनकी ओर खोले; तब माताजी अपनी ज्योति और शक्ति के द्वारा उसके अंदर कार्य करती हैं जिससे साधना संपादित होती है। एक बहुत बड़ा पूर्णयोगी या अतिमानसिक जीव बनने की महत्त्वाकांक्षा रखना और अपने-आपसे यह पूछना कि कहांतक मैं उस ओर आगे बढ़ा हूं— यह भी एक भूल है। ठीक मनोवृत्ति यह है कि तुम अपने-आपको माताजी को दे दो और सौंप दो और वही बनने की इच्छा करो जो वे चाहती हैं कि तुम बनो। शेष सबका निर्णय करना और उसे तुम्हारे अंदर क्रियान्वित करना माताजी का काम है।

अप्रैल, १९३५

*

यदि बौद्धिक ज्ञान या मानसिक भावनाओं या किसी प्राणिक वासना के प्रति आसक्ति होने के कारण चैत्य नवजन्म को अस्वीकार किया जाये, श्रीमां का नवजात शिशु बनने से इन्कार किया जाये, तो फिर साधना में असफलता ही प्राप्त होगी।

अपनी साधना में, कभी-कभी हम शांति, शक्ति, आनंद इत्यादि के विशाल अवतरण अनुभव करते हैं, जिन्हें हमारा तुच्छ मानव अहंकार हड़प जाता है और हमारे अंदर यह भाव भर देता है कि हम माताजी के चुने हुए अतिमानवों के दल के होंगे। क्या यह भूल नहीं है?

अतिमानव बनने की इच्छा करना भूल है। यह इच्छा महज अहंकार को फुलाती है। हम अतिमानसिक रूपांतर सिद्ध करने के लिये भगवान् के सामने अभीप्सा कर सकते हैं, परंतु उसे भी तबतक नहीं करना चाहिये जबतक माताजी की शांति, शक्ति, ज्योति और पवित्रता के अवतरण के द्वारा हमारी सत्ता चैत्य और अध्यात्म-भावापन्न न हो जाये।

२२-२-१९३६

अतिमानसिक अवतरण के लिये हमें कैसी मनःस्थिति या कैसा मनोभाव रखना चाहिये?

जहांतक मनःस्थिति या मनोभाव का प्रश्न है—इस विषय में तुम्हें परेशान होने की कोई आवश्यकता नहीं। आदि से अंत तक एकमात्र आवश्यक शर्त है श्रीमां के प्रति पूर्ण श्रद्धा, उद्घाटन और आत्मदान।

२३-९-१९३५

समर्पण के प्रति प्राण का प्रतिरोध

मैं कह चुका हूं कि मानवी प्राण किसी दूसरे के द्वारा नियन्त्रित या शासित होना पसंद नहीं करता और मैंने कहा था कि यह भी एक कारण है जिससे साधक माताजी के प्रति समर्पण करने में कठिनाई अनुभव करते हैं। क्योंकि प्राण अपने ही विचारों, आवेगों, कामनाओं और अभिरुचियों को दृढ़तापूर्वक स्थापित करना चाहता है और जो कुछ उसे पसंद है वही करना चाहता है, वह यह अनुभव नहीं करना चाहता कि उसके अपने स्वभाव की शक्ति से भिन्न कोई शक्ति उसे राह दिखा रही या चला रही है; किंतु माताजी के प्रति समर्पण का अर्थ यह है कि उसे ये सब व्यक्तिगत वस्तुएं छोड़ देनी होंगी और माताजी की शक्ति को इसके लिये अवसर देना होगा कि वह उच्चतर सत्य के तरीकों से, जो उसके अपने तरीके नहीं हैं, उसे मार्ग दिखाये या चलाये : इसीलिये वह प्रतिरोध करता है, सत्य के प्रकाश और माताजी की शक्ति से शासित नहीं होना चाहता, अपनी स्वतंत्रता के लिये आग्रह और समर्पण करने से इन्कार करता है। और फिर पस्त और परास्त होने के तथा वैयक्तिक कुण्ठा के ये विचार भी गलत सुझाव हैं और अपने-आपसे असंतोष भी लगभग उतना ही हानिकारक है जितना माताजी से असंतोष होना। वह उस विश्वास एवं साहस को बनाये रखने में बाधक होता है जो साधना के पथ पर चलने के लिये आवश्यक हैं। इन सुझावों को तुम्हें अपने अंदर से निकाल फेंकना होगा।

८-१०-१९३६

श्रीमां को आत्मसमर्पण करने की आवश्यकता

अगर तुम आत्म-समर्पण न करो तो फिर माताजी की ओर खुले रहने का कोई विशेष आध्यात्मिक अर्थ नहीं है। आत्मदान या समर्पण की मांग उन लोगों से की जाती है जो इस योग का अभ्यास करते हैं, क्योंकि सत्ता की ओर से बढ़ता हुआ समर्पण हुए बिना कहीं भी लक्ष्य के समीप पहुंचना एकदम असंभव है। उनकी ओर खुले रहने का अर्थ है अपने अंदर कार्य करने के लिये उनकी शक्ति का आवाहन करना, और अगर तुम उस शक्ति के प्रति समर्पण नहीं करते तो इसका तात्पर्य हो जाता है अपने अंदर उस शक्ति को एकदम कार्य न करने देना अथवा केवल इस शर्त पर कार्य करने देना कि वह उसी तरह कार्य करे जिस तरह कि तुम चाहते हो, अपने निजी तरीके से, जो कि दिव्य सत्य का तरीका है, कार्य न करे। इस तरह का सुझाव साधारणतया किसी विरोधी शक्ति के यहां से आता है अथवा मन या प्राण के किसी अहंकार-पूर्ण अंश से आता है जो भागवत कृपा या शक्ति को चाहता तो है पर केवल इसलिये कि वह अपने किसी निजी उद्देश्य के लिये उसका उपयोग करे और यह अंश भागवत उद्देश्य के लिये जीवन यापन करने के लिये इच्छुक नहीं होता,—जो कुछ वह ले सके वह सब भगवान् से ले लेने के लिये तो वह उत्सुक होता है, पर स्वयं अपने-आपको भगवान् के हाथों में दे देने के लिये नहीं। अंतरात्मा, हमारा सच्चा स्वरूप, इसके विपरीत, भगवान् की ओर मुड़ता है और आत्म-समर्पण करने के लिये केवल इच्छुक ही नहीं होता बल्कि उत्सुक होता है और उससे उसे प्रसन्नता होती है।

इस योग में साधक से प्रत्येक मानसिक आदर्शवादी संस्कृति से परे चले जाने की आशा की जाती है। भावनाएं और आदर्श मन से संबंध रखते हैं और वे केवल अर्द्ध-सत्य हैं, मन भी, बहुत बार, एक आदर्श बना लेने से ही संतुष्ट रहता है, आदर्शवादिता के सुख में डूबा रहता है, और जीवन में ज्यों-का-त्यों, अरूपान्तरित अवस्था में पड़ा रहता है अथवा केवल थोड़ा-सा और वह भी ऊपर से देखने में ही परिवर्तित होता है। अध्यात्म का साधक उपलब्धि की चेष्टा से विरत होकर केवल आदर्श बनाने में ही नहीं लग जाता; आदर्श बनाना नहीं, बल्कि दिव्य सत्य को उपलब्ध करना ही उसका लक्ष्य होता है, चाहे जीवन से परे जाकर या जीवन में ही रहते हुए, और इस अवस्था में यह आवश्यक है कि मन और प्राण को रूपांतरित किया जाये और यह रूपांतर भागवती शक्ति, श्रीमां के कार्य के प्रति आत्मसमर्पण किये बिना नहीं हो सकता।

निर्वैयक्तिक की खोज करना उन लोगों का पथ है जो जीवन से अलग होना चाहते हैं, पर साधारणतया वे चेष्टा करते हैं अपने निजी प्रयास के बल पर, वे किसी श्रेष्ठतर शक्ति की ओर अपने-आपको खोलकर या आत्मसमर्पण के पथ से नहीं चलते; क्योंकि निराकार ऐसी चीज नहीं है जो पथ दिखाती या सहायता करती हो, बल्कि वह ऐसी चीज है जो प्राप्त की जाती है और वह प्रत्येक मनुष्य को अपनी प्रकृति के पथ और क्षमता के अनुसार उसे प्राप्त करने के लिये छोड़ देती है। दूसरी ओर, श्रीमां की ओर अपने को खोलकर और उन्हें आत्मसमर्पण करके मनुष्य निराकार को भी प्राप्त कर सकता है और सत्य के दूसरे सभी रूपों को भी।

अवश्य ही आत्मसमर्पण क्रमोन्नतिशील होना चाहिये। कोई भी आदमी आरंभ से ही पूर्ण आत्मसमर्पण नहीं कर सकता, इसलिये यह बिलकुल स्वाभाविक है कि जब मनुष्य अपने भीतर की ओर ताकता है तो उसका अभाव ही पाता है। पर यह कोई कारण नहीं कि आत्मसमर्पण का सिद्धांत ही न स्वीकार किया जाये और धीर-स्थिर रूप से एक-एक स्तर, एक-एक क्षेत्र में, क्रमशः प्रकृति के सभी अंगों में उसे प्रयुक्त करते हुए, उसे जीवन में न उतारा जाये।

*

तो यह आत्मसमर्पण का संकल्प है। पर आत्मसमर्पण श्रीमां के प्रति ही होना चाहिये—शक्ति के प्रति भी नहीं, स्वयं श्रीमां के प्रति।

४-१०-१९३६

*

यदि चैत्य पुरुष प्रकट हो तो वह तुमसे अपने प्रति नहीं, बल्कि माताजी के प्रति आत्मसमर्पण करने को कहेगा।

*

सबसे उत्तम उपाय है चैत्य पुरुष में निवास करना, क्योंकि वह सदा ही माताजी के प्रति समर्पित रहता है और दूसरों (अन्य भागों) को भी ठीक रास्ते से ले जा सकता है। संयम करने के लिये किसी स्थान में एकाग्र होने की आवश्यकता होती है—कोई तो मन के अंदर या मन के ऊपर एकाग्र होते हैं, दूसरे हृदय में एकाग्रता लाते हैं और हृदय के द्वारा चैत्य केंद्र में।

११-६-१९३३

सच्चा और पूर्ण समर्पण

अगर तुम अपनी साधना में प्रगति करना चाहते हो तो यह आवश्यक है कि जिस नीति और समर्पण की बात तुम करते हो उसे सरल, सच्चा और पूर्ण बनाओ। यह तबतक नहीं किया जा सकता जबतक कि तुम अपनी वासनाओं को अपनी आध्यात्मिक अभीप्सा के साथ मिलाते हो। यह तबतक नहीं किया जा सकता जबतक कि तुम परिवार, संतान या अन्य किसी चीज या मनुष्य के प्रति अपनी प्राणगत आसक्ति का पोषण करते हो। अगर तुम्हें यह योग करना है तो तुम्हें बस एक ही कामना और अभीप्सा, आध्यात्मिक सत्य को ग्रहण करने और उसे अपने सभी विचारों, अनुभवों, क्रियाओं और प्रकृति के अंदर अभिव्यक्त करने की कामना और अभीप्सा रखनी चाहिये। तुम्हें किसी के साथ किसी प्रकार का संबंध बनाने के लिये लालायित नहीं होना चाहिये। दूसरों के साथ साधक के संबंध उसके भीतर से, जब वह सत्य चेतना प्राप्त कर लेता है और ज्योति में निवास करता है, तब उत्पन्न होने चाहियें। वे संबंध उसके भीतर भगवती माता की शक्ति और इच्छा के द्वारा, दिव्य जीवन और दिव्य कर्म के लिये आवश्यक अतिमानसिक सत्य के अनुसार, निश्चित होंगे; वे कभी उसके मन और उसकी प्राणगत वासनाओं के द्वारा निश्चित नहीं होने चाहियें। इस बात को तुम्हें अवश्य याद रखना होगा। तुम्हारा चैत्य पुरुष श्रीमां के हाथों में अपने-आपको दे देने की और सत्य के अंदर निवास करने और वर्द्धित होने की क्षमता रखता है; पर तुम्हारा निम्नतर प्राण-पुरुष आसक्तियों और संस्कारों से तथा कामना की अपवित्र गतिविधि से बराबर भरा रहा है और तुम्हारा बाहरी भौतिक मन अपने अज्ञानपूर्ण विचारों और आदतों को झाड़ फेंकने तथा सत्य की ओर खुल जाने में असमर्थ रहा है। यही कारण था कि तुम उन्नति करने में असमर्थ रहे, क्योंकि तुम बराबर ही एक ऐसी चीज और ऐसी गतियों को बनाये रखते थे जिन्हें रखने नहीं दिया जा सकता था; कारण दिव्य जीवन में जो कुछ स्थापित करने की आवश्यकता होती है ठीक उसके विपरीत ये सब चीजें थीं। एकमात्र श्रीमां ही तुम्हें इन सब चीजों से मुक्त कर सकती हैं, अगर तुम सचमुच ऐसा चाहो, केवल अपनी चैत्य सत्ता में ही नहीं, बल्कि अपने भौतिक मन और अपनी समस्त प्राणिक प्रकृति में भी। इस चाह का लक्षण यह होगा कि तुम अपनी व्यक्तिगत धारणाओं, आसक्तियों या कामनाओं को अब और पोसे नहीं रखोगे या उनपर जोर नहीं दोगे, और चाहे दूरी जितनी हो और तुम चाहे जो कुछ भी हो, अपने-आपको खुला हुआ और

श्रीमां की शक्ति और उपस्थिति को अपने साथ और अपने अंदर कार्य करते हुए अनुभव करोगे और संतुष्ट, धीर-स्थिर, विश्वास से भरपूर बने रहोगे, अन्य किसी चीज का अभाव नहीं अनुभव करोगे और बराबर ही श्रीमां की इच्छा की प्रतीक्षा करोगे।

*

सब कुछ अपने हृदय में विराजमान श्रीमां के सामने रख दो जिससे उनकी ज्योति अच्छे-से-अच्छे परिणाम लाने के लिये क्रिया कर सके।

२१-४-१९३५

*

संसार का जीवन अपने स्वभाव में अशांति का क्षेत्र है—ठीक रास्ते से उस जीवन को पार करने के लिये जीवन और कर्म भगवान् को समर्पित करने चाहियें और अन्तरस्थ भगवान् की शांति पाने की प्रार्थना करनी चाहिये। जब मन स्थिर हो जाता है तब मनुष्य अनुभव कर सकता है कि भगवती माता जीवन को सहारा दे रही हैं और वह उनके हाथों में प्रत्येक चीज को छोड़ सकता है।

१६-४-१९३३

आवश्यक प्रयास

साधना के विषय में तुमने जो कहा है वह ठीक है। साधना आवश्यक है और भागवत शक्ति शून्य में अपना कार्य नहीं कर सकती, बल्कि अवश्य ही वह प्रत्येक व्यक्ति को उसकी प्रकृति के अनुसार एक ऐसे बिंदुतक ले जाती है जहां वह यह अनुभव कर सके कि माताजी उसके अंदर क्रिया कर रही हैं तथा उसके लिये सभी कुछ कर रही हैं। तबतक साधक की अभीप्सा, आत्म-निवेदन, माताजी की क्रियाओं को सहमति और सहारा देना, जो कुछ भी मार्ग में आड़े आये उस सबका परित्याग करना अत्यंत आवश्यक है—अनिवार्य है।

२५-९-१९३६

साधक से जो प्रयास करने की मांग की जाती है वह है अभीप्सा, त्याग और आत्मसमर्पण। अगर ये तीनों चीजें की जायें तो फिर बाकी चीजें श्रीमां की

कृपा से और तुम्हारे अंदर उनकी शक्ति की क्रिया के कारण अपने-आप ही आयेंगी। परंतु इन तीनों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है आत्मसमर्पण और उसका प्रथम आवश्यक स्वरूप है कठिनाई के समय विश्वास, भरोसा और धैर्य। यह कोई नियम नहीं है कि विश्वास और भरोसा केवल तभी रह सकते हैं जब कि अभीप्सा भी हो। बल्कि उसके विपरीत, जब कि तामसिकता के दबाव के कारण अभीप्सा नहीं होती तब भी विश्वास, भरोसा और धैर्य विद्यमान रह सकते हैं। यदि अभीप्सा के प्रसुप्त रहने पर विश्वास और धैर्य साथ छोड़ दें तब उसका मतलब यह होगा कि साधक एकमात्र अपने निजी प्रयास पर ही निर्भर करता है—उसका अर्थ होगा—"ओह, मेरी अभीप्सा असफल हो गयी है, इसलिये अब मेरे लिये कोई आशा नहीं। मेरी अभीप्सा असफल हो रही है, इसलिये भला माताजी भी क्या कर सकती हैं?" पर, इसके विपरीत, साधक का भाव यह होना चाहिये, "कोई बात नहीं, मेरी अभीप्सा फिर से वापस आयेगी। इस बीच, मैं जानता हूं कि जब मैं श्रीमां को अनुभव नहीं करता तब भी वे मेरे साथ हैं; वे मुझे अंधकारमय घड़ियों से भी पार करेंगी।" यही पूर्णतः यथार्थ भाव है जिसे तुम्हें अवश्य बनाये रखना चाहिये। जिनमें यह भाव होता है, अवसाद उनका कुछ भी नहीं कर सकता; अगर अवसाद आता भी है तो उसे किंकर्तव्यविमूढ़ होकर वापस लौट जाना पड़ता है। यह चीज तामसिक आत्मसमर्पण नहीं है। तामसिक समर्पण तो उसे कहते हैं जब मनुष्य कहता है कि "मैं कुछ भी नहीं करूंगा; श्रीमां सब कुछ कर दें। अभीप्सा, त्याग और आत्मसमर्पण भी आवश्यक नहीं हैं। माताजी ही मेरे अंदर यह सब कर दें।" इन दोनों भावों में बहुत बड़ा अंतर है। एक भाव तो है उस पीछे हटनेवाले का जो कुछ भी नहीं करना चाहता और दूसरा है उस साधक का जो अपनी शक्ति भर प्रयास करता है, पर जब वह कुछ समय के लिये अकर्मण्यता में जा गिरता है और चीजें विपरीत हो जाती हैं तब भी वह सब चीजों के पीछे विद्यमान श्रीमां की शक्ति और उपस्थिति में अपना विश्वास बराबर बनाये रखता है और उस विश्वास के द्वारा विरोधी शक्ति को चकमे में डाल देता है और साधना की क्रिया को फिर वापस ले आता है।

२६-१०-१९३६

माताजी की गोद में

मुझे ठीक तरह से ध्यान करने में बड़ी कठिनाई मालूम पड़ती है। जब कि मैं ठीक-ठीक ध्यान नहीं कर पाता तब क्या मेरे लिये सबसे उत्तम यह न होगा कि मैं यह कल्पना करूं कि मैं चिरदिन माताजी की गोद में ही पड़ा हूं?

यही सबसे उत्तम प्रकार का ध्यान है।

१२-८-१९३५

६

श्रीमाताजी की शक्ति की क्रिया

श्रीमां की शक्ति

श्रीमाताजी की शक्ति के बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता।

*

सब कुछ श्रीमां की शक्ति की क्रिया के द्वारा, जिसे तुम्हारी अभीप्सा, भक्ति और समर्पण की सहायता प्राप्त हो, सिद्ध करना होगा।

३०-१०-१९३४

माताजी की शक्ति क्या है?

आप प्राय: ही "माताजी की शक्ति" की बात कहते हैं। वह क्या है?

वह है भागवत शक्ति जो अज्ञान का निवारण करने और मानव प्रकृति को दिव्य प्रकृति में परिवर्तित करने के लिये कार्य करती है।

१८-६-१९३३

प्रकृति की शक्ति और श्रीमां की शक्ति

जब मैं श्रीमां की शक्ति की बात कहता हूं तब मैं प्रकृति की शक्ति की बात नहीं कहता जिसके भीतर अज्ञान की चीजें होती हैं, बल्कि भगवान् की उच्चतर शक्ति की बात कहता हूं जो प्रकृति का रूपान्तर करने के लिये ऊपर से अवतरित होती है।

नहीं, माताजी का कोई इरादा नहीं था। तुम स्वयं ही उनके पास आने के कारण अपनी भूल के विषय में सचेतन हो गये।

श्रीमां की उच्चतर शक्ति का अवतरण और उसकी क्रिया

एक ऐसी शक्ति है जो नयी चेतना के विकास के साथ आती है और तुरत उसके साथ-साथ बढ़ती है तथा उसके घटित होने और परिपूर्ण बनने में सहायता करती है। यह योगशक्ति है। यह हमारी आंतर सत्ता के सभी केंद्रों (चक्रों) में कुंडलित होकर सोयी पड़ी है और सबसे नीचे के तल में जो रूप है उसे तन्त्रों में कुंडलिनी शक्ति कहा गया है। परंतु यह हमारे ऊपर, हमारे सिर के ऊपर दिव्य शक्ति के रूप में भी विद्यमान है—वहां वह कुंडलित, निवर्तित, प्रसुप्त नहीं है, बल्कि जाग्रत्, चेतन, शक्तिपूर्ण, प्रसारित और विशाल है; यह वहां अभिव्यक्त होने के लिये प्रतीक्षा कर रही है और इसी शक्ति की ओर—श्रीमां की शक्ति की ओर—हमें अपने-आपको खोलना होगा। यह शक्ति मन के अंदर एक दिव्य मानस-शक्ति या एक विराट् मानस-शक्ति के रूप में प्रकट होती है और यह ऐसे प्रत्येक कार्य को कर सकती है जिसे व्यक्तिगत मन नहीं कर सकता; यह उस समय यौगिक मानस-शक्ति बन जाती है। जब यह उसी तरह प्राण या शरीर में प्रकट होती और कार्य करती है तब यह वहां एक यौगिक प्राण-शक्ति या यौगिक शरीर-शक्ति के रूप में दिखायी देती है। यह बाहर और ऊपर की ओर फूटकर तथा नीचे की ओर से विशालता में फैलकर इन सभी रूपों में जागृत हो सकती है अथवा यह अवतरित हो सकती है और वहां वस्तुओं के लिये एक सुनिश्चित शक्ति बन सकती है; यह नीचे की ओर शरीर में बरस सकती है, वहां कार्य करके, अपना राज्य स्थापित करके, ऊपर से विशालता के अंदर प्रसारित होकर हमारे अंदर के सबसे नीचे के भागों को हमारे ऊपर के उच्चतम भागों के साथ जोड़ सकती है, व्यक्ति को एक विराट् विश्वभाव में या निरपेक्षता और परात्परता में ले जाकर मुक्त कर सकती है।

निश्चय ही, एक अर्थ में उच्चतर शक्तियों का अवतरण श्रीमां का ही निजी अवतरण है—क्योंकि वास्तव में वही उन सबमें नीचे आती हैं।

जब शांति स्थापित हो जाती है तब यह उच्चतर या भागवत शक्ति ऊपर से उतर सकती है और हमारे अंदर कार्य कर सकती है। साधारणतया यह पहले सिर में उतरती है और आंतर मन के चक्रों को मुक्त करती है, फिर हृदय-केंद्र में आती है और चैत्य तथा भावमय पुरुष को पूर्ण रूप से मुक्त करती है, फिर नाभि-चक्र में और दूसरे प्राण-चक्रों में आकर आंतर प्राण को मुक्त करती है, उसके बाद मूलाधार और उससे नीचे उतरकर आंतर भौतिक सत्ता को मुक्त करती है। यह एक साथ ही पूर्णता और मुक्ति के लिये कार्य

करती है; यह समस्त प्रकृति के एक-एक अंग को लेती है और उनपर कार्य करती है, जो कुछ त्याग करने लायक हो उसे त्याग देती है, जो कुछ उन्नत करने लायक हो उसे उन्नत करती है और जो कुछ उत्पन्न करना हो उसे उत्पन्न करती है। यह एकीभूत करती, सुसमंजस बनाती और प्रकृति में एक नया छंद स्थापित करती है। यह ऊंची और ऊंची से ऊंची शक्ति को तथा उच्चतर प्रकृति के स्तरों को, यदि वे साधना का लक्ष्य हों तो, तबतक नीचे उतार सकती है जबतक अतिमानसिक शक्ति और जीवन को उतार लाना संभव न हो जाये। इन सब बातों में हृदय-केंद्र में अवस्थित चैत्य पुरुष के कार्य के द्वारा तैयारी होती, सहायता मिलती है और कार्य अग्रसर होता है; चैत्य पुरुष जितना ही अधिक खुला हो, सामने और सक्रिय हो, शक्ति की क्रिया उतनी ही अधिक क्षिप्र, सुरक्षित और सहज हो सकती है। हृदय में जितना ही अधिक प्रेम, भक्ति और समर्पण का भाव बढ़ता है, साधना का विकास उतना ही तेज और पूर्ण बन जाता है। क्योंकि अवतरण और रूपांतर के साथ-साथ भगवान् के संग संबंध और एकत्व भी बढ़ता ही रहता है।

यही है साधना का मूल सिद्धांत। इससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि यहांपर सबसे प्रधान दो बातें हैं, हृदय और मन के पीछे और ऊपर जो कुछ है उस सबकी ओर हृदय-केंद्र और मानस-केंद्र का खुलना। कारण, हृदय चैत्य पुरुष की ओर खुलता है और मानस-केंद्र उच्चतर चेतना की ओर खुलते हैं तथा चैत्य पुरुष और उच्चतर चेतना के बीच का चक्र ही सिद्धि का प्रधान साधन है। पहला उद्घाटन हृदय में ध्यान करने से, अपने अंदर अभिव्यक्त होने के लिये तथा चैत्य पुरुष के द्वारा समस्त प्रकृति को अधिगत करने और उसका पथ-प्रदर्शन करने के लिये भगवान् का आवाहन करने से होता है। साधना के इस अंश के प्रधान सहायक हैं अभीप्सा, प्रार्थना, भक्ति, प्रेम और आत्मसमर्पण—साथ ही उन सब चीजों का त्याग भी करना जरूरी है जो हमारी अभीप्सित वस्तु के मार्ग में बाधक हों। दूसरा उद्घाटन होता है सिर में (पीछे चलकर सिर के ऊपर) चेतना को केंद्रित करने से तथा सत्ता के अंदर दिव्य शांति, ज्योति, ज्ञान और आनंद के अवतरण के लिये—पहले शांति के लिये अथवा शांति और शक्ति एक साथ दोनों के लिये—अभीप्सा करने, पुकारने और स्थायी संकल्प बनाये रखने से। अवश्य ही कुछ लोग पहले प्रकाश प्राप्त करते हैं या पहले आनंद अथवा ज्ञान का सहसा नीचे की ओर प्रवाह। कुछ लोगों में पहले एक ऐसा उद्घाटन होता है जो उनके सामने ऊपर की एक विशाल अनंत नीरवता, शक्ति, ज्योति या आनंद को प्रकट करता है और उसके बाद या तो वे उसमें

आरोहण करते हैं या ये चीजें निम्नतर प्रकृति में अवतरित होना आरंभ करती हैं। दूसरे लोगों में या तो अवतरण पहले सिर में, फिर नीचे हृदय-स्थान तक, फिर नाभि और उसके नीचे तक और शरीर भर में होता है, अथवा शांति, प्रकाश, विशालता या शक्ति का अन्य कोई अवर्णनीय उद्‌घाटन—उद्‌घाटन के किसी बोध के बिना ही,—अथवा विश्व-चेतना की ओर ऊर्ध्वमुखी उद्‌घाटन या एकाएक विस्तारित हो जानेवाले मन के भीतर ज्ञान का विस्फोट होता है। जो कुछ भी आये उसका स्वागत करना चाहिये—क्योंकि सबके लिये कोई एक ही अखण्ड नियम नहीं है—परंतु पहले यदि शांति न आयी हो तो खूब सावधानी रखनी चाहिये कि कहीं हम आह्लाद से फूल न उठें या अपनी समतोलता ही न खो बैठें। जो हो, सबसे प्रधान क्रिया वह है जब कि भागवती शक्ति, माताजी की शक्ति नीचे आती है और अधिकार स्थापित करती है, क्योंकि तभी चेतना का संगठन आरंभ होता है और योग की विशालतर नींव पड़ती है।

*

जो कुछ तुम नीचे की ओर बहते हुए अनुभव करते हो वह अवश्य ही श्रीमां की ऊर्ध्व शक्ति होगी। यह साधारणतया सिर के ऊपर से प्रवाहित होती है और सबसे पहले मानस केंद्रों (सिर और गर्दन) में कार्य करती है और उसके बाद छाती और हृदय में उतरती है और फिर समस्त शरीर की क्रिया के भीतर चली जाती है।

निश्चय ही इसी क्रिया का प्रभाव तुम अपने सिर के ऊपर से कंधोंतक अनुभव करते होगे। ऊपर से जो शक्ति उतरती है वह वह शक्ति है जो चेतना को एक उच्चतर आध्यात्मिक सत्ता की चेतना में रूपांतरित करने के लिये कार्य करती है। उससे पहले श्रीमां की शक्ति चैत्य, मनोमय, प्राणमय और स्वयं अन्नमय स्तर में चेतना का पोषण, पवित्रीकरण और चैत्य रूपांतर करने के लिये कार्य करती है।

जिस प्रवाह को तुम अपने सिर पर उतरते हुए तथा अपने अंदर बरसते हुए अनुभव करते हो वह निःसन्देह माताजी की शक्ति की धारा है; उसका अनुभव प्रायः इसी प्रकार हुआ करता है; वह शरीर के अंदर धाराओं के रूप में प्रवाहित होता है और वहां चेतना को मुक्त तथा परिवर्तित करने के लिये कार्य करता है। जैसे-जैसे चेतना परिवर्तित और विकसित होगी वैसे-वैसे तुम स्वयं इन चीजों का अर्थ और इनकी कार्य-पद्धति को समझने लगोगे।

२१-८-१९३६

सिर के चारों ओर श्रीमां की शक्ति का स्पंदन अनुभव करना मानसिक भावना अथवा मानसिक सिद्धि से भी अधिक कुछ है, वह एक अनुभूति है। यह स्पंदन, निस्संदेह, श्रीमां की शक्ति का कार्य है जिसका अनुभव पहले सिर के ऊपर या उसके चारों ओर होता है, फिर बाद में सिर के भीतर होता है। दबाव का अर्थ यह है कि मन और उसके चक्रों को खोलने के लिये वह कार्य कर रही है जिससे वह उनमें प्रवेश कर सके। मानस-चक्र सिर में हैं, एक तो उसके ऊपरी सिरे पर और उससे ऊपर है, दूसरा दोनों आंखों के बीच में और तीसरा गले में है। यही कारण है के तुम स्पंदन को सिर के चारों ओर और कभी-कभी गर्दन तक अनुभव करते हो, पर उससे नीचे नहीं। साधारणतः यह ऐसा ही होता है, क्योंकि केवल मन को घेर लेने और उसमें प्रवेश करने के बाद ही वह नीचे की ओर भावावेश और प्राण के क्षेत्रों (हृदय, नाभि आदि) में जाती है—यद्यपि कभी-कभी वह शरीर में प्रवेश करने से पहले बहुत अधिक चारों ओर से घेरे हुए होती है।

२४-३-१९३७

तुम्हारी अनुभूतियों का अर्थ यह है—

(१) ऊपर से भगवती माता की शक्ति तुम्हारे ऊपर अवतरित हो रही है और अपने सिर के ऊपर तुम जो दबाव अनुभव करते हो और जिन क्रियाओं के विषय में तुम सचेतन हुए हो, वे सब उन्हीं की हैं।

अपने-आपको पूर्ण रूप से उनके हाथों में दे दो, पूरा भरोसा रखो, जो कुछ घटित हो उसे सावधानी के साथ और ठीक-ठीक देखो और उसे यहां लिख भेजो। विशेष रूप से उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि जो कुछ तुम्हारे लिये आवश्यक है वह किया जा रहा है।

(२) पहला दबाव तुम्हारे मन पर था। मन के केंद्र हैं—(अ) सिर और उसके ऊपर, (ब) आंखों के बीच ललाट का चक्र, (स) गले का और प्राणगत-मनोमय (भावावेग का) और इंद्रियबोधात्मक मानस-चक्र छाती से लेकर नीचे की ओर हैं। यही पीछेवाली चीज है जो कि प्रथम प्राण है और जिसके विषय में तुम सचेतन हुए हो। शक्ति का कार्य था तुम्हारे इन दो भागों को विस्तारित करना और ऊपर उठाकर उन्हें तुम्हारे सिर के ऊपर की उच्चतर चेतना के निम्नतम केंद्र की ओर ले जाना, जिसमें इसके बाद वे दोनों ही वहां से सचेतन रूप में परिचालित हो सकें और ये दोनों ही एक ऐसी विशाल विश्वव्यापी चेतना में संचरण करें जो शरीर से सीमित न हो।

(३) दूसरा प्राण, चंचल प्राण, जिसके विषय में तुम सचेतन हुए, वह है प्राणमय पुरुष, कामना-वासना और प्राणिक गतियोंवाला पुरुष। दिव्य शक्ति का कार्य चंचल गतियों को शांत करने के लिये और मन की तरह उसे चेतना में विशाल बनाने के लिये प्रयुक्त किया गया है। जिस विशाल शरीर का तुम्हें अनुभव हुआ वह प्राणमय शरीर था, स्थूल शरीर नहीं।

(४) तुम्हारी साधना का आधार निश्चल-नीरवता और स्थिरता होना चाहिये।

तुम्हें स्वयं अपने अंदर और अपने चारों ओर विद्यमान जगत् के प्रति अपने मनोभाव में भी अत्यंत अचंचल और स्थिर बने रहना चाहिये और सर्वदा अधिकाधिक अचंचल और स्थिर बनते जाना चाहिये। अगर तुम ऐसा कर सको तो तुम्हारी साधना धीरे-धीरे प्रगति कर सकती है और कम-से-कम क्लेश और उपद्रव के साथ अपने-आपको विस्तारित कर सकती है।

जो दिव्य शक्ति तुम्हारे अंदर कार्य कर रही है उसपर भरोसा रखते हुए चुपचाप आगे बढ़ते जाओ।

*

सिर के ऊपर का यह बोझ या दबाव सदा इस बात का चिह्न होता है कि माताजी की शक्ति का संबंध तुम्हारे साथ है और वह तुम्हारी सत्ता को घेरने, आधार में प्रवेश करने तथा उसमें फैल जाने के लिये ऊपर से दबाव डाल रही है;—साधारणतया यह चक्रों के भीतर से होकर क्रमशः नीचे की ओर जाती है। कभी तो यह पहले शांति के रूप में आती है, कभी शक्ति के रूप में, कभी माताजी की चेतना और उनकी उपस्थिति के रूप में और कभी आनन्द के रूप में।

पहले जब तुमने इसे खो दिया था तब या तो तुम्हारे अपने अंदर प्राणगत अपूर्णता के ऊपर उठ आने या बाहर से कोई आक्रमण होने के कारण ही वैसा हुआ होगा। दबाव के सदा ही बने रहने की आवश्यकता नहीं है; पर यदि गति स्वाभाविक रूप से चलती रहे तो प्रायः वह दबाव बार-बार आता है अथवा तबतक उसका आना जारी रहता है जबतक आधार खुल नहीं जाता और फिर उच्चतर चेतना के नीचे उतरने में कोई बाधा नहीं रह जाती।

१८-९-१९३३

*

यह ऊपर से मेरुदंड के द्वारा माताजी की शक्ति का अवतरण है; यह एक जानी हुई क्रिया है। अवतरण दो या तीन प्रकार के होते हैं। एक है मेरुदंड पर अवलंबित चक्रों के आधार को इस प्रकार स्पर्श करना। दूसरा है सिर के भीतर से होकर शरीर में तबतक एक-एक स्तर उतरते जाना जबतक कि समूचा शरीर न भर जाये और चेतना के सभी चक्र न खुल जायें। तीसरा है वह अवतरण जो बाहर से आधार को घेर लेता है।

१-२-१९३४

*

माताजी ने जो कुछ किया था वह था अग्नि प्रज्वलित कर देना—अगर तुमने उसका अनुभव नहीं किया तो इसका कारण अवश्य ही यह होगा कि बाहरी आवरण ने अभी उसे बाहरी चेतना तक नहीं आने दिया होगा। परंतु आंतर सत्ता में किसी चीज ने उसे अवश्य रखा होगा और अधिक खुले रूप में अपने को खोल रखा होगा—इसी बात को नींद के समय की तुम्हारी अनुभूति सूचित करती है, क्योंकि वह स्पष्ट ही आंतर सत्ता में होनेवाली श्रीमां की एक क्रिया थी। मेरुदंड में धारा का अवतरण सर्वदा माताजी की शक्ति का अवतरण होता है जो चक्रों को खोलने के लिये उनके अंदर कार्य करती है, और धारा में जो एक प्रबल शक्ति का तुमने अनुभव किया वह स्पष्ट ही इस बात का सबूत है कि वहां एक विशालतर उद्‌घाटन हुआ है। तुम्हें बस लगे रहना है और अग्नि तथा शक्ति दोनों का प्रभाव ऊपरी चेतना में प्रकट होगा—कारण, बराबर ही आंतर सत्ता में पर्दे के पीछे तैयारी का कार्य तबतक होता रहता है जबतक पर्दा पतला होते-होते दूर नहीं हो जाता और फिर बाहरी चेतना के सहयोग के साथ समस्त क्रिया की जा सकती है।

२२-४-१९३७

*

कुछ चीज तुम्हारे अंदर बढ़ रही है, पर यह एकदम भीतर है—फिर भी यदि दृढ़ आग्रह बना रहे तो यह बाहर आने के लिये बाध्य होगी। उदाहरण के लिये धाराओं के साथ इस सफेद चमचमाती हुई ज्योति को लें; यह इस बात का निश्चित चिह्न है कि शक्ति (माताजी की) आधार में प्रवेश कर रही है और कार्य कर रही है, परंतु यह नींद में तुम्हारे पास आयी—अर्थात् आंतर सत्ता में,

अभी पर्दे के पीछे ही आयी। जिस क्षण यह बाहर आयेगी, यह सूखापन जाता रहेगा।

५-२-१९३७

*

सायंकाल से शक्ति की क्रिया आरंभ हो गयी है। माताजी के सायं-दर्शन के समय मेरी चेतना ने अपने-आपको पहले के किसी भी अवसर की अपेक्षा अधिक विस्तृत रूप में उनकी ओर खोल दिया।

बहुत अच्छा। शक्ति साधारणतया इसी प्रकार, बीच-बीच में रुक-रुक कर, कार्य करती है और प्रत्येक बार अधिक प्रबल और पूर्ण बनकर लौटती है।

४-८-१९३४

श्रीमां की विश्वगत चेतना के साथ एकत्व

प्रत्येक व्यक्ति में मन, प्राण और शरीर की चेतना साधारणतया अपने-आपमें बन्द रहती है; वह संकीर्ण होती है, विशाल नहीं होती, अपने-आपको ही प्रत्येक चीज के केन्द्र के रूप में देखती है, अपनी निजी धारणाओं के अनुसार ही चीजों का मूल्यांकन करती है—वह वास्तव में किसी चीज को उसके सच्चे स्वरूप में नहीं जानती। पर, योगसाधना के द्वारा जब मनुष्य सच्ची चेतना की ओर उद्घाटित होना आरंभ करता है तब यह बाधा भंग होना आरंभ कर देती है। मनुष्य अनुभव करता है कि उसका मन विस्तारित हो रहा है, यहांतक कि अंत में भौतिक चेतना भी अधिकाधिक विस्तारित होने लगती है और उसके फलस्वरूप अंत में तुम सभी वस्तुओं को अपने अंदर, सभी वस्तुओं के साथ अपने को एक अनुभव करने लगते हो। उस समय तुम माताजी की विश्वगत चेतना के साथ एक हो जाते हो। यही कारण है कि तुम अपने मन को विशाल होते हुए अनुभव कर रहे हो। परंतु मानव-मन के ऊपर और भी बहुत कुछ है और यही वह चीज है जिसे तुम अपने सिर के ऊपर एक जगत् के समान अनुभव करते हो। ये सभी हमारे योग की साधारण अनुभूतियां हैं। यह महज आरंभ है। परंतु इस चीज के विकसित होते रहने के लिये यह आवश्यक है कि तुम अधिकाधिक अचंचल होओ, जो कुछ आवे उसे अत्यंत उत्सुक और उत्तेजित हुए बिना धारण करने में अधिकाधिक सक्षम होओ। पहली आवश्यक

चीजें हैं शांति और स्थिरता और उसके साथ-साथ विशालता—जो कोई प्रेम या आनंद आवे, जो कोई शक्ति, जो कोई ज्ञान आवे, शांति के अंदर तुम उसे धारण कर सकते हो।

विश्वव्यापी और रूपांतरकारी शक्ति

जितना ही अधिक हम व्यक्तिगत रूप से अपने को माताजी की ज्योति और शक्ति की ओर खोलते हैं उतना ही अधिक उनकी शक्ति विश्व के अंदर स्थापित होती है—क्या यह सच है?

रूपांतर करनेवाली शक्ति स्थापित होती है—विश्वगत शक्ति तो वहां सदा ही विद्यमान रहती है।

१३-८-१९३३

माताजी की शक्ति और गुण

जब कोई अनुभव करता है कि उसके द्वारा माताजी की शक्ति कार्य कर रही है, उसकी अपनी शक्ति नहीं, तब क्या केवल माताजी की शक्ति ही उसके कार्यों में क्रियाशील होती है और (प्रकृति के) गुण चुपचाप पड़े रहते हैं?

नहीं, गुण विद्यमान होते हैं और सुषुप्त नहीं होते—क्योंकि वे मध्यवर्ती होते हैं (अर्थात् वे मध्य में रहनेवाली चीजें हैं)। यदि शक्ति और आंतर चेतना बहुत प्रबल हों तो रजस् की प्रवृत्ति होती है कि तपस् के किसी निम्नतर रूप की तरह बन जाये और तमस् की प्रवृत्ति होती है कि अधिकांश में एक प्रकार के जड़ शम की तरह बन जाये। इसी ढंग से रूपांतर आरंभ होता है, पर साधारणतया इसकी प्रक्रिया बड़ी धीमी होती है।

२९-१-१९३६

जड़तत्त्व में माताजी की शक्ति

यह कब कहा जा सकता है कि जड़तत्त्व भगवान् के लिये तैयार हो गया है?

अगर जड़-चेतना खुल जाये, माताजी की शक्ति को अपने अंदर कार्य करते हुए अनुभव करे और उसका प्रत्युत्तर दे तो यह कहा जा सकता है कि वह तैयार है।

११-६-१९३३

*

यह (माताजी की चेतना) शरीर के सभी अणुओं में रह सकती है, क्योंकि सब कुछ गुप्त रूप से सचेतन है।

५-१०-१९३३

*

माताजी की शक्ति शरीर में पूर्ण रूप से कार्य करे इसके लिये यह आवश्यक है कि केवल मन में ही नहीं स्वयं शरीर में भी श्रद्धा हो और वह अपने-आपको खोले।

९-१०-१९३३

*

क्या माताजी आंतरिक भागों के तैयार कर लेने के बाद ही भौतिक प्रकृति पर कार्य करना आरंभ करती हैं?

साधारण क्रम यही है, किंतु आंतरिक भागों में कुछ कार्य सर्वदा, सभी समयों में चलता रहता है, क्योंकि वे (आंतरिक भाग और भौतिक प्रकृति) परस्पराश्रित हैं।

अवचेतना और पारिपार्श्विक चेतना पर माताजी का प्रभाव

प्रातःकाल से ही मेरे अंदर माताजी की चेतना में खो जाने की उत्कट अभीप्सा उठ रही थी। तब मुझे भान हुआ कि मेरी चेतना बारंबार ऊपर उठ रही है और वहीं अपना आसन जमा रही है। प्रणाम से पूर्व मुझे ऐसा लगा मानों नाभि के पास के और नीचे के भाग भी ऊपर की ओर खिंचे चले जा रहे हों। प्रणाम के बाद मैंने अपने चारों ओर कुछ समय तक एक भिन्न प्रकार का वातावरण लगभग ठोस रूप में अनुभव किया।

अतएव मैंने अनुमान किया कि माताजी ने मेरी अवचेतना और परिपार्श्विक चेतना पर एक प्रबल आध्यात्मिक प्रभाव डाला होगा।

यह बहुत अच्छा है, अवचेतना और इर्दगिर्द की चेतना के विषय में तुम्हारा कहना ठीक है; क्योंकि प्रभाव वहीं पर पड़ना चाहिये जिसमें कि चेतना ऊपर की ओर जाये और खुली शांति, ज्योति और आनंद में अपने-आपको दूर-दूर तक फैला दे तथा नीचे अवचेतना तक में उन्हें उच्चतर चेतना के साथ जोड़ दे। इसी अवस्था में माताजी की चेतना में जाने पर अहंकार का लोप होना संभव होता है।

२५-९-१९३५

माताजी की शक्ति को आत्मसात् करना

माताजी की शक्ति को जब कोई ग्रहण करता है तब उसके लिये सबसे उत्तम तरीका यह है कि वह तबतक शांत-स्थिर बना रहे जबतक वह शक्ति उसके अंदर आत्मसात् न हो जाये। उसके बाद वह ठीक रहती है, बाहरी क्रिया या मिलने-जुलने से खो नहीं जाती।

*

अगर ध्यान समचित्तता, शांति, एकाग्रता की अवस्था या दबाव या प्रभाव भी ले आता है तो वह कर्म में भी जारी रह सकता है, बशर्ते कि चेतना को शिथिल करके या छितरा कर साधक उसे दूर न फेंक दे। यही कारण था कि माताजी चाहती थीं कि लोग प्रणाम या ध्यान के समय न केवल एकाग्र रहें बल्कि निश्चल-नीरव बने रहें और बाद में अपने अंदर ग्रहण करें या अपना अंश बना लें और ठीक इसीलिये कि माताजी उनके अंदर जो कुछ दें उसका असर बना रहे और उसके द्वारा मनोभाव में परिवर्तन आये, उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि ऐसी चीजों से बचा जाये जो व्यक्ति को ढीला-ढाला, अस्तव्यस्त या छिन्न-भिन्न कर देती हैं। पर मुझे भय है, अधिकतर साधकों ने न तो कभी समझा है और न इस तरह की किसी चीज का अभ्यास ही किया है—वे उनके उपदेशों को न तो पकड़ पाये और न समझ ही सके।

*

उन्नति करने के एक स्थिर और सुदृढ़ संकल्प को अपने अंदर जम जाने दो; जो कुछ श्रीमाताजी तुम्हारे अंदर डालती हैं उसे चुपचाप, लगातार और सम्पूर्ण रूप में अपनाने का अभ्यास डालो। यही उन्नति करने का पक्का रास्ता है।

मार्च, १९२८

माताजी की शक्तियों को खींचना

जब कोई खुला हो, अत्यंत उत्सुक हो और शक्ति, अनुभूति आदि को चुपचाप उतरने देने के बदले उन्हें नीचे खींच लाने की चेष्टा करे तो उसीको हम 'खींचना' कहते हैं। बहुत-से लोग माताजी की शक्तियों को खींचते हैं—जो कुछ वे आसानी से हजम कर सकते हैं उससे कहीं अधिक ग्रहण करने की चेष्टा करते हैं और क्रिया में गड़बड़ी उत्पन्न करते हैं।

अप्रैल, १९३५

*

खींचने का अर्थ क्या है? जब हम प्राणिक कामना के साथ माताजी से कोई चीज चाहते हैं तो क्या वह 'खींचना' होता है? उसका हमपर क्या प्रभाव होता है?

हां; वह एक प्रकार का खींचना है—उसका परिणाम होता है चेतना को अंध और अस्तव्यस्त कर देना। परंतु एक और प्रकार का खींचना भी होता है जो ठीक वस्तुओं के लिये होता है। वह अपने-आपमें बुरा नहीं और उसका प्रयोग बहुत-से लोग करते हैं—उदाहरणार्थ, ज्योति, शक्ति और आनंद के लिये खींचना। परंतु वह भगवान् के प्रति शांत उन्मीलन की अपेक्षा अधिक प्रतिक्रियाओं को उत्पन्न करता है।

१-६-१९३३

*

नहीं, लोगों को सुधारने या पूर्ण बनाने के लिये उन्हें रोगी कर देना माताजी की विधि नहीं। परंतु कभी-कभी सिरदर्द-जैसी चीजें आया करती हैं और उसका कारण यह होता है कि मस्तिष्क ने या तो सीमा से अधिक श्रम किया होता है या फिर वह ग्रहण नहीं करना चाहता या कठिनाइयां पैदा करता है। परंतु यौगिक सिरदर्द विशेष प्रकार के होते हैं और जब मस्तिष्क ग्रहण करने या

उत्तर देने का तरीका ढूंढ़ लेता है, उसके बाद वे बिलकुल नहीं आते।

२०-६-१९३५

*

शरीर में जो ताप अनुभूत होता है क्या वह ज्वर का है या माताजी की शक्ति का जिसने मेरे आधार पर बड़ा भारी दबाव डाला है?

यह बात अभी देखने की है। बहुत संभवतः वह 'तपस्' की गर्मी है; प्रश्न यह है कि क्या वह शरीर में कुछ अंश में ही ज्वर के रूप में परिणत होती है।

७-६-१९३६

माताजी की शक्ति के प्रति चैत्य उद्‌घाटन

आवश्यकता इस बात की है कि खोज से लाभ उठाया जाये और बाधा-विघ्न से छुटकारा पाया जाये। माताजी ने केवल बाधा को ही सूचित नहीं किया था; उन्होंने बहुत स्पष्ट रूप में तुम्हें यह भी दिखा दिया था कि उससे कैसे छुटकारा पाया जा सकता है और उस समय तुमने उनकी बात समझी थी, यद्यपि अब (मुझे अपनी चिट्‌ठी लिखने के समय) वह ज्योति, जिसे तुमने देखा था, तुम्हारे अपने प्राण को अधिकाधिक उदासीनता के कड़ुए आमोद-प्रमोद में संलग्न रखने के कारण ढक गयी-सी प्रतीत होती है। यह बिलकुल स्वाभाविक ही था, क्योंकि उदासी का फल हमेशा यही होता है। यही कारण है कि मैं दुःख-शोक के उपदेश के प्रति तथा दुःख-शोक को (अभिमान, विद्रोह, विरह आदि की तरह) अपना एक प्रधान तख्ता बनानेवाली किसी साधना के प्रति आपत्ति करता हूं। क्योंकि, दुःख-शोक, जैसा कि स्पिनोज़ा का कहना है, किसी महत्तर पूर्णता का मार्ग, सिद्धि का पथ नहीं है; वह हो नहीं सकता, क्योंकि वह मन को विभ्रान्त, दुर्बल और विक्षिप्त करता है, प्राण-शक्तियों को अवसन्न बनाता है और आत्मा को अंधकार से ढक देता है। प्रसन्नता, प्राणिक नमनीयता और आनंद से लौटकर शोक, आत्म-अविश्वास, अवसन्नता और दुर्बलता में जा गिरना एक बड़ी चेतना से छोटी चेतना में पीछे हट आना है,—इन अवस्थाओं का अभ्यास यह सूचित करता है कि प्राण का कोई अंश अधिक छोटी, धूमिल, अंधकारपूर्ण और दुःखपूर्ण क्रिया से चिपका हुआ है जिसमें से बाहर निकल आना ही योग का लक्ष्य है।

इसलिये यह कहना एकदम गलत है कि जिस गलत चाबी से तुम परियों का महल खोलने की चेष्टा कर रहे थे उसे तो माताजी ने ले लिया और तुम्हारे पास कोई दूसरी चाबी नहीं रहने दी। क्योंकि उन्होंने तुम्हें सच्ची चाबी केवल दिखा ही नहीं दी वरन् वह तुम्हें दे भी दी। उन्होंने तुम्हें प्रसन्नता का अस्पष्ट-सा उपदेश ही नहीं दिया था, बल्कि उन्होंने ठीक तरह के ध्यान में अनुभूत अवस्था का ठीक-ठीक वर्णन भी किया था—आंतरिक विश्राम की अवस्था का, न कि थकावट की अवस्था का, शांत उद्घाटन की अवस्था का, न कि उत्सुक या जी-तोड़ खींच-तान की अवस्था का, एक ऐसी अवस्था का जिसमें भागवती शक्ति की क्रिया के लिये उसके हाथों में अपने-आपको सुसमंजस भाव से दे दिया जाये और फिर उसमें यह बोध बना रहे कि दिव्य शक्ति कार्य कर रही है, उसपर स्थिर विश्वास हो और बिना किसी चंचल हस्तक्षेप के उसे कार्य करने दिया जाये। और उन्होंने तुमसे पूछा कि क्या तुमने कभी उस अवस्था का अनुभव नहीं किया, और तुमने कहा था कि तुम्हें इसका अनुभव है और उसे तुम खूब अच्छी तरह जानते हो। वह अवस्था है चैत्य उद्घाटन की, यदि वह उद्घाटन तुम्हें प्राप्त हुआ था तो, तुम जानते ही हो कि चैत्य उद्घाटन क्या चीज है; निस्सन्देह, और भी बहुत कुछ है जो बाद में आता है, पर यही मौलिक स्थिति है जिसमें यह अत्यंत आसानी से आता है। तुम्हें माताजी ने जो चाबी दी उसे तुम्हें अपनी चेतना में बनाये रखना और उसका उपयोग करना चाहिये था, —पीछे हटकर उदासी और पुरानी चीज के लिये रोने-धोने के भाव को अपने अंदर बढ़ने नहीं देना चाहिये था। इस अवस्था में, जिसे तुम समुचित या चैत्य भाव कहते हो, पुकार, प्रार्थना, अभीप्सा रह सकती है; तीव्रता, एकाग्रता अपने-आप आयेंगी, कठिन प्रयास करने या प्रकृति पर तीव्र दबाव डालने से नहीं। अनुचित क्रियाओं का त्याग, दोषों को स्पष्ट रूप में स्वीकार करना केवल इसके साथ मेल ही नहीं खाता, बल्कि इसके लिये सहायक भी है, फिर यह भाव त्याग करने और दोष स्वीकार करने की वृत्ति को सहज, स्वाभाविक, एकदम पूर्ण और सच्चा तथा फलप्रद बना देता है। यही उन सब लोगों का अनुभव है जिन्होंने इस भाव को ग्रहण करना स्वीकार किया है।

प्रसंगवशात् मैं यह भी कह दूं कि चेतना और ग्रहणशीलता एक ही चीज नहीं है; कोई आदमी ग्रहणशील हो सकता है, फिर भी हो सकता है कि बाहरी रूप में वह इस विषय में अनजान हो कि किस तरह ये सब चीजें हो रही हैं और क्या किया जा रहा है। दिव्य शक्ति, जैसा कि मैं बार-बार लिख चुका हूं, पर्दे के पीछे कार्य करती है। उसके परिणाम पीछे की ओर जमा हुए रहते हैं

और बाद में प्रकट होते हैं, बहुधा धीरे-धीरे, थोड़े-थोड़े, जबतक कि इतना अधिक दबाव न हो जाये कि किसी तरह वे फूट पड़ें और बाहरी प्रकृति पर अधिकार जमा लें। मानसिक और प्राणिक श्रम और खींच-तान तथा सहज चैत्य उद्‌घाटन में भेद है और यह कोई एकदम पहला ही अवसर नहीं है जब हमने इस भेद की बात कही हो। श्रीमाताजी और मैंने अनगिनत बार इसके विषय में लिखा और कहा है और हमने खींच-तान[१] और श्रम को मना किया है तथा चैत्य उद्‌घाटन के भाव का समर्थन किया है। यह वास्तव में सही या गलत चाबी का प्रश्न नहीं है, बल्कि ताले में चाबी को सही या गलत तरीके से लगाने का प्रश्न है। या तो, किसी कठिनाई के कारण, तुम चाबी को जोर से इधर-उधर घुमाकर ताले को जबर्दस्ती खोलने की कोशिश करते हो या विश्वास-पूर्वक और शांति के साथ चाबी को ठीक तरीके से घुमाते हो और दरवाजा खुल जाता है।

५-५-१९३२

सक्रिय मन की बाधा

मेरा मन माताजी के विचारों से सचेतन होने और उन्हें ग्रहण करने का यत्न कर रहा था। क्या यह क्रिया ठीक है?

यह तरीका बिलकुल ही नहीं है—अगर मन सक्रिय हो तो माताजी जो कुछ ला रही होती हैं उसके विषय में सचेतन होना अधिक कठिन होता है। वे विचारों को नहीं लातीं, बल्कि उच्चतर ज्योति, शक्ति इत्यादि लाती हैं।

२२-३-१९३३

*

आज मैंने अनुभव किया कि माताजी मेरे सिर को अपने प्रकाश से भर रही हैं। क्या मैं वस्तुओं की कल्पना कर रहा था या उन्होंने सचमुच में ऐसा किया?

[१] शक्ति का दृढ़तापूर्वक आहरण करना संभव है और वह ठीक वह चीज नहीं है जिसे मैं 'खीच-तान' कहता हूं—शक्ति का आहरण करना आम बात है और सहायक क्रिया है।

वे हर बार ऐसा करती हैं, अंतर इतना ही है कि आज तुमने उसे केवल ग्रहण ही नहीं किया वरन् तुम सचेतन रूप से ग्रहणशील थे।

८-५-१९३३

माताजी की शक्ति की क्रिया को समझना

क्या यह समझना हमारे लिये सदा आवश्यक है कि माताजी की शक्ति हमारे योग की प्रगति के लिये हमारे अंदर क्या कर रही है?

कितने ही ऐसे लोग हैं जो यह समझे बिना कि शक्ति क्या कर रही है वेगपूर्वक प्रगति करते हैं—वे बस निरीक्षण और वर्णन करते हैं और कहते हैं "मैं सब कुछ माताजी पर छोड़ता हूं।" अंततोगत्वा ज्ञान और समझ भी आते ही हैं।

१७-७-१९३३

*

माताजी के प्रसंग में आपने एक बार कहा था, "उनकी शक्ति के प्रति सचेतन होने के लिये विनती करो।" क्या इसका यह अभिप्राय है कि मुझे उनकी शक्ति के विषय में जानने के लिये अभीप्सा करनी चाहिये।

हां, केवल मन से जानने के लिये ही नहीं बल्कि उसका वेदन प्राप्त करने तथा आंतरिक अनुभव से उसका साक्षात्कार करने के लिये।

१८-६-१९३३

*

मान लीजिये मैं किसी उलझन में हूं और अपने ऊपर स्थित माताजी की शक्ति को नीचे उतार लाने के लिये पुकारता हूं। अब, मुझे कैसे पता चले कि वह उतरी है या नहीं?

उसकी अनुभूति या उसके परिणाम के द्वारा।

२६-६-१९३३

*

मान लीजिये वह उतर आयी है, और मैंने अपनी पढ़ाई-लिखाई शुरू कर दी है; क्या तब मैं उसे यह आदेश दे सकता हूं कि वह बाह्य प्रभावों से मेरी रक्षा करे और इसके साथ ही, जब मेरा मन किसी और काम में लगा हो तब भी, माताजी के साथ मेरा पूर्ण संपर्क बनाये रखे?

तुम माताजी की शक्ति को कोई काम करने का आदेश नहीं दे सकते, माताजी की शक्ति स्वयं माताजी की ही अभिव्यक्ति है।

२६-६-१९३३

*

मैं यह समझने में असमर्थ हूं कि कैसे यह शक्ति कोई कार्य निपटा सकती है।

क्या तुम यह समझते हो कि माताजी की शक्ति का कार्य से कुछ भी संबंध नहीं या वह इतनी दुर्बल है कि कुछ कर ही नहीं सकती? या फिर और क्या? शक्ति भला कार्य करने के सिवा होती ही किस मतलब के लिये है?

२६-६-१९३३

माताजी की शक्ति के साथ निम्नतर प्रकृति का मिश्रण

शक्ति के विषय में आपने कहा था, "वह मन में या अन्यत्र अपनी ही क्रियाओं का सर्जन करती है।" ऐसी दशा में तो मन या कोई अन्य भाग, जिस पर वह कार्य करती है, केवल उसी चीज को व्यक्त करेगा जिसका सर्जन शक्ति ने किया है।

यह एक आदर्श अवस्था है जो तब होती है जब शक्ति एकमात्र वास्तविक शक्ति ही होती है—किंतु तुम्हारी प्रकृति में इतना अधिक मिश्रण है कि साधना की इस अवस्था में वह चीज संभव नहीं हो सकती।

३-८-१९३४

*

ऐसी दशा में, क्या इसका यह अर्थ नहीं कि मेरी चेतना जिसे 'शक्ति' के

रूप में अनुभव करती है वह माताजी की वास्तविक शक्ति नहीं?

मैं कह ही चुका हूं कि वह तुम्हारे वर्तमान मन, प्राण और शरीर की क्रिया से मिश्रित हो जाती है। यह अनिवार्य ही है क्योंकि उसे उनपर कार्य करना होता है। केवल रूपांतर के बाद ही वह पूर्ण रूप से माताजी की एक ऐसी शक्ति हो सकती है जिसमें पृथक् व्यक्तित्व का जरा भी मिश्रण न हो। यदि आरंभ से ही, अपनी समस्त, अविमिश्र पूर्णता से संपन्न भागवत शक्ति को, वर्तमान प्रकृति का कोई भी विचार किये बिना कार्य करना होता तो साधना नाम की कोई चीज ही न होती, होती केवल बिना किसी कारण या प्रक्रिया के मानव की जगह भगवान् की चमत्कारपूर्ण प्रतिष्ठा।

४-८-१९३४

विवेक की आवश्यकता

तुम्हारे ऊपर "जो कुछ अवतरित होने की चेष्टा कर रहा है उसके विरुद्ध विवेक और बचाव की सब तरह की बाधा खड़ी करने की बात" को छोड़ देने का विचार करना खतरनाक है। क्या तुमने सोचा है कि जो कुछ अवतरित हो रहा है वह यदि दिव्य सत्य के साथ मेल खानेवाली कोई चीज न हो, संभवतः विरोधी भी हो तो फिर उसका मतलब क्या होगा? कोई विरोधी शक्ति साधक के ऊपर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिये इससे अच्छी अवस्था की मांग नहीं करेगी। वास्तव में एकमात्र माताजी की शक्ति और दिव्य सत्य को ही बिना बाधा के आने देना चाहिये और उस अवस्था में भी हमें विवेक-विचार की शक्ति को अवश्य बनाये रखना चाहिये जिसमें कोई भी मिथ्या चीज यदि श्रीमां की शक्ति और दिव्य सत्य का रूप बनाकर आवे तो उसे हम पहचान जायें और त्याग की शक्ति को भी बनाये रखना चाहिये जो सब प्रकार की मिलावट को बाहर निकाल फेंके।

अपनी आध्यात्मिक भवितव्यता में विश्वास रखो, भूल-भ्रांति से पीछे हटो और चैत्य पुरुष को श्रीमां की ज्योति और शक्ति के सीधे पथप्रदर्शन की ओर और भी अधिक खोलो। अगर केंद्रीय संकल्प सच्चा हो तो प्रत्येक भूल की पहचान सत्यतर क्रिया और उच्चतर प्रगति की ओर जाने के लिये एक-एक मंजिल साबित हो सकती है।

*

यह कैसे पहचाना जाये कि कोई विशेष विचार, हृद्भाव या कार्य का आवेग स्वयं माताजी से आया है न कि किसी वैश्व शक्ति से? यदि वह प्रत्यक्षतः ही मिथ्यात्व से उत्पन्न हुआ हो तो उसे इस रूप में पहचाना जा सकता है, पर इससे भिन्न प्रकार के अन्य भी बहुत-से होते हैं और कभी-कभी मनुष्य यही सोचता रहता है कि वे भीतर से माताजी के द्वारा प्रेरित हैं यद्यपि वे ऐसे होते नहीं।

यह केवल विवेक, सावधानता, सचाई, मन की गतियों पर सतत नियंत्रण और एक प्रकार के चैत्य युक्ति-कौशल के विकास के द्वारा ही किया जा सकता है जो किसी भी मानसिक अनुकरण को या इस मिथ्या सुझाव को ढूंढ़ निकालता है कि वह विचार आदि माताजी का है।

२७-४-१९३३

अवतरण के खतरों से बचने का उपाय

ऊपर से होनेवाले अवतरण तथा उसे क्रियान्वित करने की इस प्रक्रिया में सबसे प्रधान बात है स्वयं अपने ऊपर पूर्ण रूप से निर्भर न करना, बल्कि गुरु के पथ-प्रदर्शन पर निर्भर करना और जो कुछ घटित हो उसपर विचार करने, मत देने और निर्णय करने के लिये उन्हें बतलाना। क्योंकि प्रायः ही ऐसा होता है कि अवतरण के कारण निम्नतर प्रकृति की शक्तियां जागृत और उत्तेजित हो जाती हैं और उसके साथ मिल जाना तथा उसे अपने लिये उपयोगी बनाना चाहती हैं। प्रायः ही ऐसा होता है कि स्वभावतः अदिव्य कोई शक्ति या कई शक्तियां परमेश्वर या भगवती माता के रूप में सामने प्रकट होती हैं और हमारी सत्ता से सेवा और समर्पण की मांग करती हैं। अगर इन्हें स्वीकार किया जाये तो इसका अत्यंत सर्वनाशी परिणाम होगा। अवश्य ही, यदि साधक केवल भागवत क्रिया की अवस्था तक ऊपर उठा हुआ हो और उसी पथ-प्रदर्शन के प्रति उसने आत्मदान और समर्पण किया हो तो सब कार्य आसानी से चल सकते हैं। साधक का यह आरोहण तथा समस्त अहंकारपूर्ण शक्तियों या अंहकार को अच्छी लगनेवाली शक्तियों का त्याग पूरी साधना के भीतर हमारी रक्षा करता है। परंतु प्रकृति के रास्ते जालों से भरे पड़े हैं, अहंकार के छद्मवेश असंख्य हैं, अंधकार की शक्तियों की माया—राक्षसी माया—असाधारण चातुरी से भरी है; हमारी बुद्धि अयोग्य पथप्रदर्शक है और प्रायः ही विश्वासघात

करती है; प्राणगत कामना सदा हमारे साथ रहकर हमें किसी आकर्षक पुकार का अनुसरण करने का लोभ देती रहती है। यही कारण है कि इस योग में हम बराबर ही समर्पण पर इतना अधिक जोर देते हैं। अगर हृदय-केंद्र पूरा खुला हो और चैत्य पुरुष का प्रभुत्व बराबर बना रहे तो फिर कोई प्रश्न ही नहीं; सब सुरक्षित ही होता है। परंतु निम्नतर चीजों के ऊपर उठ आने से चैत्य पुरुष किसी भी क्षण ढका जा सकता है। सिर्फ थोड़े-से लोग ही इन खतरों से मुक्त होते हैं और निश्चित रूप से वे ही लोग ऐसे होते हैं जिनके लिये समर्पण करना आसान होता है। जो व्यक्ति तादात्म्य के द्वारा स्वयं भगवान् हो गया है या भगवान् का प्रतिनिधित्व करता है, उसका पथप्रदर्शन इस कठिन प्रयास के लिये अत्यंत आवश्यक और अनिवार्य है।

*

अपने और श्रीमां की शक्ति के बीच किसी चीज और किसी व्यक्ति को न आने दो। वास्तव में तुम्हारे उस शक्ति को आने देने और उसे बनाये रखने तथा सच्ची अंतःप्रेरणा का प्रत्युत्तर देने पर ही सफलता निर्भर करती है, मन की बनायी हुई किसी धारणा पर नहीं। यहांतक कि वे धारणाएं और योजनाएं भी, जो अन्य प्रसंगों में उपयोगी हो सकती थीं, असफल हो जायेंगी अगर उनके पीछे सच्चा भाव और सच्ची शक्ति तथा प्रभाव न हों।

*

अगर तुम अपने विश्वास को फिर से पाना चाहते हो और उसे बनाये रखना चाहते हो तो तुम्हें सबसे पहले अपने मन को शांत-स्थिर करना चाहिये और उसे माताजी की शक्ति की ओर खोल देना और उसका आज्ञाकारी बना देना चाहिये। अगर तुम्हारा मन उत्तेजित रहता हो और प्रत्येक प्रभाव और आवेग की मर्जी पर चलता हो तो तुम परस्पर-संघर्षकारी और परस्पर विरुद्ध शक्तियों का ही एक क्षेत्र बने रहोगे और उन्नति नहीं कर सकोगे। तुम फिर श्रीमां के ज्ञान के स्थान पर अपने निजी अज्ञान की बातें सुनना आरंभ कर दोगे और स्वभावतः ही तुम्हारा विश्वास उठ जायेगा और तुम अनुचित स्थिति और अनुचित मनोभाव के शिकार बन जाओगे।

मार्च, १९२८

परिवर्तन के लिये श्रीमां की शक्ति

यह मान लेना होगा कि तुममें इस परिवर्तन की क्षमता है, क्योंकि तुम यहां माताजी के सान्निध्य और संरक्षण में हो। श्रीमां की शक्ति का दबाव और उसकी सहायता बराबर ही मौजूद है। तुम्हारी प्रगति की तीव्रता निर्भर करती है उसकी ओर अपने-आपको खोल रखने पर और अन्य शक्तियों के समस्त सुझावों और आक्रमणों का शांति के साथ, धीर-स्थिर भाव से और लगातार त्याग करते रहने पर। विशेषकर प्राणमय सत्ता की स्नायविक उत्तेजना का त्याग करना ही होगा; स्नायु-सत्ता और शरीर में एक शांत और स्थिर शक्ति का होना ही एकमात्र सुदृढ़ आधार है। यह तुम्हारे ग्रहण करने के लिये मौजूद है अगर तुम इसकी ओर सदा खुले रहो।

२७-८-१९३२

*

किसी कठिनाई के कारण बेचैन या निरुत्साहित मत होओ, बल्कि चुपचाप और सरल भाव से अपने को माताजी की शक्ति की ओर खोले रखो और उसे अपने अंदर परिवर्तन ले आने दो।

*

माताजी की शक्ति केवल ऊपर, सत्ता के शिखर पर ही नहीं है, वह तुम्हारे साथ और तुम्हारे पास भी है। जिस समय तुम्हारी प्रकृति उसे कार्य करने देगी उस समय कार्य करने के लिये वह तैयार बैठी है। यहां के प्रत्येक आदमी के साथ वह इसी प्रकार विद्यमान है।

१५-११-१९३६

*

माताजी की शक्ति प्रत्येक कार्य कर सकती है, पर हमें अपनी सत्ता और प्रकृति के विषय में और जो कुछ उसके नीचे है उसके विषय में अधिकाधिक सचेतन होना चाहिये।

यह कोई मानसिक निर्णय का प्रश्न नहीं है—इन मामलों में वह बहुत थोड़ा ही उपयोगी होता है—बल्कि यह प्रश्न है चेतना का, बोध करने और देखने का।

सत्ता के निम्नतर स्तरों में अतिमानस सुसंगठित नहीं हुआ है जिस तरह

कि अन्य चीजें हुई हैं। उसका केवल एक प्रच्छन्न प्रभाव ही पड़ता है। अन्यथा अतिमानसिक सिद्धि प्राप्त करना आसान होता।

२२-५-१९३४

*

तुम्हें अनन्य रूप से किसी दूसरी चीज पर निर्भर नहीं करना चाहिये, चाहे वह कितनी ही सहायता पहुंचानेवाली क्यों न मालूम हो, बल्कि प्रधानतः प्रथमतः और मूलतः माताजी की शक्ति पर निर्भर करना चाहिये। सूर्य और ज्योति सहायक हो सकते हैं और होंगे ही यदि वे सच्चे सूर्य और सच्ची ज्योति हों, पर वे श्रीमां की शक्ति का स्थान नहीं ग्रहण कर सकते।

*

जिस दृढ़ता को तुमने प्राप्त किया है वह कोई व्यक्तिगत गुण नहीं है, बल्कि वह तुम्हारे माताजी के साथ संस्पर्श बनाये रखने पर निर्भर करती है। कारण, उनकी ही शक्ति उसके पीछे और तुम जो कुछ उन्नति कर सकते हो उस सबके पीछे विद्यमान है। उसी शक्ति पर निर्भर करना, उसी की ओर अधिक पूर्णता के साथ अपने को खोले रखना और आध्यात्मिक उन्नति को महज अपने लिये ही नहीं पर भगवान् के लिये पाने का प्रयास करना सीखो, तब तुम अधिक आसानी से अग्रसर होगे।

*

वे इन दो कारणों से उन्नति करने में असमर्थ हैं :

१. वे निराशा, उदासी और निर्बलता के भ्रम के अधीन हो जाते हैं।

२. वे केवल अपने ही बल पर प्रयास करते हैं और न इस बात की परवाह करते हैं या इसे जानते हैं कि किस प्रकार माताजी की शक्ति की क्रिया का आवाहन किया जाता है।

१०-६-१९३६

माताजी की शक्ति का प्रतिरोध

तुम्हारी बीमारियां इस बात का चिह्न हैं कि तुम्हारी भौतिक चेतना भागवत शक्ति की क्रिया का प्रतिरोध करती है।

अगर तुम साधना में उन्नति नहीं कर पाते तो इसका कारण यह है कि तुम

विभक्त हो और बिना कुछ बचाये अपने-आपको नहीं दे देते। तुम प्रत्येक चीज माताजी को समर्पित करने की बात कहते हो परंतु तुमने वह एक चीज भी नहीं दी है जिसे माताजी ने तुमसे मांगा था और जिसे देने का वचन तुमने कई बार दिया था। यदि भागवत शक्ति की क्रिया का आवाहन करने के बाद तुम अन्य प्रभावों को रहने दो तो भला तुम बाधा-विघ्न और कठिनाइयों से छुटकारा पाने की आशा कैसे कर सकते हो?

२०-११-१९२८

माताजी का दबाव डालना

मैं केवल तुम्हारी बात कह रहा था—मेरा कहने का मतलब यह नहीं था कि माताजी कभी दबाव डालतीं ही नहीं। परंतु दबाव भी बहुत प्रकार का हो सकता है। जब दिव्य शक्ति मन, प्राण या शरीर में प्रवेश करती है तब उसका एक दबाव पड़ता है—यह दबाव होता है अधिक तेज चलाने, निर्माण करने या रूप लेने या तोड़ने के लिये, तथा और भी बहुत-सी चीजों के लिये। तुम्हारे अंदर अगर कोई दबाव है तो वह है सहायता करने या अवलम्ब देने या आक्रमण को दूर करने के लिये, परंतु मुझे ऐसा नहीं लगता कि उसे ठीक-ठीक दबाव कहा जा सकता है।

प्रारंभिक चेतना में माताजी का कार्य

जो अनुभूतियां तुम्हें हुई हैं वे सिद्धि के लिये अच्छा प्रारंभ हैं। उन्हें एक गंभीरतर स्थिति की ज्योति के रूप में विकसित होना होगा जिसमें पहुंचने पर तुम्हारे अंदर एक उच्चतर चेतना का अवतरण होगा। अपनी जिस वर्तमान चेतना में तुम इन चीजों को अनुभव कर रहे हो वह अभी केवल प्रारंभिक स्थिति की एक चीज है—जिसमें श्रीमां तुम्हारी चेतना की स्थिति और तुम्हारे कर्मों के अनुसार अपनी विश्वशक्ति के द्वारा तुम्हारे अंदर कार्य कर रही हैं और उस क्रिया में सफलता और विफलता दोनों आ सकती हैं—मनुष्य को सफलता का प्रयास करते हुए दोनों के प्रति सम-चित्त बने रहना चाहिये। इस प्रारंभिक चेतना के अंदर भी निश्चित पथप्रदर्शन मिल सकता है अगर तुम एकमात्र श्रीमां की ही ओर पूर्ण रूप से मुड़े रहो और इस तरह मुड़े रहो कि तुम उनके सीधे पथप्रदर्शन का अनुभव कर सको, उसका अनुसरण कर सको

और तुम्हारे ऊपर कार्य करने के लिये उस समय दूसरा कोई प्रभाव या शक्ति हस्तक्षेप न करे। पर इस अवस्था को प्राप्त करना या बनाये रखना आसान नहीं है—इसके लिये आवश्यकता होती है महान् अनन्यता और निरन्तर एकचित्त आत्मदान की। जब उच्चतर चेतना अवतरित होगी तब अधिक घनिष्ठ एकत्व, भागवत उपस्थिति की अधिक गंभीर चेतना और अधिक ज्योतिर्मयी संबोधि का आना संभव होगा।

१७-११-१९३४

दूर से माताजी की शक्ति ग्रहण करना

तुम्हारा दूसरा मित्र जो कुछ पूछता है उसके बारे में यह कहना है कि यदि वह अपने हृदय में माताजी के प्रति पूजा का भाव बनाये रखे और तीव्रता से पुकारता रहे तो जहां वह है वहीं, यहां आये बिना भी, उसके लिये ग्रहण करना बिलकुल संभव है।

२८-५-१९३५

*

मेरे मित्र 'क्ष' के विषय में आपने कहा था कि वह माताजी की शक्ति ग्रहण कर रहा है। मैं थोड़ा भ्रम में पड़ गया हूं क्योंकि मैं समझ ही नहीं पाता कि किस माताजी की बात आपने लिखी है। क्या वह हम लोगों की माताजी हैं या कोई दूसरी जिन्हें लोग विश्वजननी कहते हैं? मैं इस कारण भ्रम में पड़ गया हूं कि वह माताजी का आवाहन नहीं करता और फिर भी माताजी की शक्ति को पाता है।

संभवतः मैंने जो लिखा था वह था : भागवत शक्ति के "संस्पर्श में", जो माताजी की शक्ति है। क्या तुमने, फोटो और उसके पत्र के द्वारा, उसके साथ हमारा संबंध नहीं स्थापित कर दिया है? क्या वह इस दिशा में नहीं मुड़ा है? क्या उसने 'य' के साथ मुलाकात नहीं की है और उससे—संस्पर्श के तीसरे माध्यम से—वह प्रभावित नहीं हुआ है? अगर उसमें श्रद्धा हो और यौगिक झुकाव हो तो संस्पर्श करने में उसे सहायता करने के लिये यह बिलकुल पर्याप्त है।

१९३६

*

मैं नहीं जानता कि माताजी स्वीकृत अर्थ में शक्ति भेज रही हैं या नहीं; मैंने उनसे पूछा नहीं है। पर जो हो, जिस आदमी में श्रद्धा और सच्चाई हो, जिसका चैत्य पुरुष जगना आरंभ हो गया हो और जो अपने को खोले रखता हो, वह शक्ति ग्रहण कर सकता है—चाहे वह जाने या नहीं कि वह ग्रहण करता है। अगर 'अ' कल्पना भी करता हो कि वह ग्रहण कर रहा है तो इससे सच्चे रूप में ग्रहण करने का रास्ता खुल सकता है—अगर वह इसे अनुभव करता हो तो उसके अनुभव पर संदेह ही क्यों किया जाये? वह निश्चय ही परिवर्तित होने के लिये खूब अधिक चेष्टा कर रहा है और यही पहली आवश्यकता है; अगर कोई इसके लिये प्रयत्न करे तो यह सर्वदा, कम या अधिक समय में, सिद्ध किया जा सकता है।

२८-६-१९४३

*

तुम्हारे लिये यह बिलकुल संभव है कि तुम घर पर और अपने काम के बीच रहकर साधना करते रहो—बहुत-से लोग ऐसा करते हैं। आरंभ में बस आवश्यकता यह है कि जितना अधिक संभव हो उतना माताजी को स्मरण करो, प्रत्येक दिन कुछ समय हृदय में उनका ध्यान करो, अगर संभव हो तो भगवती माता के रूप में उनका चिंतन करो, अपने भीतर उनको अनुभव करने की अभीप्सा करो, अपने कर्मों को उन्हें समर्पित करो और यह प्रार्थना करो कि वे भीतर से तुम्हें मार्ग दिखावें और तुम्हें संभाले रखें। यह आरंभिक अवस्था है और बहुधा इसमें बहुत समय लग जाता है, पर कोई यदि सच्चाई और लगन के साथ इस अवस्था में से गुजरता है तो मनोवृत्ति कुछ-कुछ बदलना आरंभ कर देती है और साधक में एक नयी चेतना खुल जाती है जो अंतर में श्रीमां की उपस्थिति के बारे में, प्रकृति में और जीवन में होनेवाली उनकी क्रिया के बारे में अथवा सिद्धि का दरवाजा खोल देनेवाली किसी अन्य आध्यात्मिक अनुभूति के बारे में अधिकाधिक सचेतन होना आरंभ करती है।

*

माताजी को स्मरण करो और, यद्यपि शरीर से तुम उनसे बहुत दूर हो, उनको अपने साथ अनुभव करने का प्रयास करो और तुम्हारी आंतर सत्ता जिस चीज को उनकी इच्छा बतलावे उसी के अनुसार कार्य करो। तब तुम अच्छी तरह उनकी और मेरी उपस्थिति का अनुभव कर सकोगे और एक

संरक्षण के रूप में अपने चारों ओर हमारे वातावरण को लिये रहोगे तथा स्थिरता और ज्योति का एक घेरा सर्वत्र तुम्हारे साथ बना रहेगा।

१२-१२-१९३६

माताजी के चित्र से शक्ति ग्रहण करना

जब मैं माताजी के चित्रों के सामने ध्यान करने बैठता हूं या उनके चरणों का चित्र खींचता हूं तब मैं शक्ति ग्रहण करता हूं। क्या यह केवल काल्पनिक अनुभव है?

नहीं, यह सिर्फ काल्पनिक नहीं है। उनके (चित्रों के) पास ध्यान करने से तुम उनके द्वारा माताजी का संस्पर्श पाने में समर्थ हुए हो और उनकी शक्ति तथा उपस्थिति का कुछ अंश वहां मौजूद है।

१४-७-१९३४

नीरोग करनेवाली शक्ति का कार्य और माताजी

नीरोग करनेवाली शक्ति के कार्य के विषय में 'अ' के साथ मेरी गरमा-गरम लेकिन मित्रतापूर्ण बहस हो गयी थी। उसका मत था कि अब चूंकि उसे यहां उतार लाया गया है, संसार के अन्य भागों में भी उसके क्रिया करने की संभावना है और कोई भी राम, श्याम और यदु आध्यात्मिक दृष्टि से अनुन्नत होने पर भी इसका व्यवहार कर सकता है। क्या यह सच है?

वह क्रिया कर सकती है पर प्रत्येक 'र', 'श', 'य' के द्वारा नहीं,—कम-से-कम आरंभ में तो नहीं।

३-२-१९३६

*

मैंने प्रतिवाद किया कि नीरोग करनेवाली शक्ति केवल माताजी के द्वारा कार्य करेगी और दूसरे इसका उपयोग करने में तभी समर्थ होंगे जब कि वे किसी रूप में उनके प्रति खुले होंगे या ज्ञानपूर्वक उनके साथ संबंध

बनाये होंगे और उनके साथ भौतिक संपर्क रखते होंगे। इन शर्तों को पूरा किये बिना कोई उसका व्यवहार नहीं कर सकता। आपका क्या कहना है?

निश्चय ही आरंभ में यही होगा अगर वह सच्ची शक्ति हो, पर जब वह एक बार पृथ्वी-चेतना में जमकर बैठ जायेगी तब रोग दूर करने में अतिभौतिक शक्ति का अधिक व्यापक व्यवहार करना संभव हो सकेगा।

और यह भी हमेशा जरूरी नहीं है कि जिस 'संबंध' की बात तुम कहते हो वह सचेतन ही हो। उदाहरणार्थ, बिना जाने ही कुए (Coué) का संबंध माताजी के साथ था। किसी भी आदमी के 'कुए' को जानने से बहुत पहले ही उन्होंने उसके कुछ शक्ति प्राप्त करने और उसके कार्य के प्रारंभ होने की बात मुझसे कही थी (अवश्य ही वे उसका नाम नहीं जानती थीं, पर उन्होंने उसका और उसके कार्य का वर्णन ऐसे ढंग से दिया था कि वह स्पष्ट ही उसके साथ मिलता-जुलता था)।

३-२-१९३६

७

श्रीमाताजी के साथ सच्चा संबंध

माताजी के साथ विशेष संबंध

निश्चय ही यह ठीक है कि भगवान् में कोई पसंदगी या नापसंदगी नहीं है और वह सबके प्रति सम होते हैं, पर यह बात प्रत्येक के साथ एक विशिष्ट संबंध रखने से नहीं रोकती। फिर यह संबंध अधिक या कम तादात्म्य या एकत्व पर नहीं निर्भर करता। शुद्धतर आत्मा अधिक आसानी से भगवान् के पास पहुंचता है। अधिक विकसित स्वभाव के पास अधिक रास्ते होते ही हैं जिनके द्वारा वह उनसे मिलता है। तादात्म्य एक प्रकार का आध्यात्मिक एकत्व उत्पन्न करता है। परंतु और दूसरे व्यक्तिगत संबंध भी हैं जो दूसरे कारणों से उत्पन्न होते हैं। सभी संबंधों के एक कारण से ही निश्चित होने की बात अत्यंत जटिल है।

हां, जिन योगियों की उन्नति माताजी के व्यक्तिगत हस्तक्षेप के ऊपर नहीं निर्भर करती उन्हें उनके साथ कोई व्यक्तिगत संबंध स्थापित करने की आवश्यकता नहीं—उनके लिये केवल एक दूर का आध्यात्मिक संस्पर्श ही पर्याप्त है। कोई-कोई विशेष संबंध भी बनाये रख सकते हैं, पर अपनी साधना के किसी विशिष्ट रूप के कारण ही वे ऐसा करते हैं। दूसरी ओर, कोई साधक साधना में कोई प्रगति न करने पर भी श्रीमाताजी के साथ व्यक्तिगत संबंध बनाये रख सकता है। इस विषय में सभी प्रकार की संभावनाएं विद्यमान हैं।

जो लोग यहां आये हुए हैं उनमें जिनका चैत्य पुरुष इतने पर्याप्त रूप में विकसित हो चुका है कि वे इस संबंध को स्वीकार कर सकें, उन सभी लोगों के साथ माताजी का ऐसा संबंध है। दूसरे लोगों के लिये इस बात की संभावना ही अधिक है, यह जीवन में सिद्ध नहीं हुई है।

मोटे तौर पर कहें तो अभिव्यक्त सत्ता के तीन अंग हैं जो यहां पर कार्य करते हैं—(१) क्रमविकास में आया हुआ चैत्य पुरुष जो अपने साथ पूर्वजीवनों का प्राचीन अनुभव और पुराने व्यक्ति-स्वरूपों का कुछ अंश ले आता है, उतना ही अंश ले आता है जो वर्तमान जीवन के लिये उपयोगी बनाया जा सके; (२) वर्तमान रूप जो इस जन्म के कारण मिला है और जो बहुत-सी जटिल चीजों के मिलने से बना है; (३) भावी सत्ता, जिसका, हमारे अपने लिये, अर्थ होता है वर्तमान अभिव्यक्ति के ऊपर की उच्चतर चेतना की महान्

धाराएं जिनके साथ युक्त होने पर रूपांतर अधिक संभव होता है और जिस कार्य का प्रयास किया जा रहा है वह पूरा हो सकता है।

चैत्य पुरुष ही वह चीज है जो पूर्वजीवनों या व्यक्ति स्वरूपों के द्वारा उस चीज के द्वारा, जो उनके अंदर आवश्यक और अभीतक क्रियाशील है और जिसे उसने रखा है, संस्पर्श स्थापित करती है।

परंतु, इसके अलावा, कुछ ऐसे चैत्य पुरुष यहां आये हैं जो ऊर्ध्व चेतना की महत्तर धाराओं के साथ युक्त होने के लिये तैयार हैं, बहुधा उच्चतर लोकों की सत्ताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं और इसलिये जो महान् कार्य यहां किया जानेवाला है उसमें माताजी के साथ घनिष्ठ रूप में योग देने के लिये विशेष रूप से उपयुक्त हैं। इन सभी लोगों का माताजी के साथ विशेष संबंध है जो उनके पुराने संबंध के अतिरिक्त है।

वर्तमान रूप का जहांतक संबंध है, उसमें स्पष्ट ही ऐसे तत्त्व हो सकते हैं जो, माताजी के साथ सहयोग न देने या उनसे न मिलने के कारण, अपने को उनसे अपरिचित अनुभव करें। ऐसा ही तत्त्व यह अनुभव कर सकता है कि वह रास्ते में खड़ा है; परंतु यह एक बाहरी रचना है और कम-से-कम अपने वर्तमान स्वरूप में यह न तो पुराने विकास से संबंध रखता है और न भावी विकास से। इसे या तो नष्ट हो जाना होगा या रूपांतरित।

१०-६-१९३५

इस प्रसंग में बहुत ही अधिक मानसिक सूक्ष्मताओं में उतर पड़ना कोई अधिक सहायक नहीं; यह एक ऐसा विषय है जो मानसिक विश्लेषण से परे है और इसके बारे में मन की रचनाएं, अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तिवश, या तो बहुत ही कम अंश में सच्ची होती हैं या फिर भ्रांतिपूर्ण।

एक विश्वव्यापी भगवत्प्रेम है जो सबके लिये एक-सा है। एक चैत्य संबंध भी है जो व्यक्तिगत है; वह सार रूप में तो सबके लिये एक समान है, पर उसमें प्रत्येक के साथ एक विशेष संबंध के लिये भी स्थान है जो सबके लिये एक-सा नहीं बल्कि प्रत्येक व्यक्ति के दृष्टांत में भिन्न-भिन्न होता है। यह विशेष संबंध प्रत्येक दृष्टांत में पृथक्-पृथक् रहता है और इसका एक अपना ही स्वभाव होता है। जैसा कि कहा जाता है, यह अपने ही ढंग का होता है और अन्य संबंधों के साथ इसकी तुलना या बराबरी नहीं की जा सकती, न उनके पैमाने से इसे मापा ही जा सकता है, क्योंकि इनमें से हर एक अपने ही ढंग का होता है। अतएव कम या अधिक का प्रश्न यहां सर्वथा असंगत है।

यह कहना बिलकुल गलत है कि माताजी सबसे अधिक उनसे प्रेम करती हैं जो शरीर से उनके सर्वाधिक निकट हैं। यह बात मैं कितनी ही बार कह चुका हूं पर लोग इसपर विश्वास नहीं करना चाहते, क्योंकि वे मान लेते हैं कि माताजी साधारण मनुष्यों की तरह प्राणिक भाव-भावनाओं की गुलाम हैं और प्राण की रुचि-अरुचियों से शासित होती हैं। "जिन्हें वे पसंद करती हैं उन्हें अपने समीप रखती हैं; जिन्हें कम पसंद करती हैं उन्हें कम समीप रखती हैं, जिन्हें वे पसंद नहीं करतीं या जिनकी परवाह नहीं करतीं उन्हें दूर रखती हैं", यह है उनका बचकाना तर्क। जो लोग अपने साथ सदा ही माताजी की उपस्थिति और प्रेम अनुभव करते हैं उनमें से बहुतेरे छः महीनों में एक बार या फिर वर्ष में एक बार को छोड़कर कदाचित् ही उनके दर्शन करते हैं,—हां, प्रणाम और ध्यान के समय के दर्शन इससे अलग हैं। दूसरी ओर यह हो सकता है कि शरीर से उनके समीप रहनेवाला या उन्हें बारंबार देखनेवाला ऐसी चीज बिलकुल ही न अनुभव करे; वह शिकायत कर सकता है कि माताजी की सहायता एवं प्रेम उसे बिलकुल ही प्राप्त नहीं या जितना वे इन्हें दूसरों को देती हैं उसकी तुलना में नहीं के बराबर प्राप्त हैं। यदि ऊपर दिया गया बचकाने ढंग का सरल त्रैराशिक नियम सच्चा होता तो ऐसे भावोद्गार संभव ही न होते।

कोई माताजी के प्रेम को अनुभव करता है या नहीं यह इसपर निर्भर करता है कि वह उसकी ओर खुला है या नहीं। यह चीज शारीरिक समीपता पर निर्भर नहीं करती। खुलने का अर्थ है उन सब चीजों को दूर करना जो मनुष्य को आंतरिक संबंध के प्रति अचेतन बना देती हैं—यह विचार कि इस संबंध को अपनी सत्ता के भीतर अनुभव करने के स्थान पर केवल किसी बाह्य अभिव्यक्ति के द्वारा ही मापना होगा, मनुष्य को आंतरिक संबंध के प्रति जितना अधिक अचेतन बनाता है उतना और कोई चीज नहीं बना सकती; यह व्यक्ति को उन बाह्य अभिव्यक्तियों के प्रति अंधा या असंवेदनशील बना देता है जो वहां विद्यमान होती हैं। कोई शरीर से दूर है या पास इससे कुछ अंतर नहीं पड़ता। शरीर से दूर होता हुआ या माताजी के दर्शन नहीं के बराबर करता हुआ भी मनुष्य आंतरिक संबंध अनुभव कर सकता है। दूसरी ओर, चाहे मनुष्य शरीर से माताजी के पास हो या प्रायः ही उनके भौतिक सान्निध्य (उपस्थिति) में रहे तो भी यह संभव है कि जब आंतरिक संबंध विद्यमान हो तब वह उसे अनुभव न कर पाये।

११-६-१९३५

*

यदि साधक माताजी के प्रति कृतघ्न बन जाये तो इसका मतलब है कि वह साधना या माताजी को नहीं चाहता था, बल्कि अपनी कामनाओं और अपने अहंकार की तुष्टि चाहता था। यह योग नहीं है।

माताजी किसी के साथ "घंटों" मुलाकात नहीं करतीं—यदि कोई घंटों उनके पास रहे तो वे बहुत थक जायेंगी।

माताजी 'अ' के साथ औरों की अपेक्षा अधिक मुलाकात इसलिये नहीं करती थीं कि वह औरों की अपेक्षा उसे अधिक प्यार करती थीं; बल्कि इसलिये कि वे उसके द्वारा कार्य के लिये कुछ ऐसी चीज करा लेने की कोशिश करती थीं जो हो जाने पर सबके लिये एक महान् विजय होती। परंतु ठीक इसी कारण कि उसने इसे गलत रूप में लिया और इसे एक व्यक्तिगत भौतिक संबंध और अपनी अहंकारपूर्ण कामना की तृप्ति के रूप में पकड़ने के लिये व्यग्र हो उठा, वह असफल हुआ और उसे चले जाना पड़ा। तुम्हारा "अंग" भी वही इन्द्रियाश्रित अहंकार की मूर्खतापूर्ण और अज्ञानमय मांग पेश करता है और यदि माताजी इतनी मूर्ख हों कि उसे संतुष्ट करें तो इसका परिणाम 'अ' के जैसा ही होगा।

माताजी ने इसलिये शरीर ग्रहण किया कि स्थूल ढंग का एक कार्य करना है (उसमें स्थूल जगत् का परिवर्तन भी शामिल है); वे लोगों के साथ "स्थूल संबंध" स्थापित करने के लिये नहीं आयी हैं। कुछ लोग कार्य में हिस्सा बंटाने के लिये उनके साथ आये हैं; कुछ लोगों को उन्होंने बुलाया है, दूसरे लोग ज्योति की खोज करने आये हैं। प्रत्येक के साथ उनका एक व्यक्तिगत संबंध है अथवा व्यक्तिगत संबंध होने की संभावना है, परंतु प्रत्येक संबंध अपने-अपने ढंग का अलग है और कोई भी यह नहीं कह सकता कि उन्हें प्रत्येक व्यक्ति के साथ समान रूप से एक ही बात करनी चाहिये—कोई भी आदमी अपने अधिकार के रूप में यह दावा नहीं कर सकता कि उन्हें शरीर से उसके निकट रहना होगा क्योंकि वे शरीर से दूसरों के निकट हैं। कुछ लोगों ने उनके साथ व्यक्तिगत संबंध बना रखा है, फिर भी वे उनसे बहुत कम मुलाकात करती हैं—कुछ लोगों का व्यक्तिगत संबंध कम घनिष्ठ है और फिर भी किसी-न-किसी कारणवश वे उनके साथ अधिक बार और अधिक देर तक मुलाकात कर सकती हैं। इस प्रसंग में स्थूल मन के मूर्खतापूर्ण गणित-जैसे नियमों का व्यवहार करना निरर्थक है। तुम्हारा स्थूल मन यह नहीं समझ सकता कि माताजी क्या करती हैं; उसके मूल्य, मानदण्ड और भावनाएं माताजी की नहीं हैं। और उन्हें क्या करना चाहिये इसकी माप-जोख अपने व्यक्तिगत प्राण की

मांग या कामना के द्वारा करना तो और भी अधिक बुरा है। वही रास्ता आध्यात्मिक सर्वनाश का है। माताजी प्रत्येक प्रसंग में उस प्रसंग के अनुकूल विभिन्न कारणों के अनुसार कार्य करती हैं।

माताजी के सच्चे बच्चे

वे ही माताजी के सबसे नजदीकी बच्चे हैं जो उनकी ओर खुले हुए हैं, उनकी आंतर सत्ता में उनके निकट हैं, उनकी इच्छा के साथ 'एक' हो गये हैं—वे लोग नहीं जो शरीर से उनके सबसे अधिक निकट हैं।

*

यदि किसी को निकट आंतरिक संबंध प्राप्त हो तो वह माताजी को सदैव अपने पास और अंदर तथा चारों ओर अनुभव करता है और उससे अधिक निकट भौतिक संबंध को उस संबंध की खातिर ही प्राप्त करने के लिये कतई आग्रह नहीं करता। जिन्हें यह प्राप्त नहीं उन्हें इसके लिये अभीप्सा करनी चाहिये और दूसरे प्रकार के संबंध के लिये लालायित नहीं होना चाहिये। यदि उन्हें बाह्य समीपता प्राप्त हो जाये तो उन्हें पता चलेगा कि आंतरिक एकता और समीपता के बिना उसका कुछ अर्थ नहीं। शरीर से व्यक्ति माताजी के पास हो सकता है और फिर भी उनसे उतना दूर हो सकता है जितना सहारा का मरुस्थल।

११-६-१९३४

माताजी के साथ आंतरिक एकत्व और बाहरी संबंध

आध्यात्मिक एकत्व भीतर से आरंभ होना चाहिये और फिर वहां से बाहर की ओर फैलना चाहिये; वह किसी भी बाहरी चीज पर अवलम्बित नहीं हो सकता —क्योंकि, अगर इस तरह अवलम्बित हो तो, वह एकत्व आध्यात्मिक या सच्चा नहीं हो सकता। यही सबसे बड़ी भूल है जो यहां बहुत से आदमी करते हैं; वे माताजी के साथ बाहरी प्राणगत या भौतिक संबंध पर ही सारा जोर डाल देते हैं; प्राणगत आदान-प्रदान या भौतिक संपर्क के लिये आग्रह करते हैं और जब वे उसे संतोषप्रद मात्रा में नहीं पाते तब वे सब प्रकार के गोलमाल, विद्रोह, शंका-संदेह और अवसाद में जा गिरते हैं। यह एकदम गलत दृष्टि है

और इसने बहुत अधिक बाधा और उपद्रव ही खड़ा किया है। मन, प्राण और शरीर एकत्व में भाग ले सकते हैं और भाग लेना ही उनके लिये अभिप्रेत है, पर उसके लिये उन्हें चैत्य पुरुष की अधीनता स्वीकार करनी होगी, स्वयं चैत्य-भावापन्न हो जाना होगा; एकत्व को मूलतः चैत्य और आध्यात्मिक एकत्व होना होगा और मन, प्राण और शरीर तक में फैल जाना होगा। शरीर तक को इस योग्य हो जाना होगा कि वह सूक्ष्म रूप से माताजी का सान्निध्य, उनकी ठोस उपस्थिति अनुभव कर सके—केवल तभी एकत्व वास्तव में स्थापित हो सकता और पूर्ण बन सकता है एवं केवल तभी कोई भौतिक सामीप्य या संस्पर्श अपना सच्चा मूल्य प्राप्त कर सकता और अपने आध्यात्मिक उद्देश्य को सिद्ध कर सकता है। जबतक ऐसा नहीं होता तबतक कोई भी भौतिक संस्पर्श बस उतना ही मूल्य रखता है जितना कि वह आंतरिक साधना में सहायता पहुंचाता है; परंतु कितना-सा दिया जा सकता है और कौन-सी चीज सहायक या बाधक होगी—इसका विचार एकमात्र माताजी ही कर सकती हैं, साधक इस विषय में निर्णायक नहीं बन सकता—वह तो अपनी कामनाओं और निम्नतर प्राणमय अहंकार के द्वारा पथभ्रष्ट हो जायेगा जैसा कि वास्तव में बहुत से लोग हो चुके हैं। जब प्राणगत मांग मौजूद होती है, प्राण दावा करता है, विद्रोह करता है और बाहरी सम्पर्क या सामीप्य की कामना को इन सब चीजों का कारण या एक अवसर बना देता है तो ये सब चीजें आंतरिक एकत्व के विकसित होने में बड़ी रुकावट डालती हैं, उसमें बिलकुल ही सहायक नहीं होतीं। अपने अज्ञानवश साधक बराबर ही यह कल्पना करते हैं कि जब श्रीमाताजी एक व्यक्ति के साथ दूसरे की अपेक्षा अधिक मुलाकात करती हैं, तब इसका कारण यह है कि वे उसे अधिक पसंद करती हैं और उस व्यक्ति को अधिक प्रेम तथा सहायता दे रही हैं। यह एकदम भूल है। शारीरिक सामीप्य और संस्पर्श वास्तव में साधक के लिये एक कठोर अग्निपरीक्षा हो सकता है; वह प्राणगत मांग, दावे, ईर्ष्या आदि को बहुत ऊंचे शिखर तक ऊपर उठा सकता है; फिर दूसरी ओर, हो सकता है कि उसके कारण साधक बाहरी संबंध से ही संतुष्ट हो जाये और आंतरिक एकत्व के लिये कोई सच्चा प्रयास न करे; अथवा वह, साधारण और परिचित होने के कारण, एक यांत्रिक चीज बन जाये और किसी भी आंतरिक उद्देश्य के लिये एकदम बेकार हो जाये—ये सब चीजें केवल संभव ही नहीं हैं बल्कि बहुत लोगों में घटित भी हुई हैं। श्रीमाताजी यह जानती हैं और इसलिये इस विषय में उनकी व्यवस्था का कारण लोग जो कुछ समझते हैं उससे एकदम भिन्न होता है।

एकमात्र सुरक्षित बात है सबसे पहले और पूर्ण रूप से आंतर एकत्व पर ध्यान जमाना, उसी को प्राप्त करने योग्य एकमात्र चीज बना लेना और बाहरी किसी भी चीज के लिये सभी तरह की मांगों और दावों को अलग छोड़ देना, जो कुछ मां दें बस उसी से संतुष्ट रहना और एकदम उन्हींके ज्ञान और देख-रेख पर निर्भर करना। यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जानी चाहिये कि जो कामना विद्रोह, शंका-संदेह, अवसाद, भीषण संघर्ष आदि उत्पन्न करती है वह कभी आध्यात्मिक क्रिया का सच्चा अंग नहीं हो सकती। अगर तुम्हारा मन कहे कि यह उचित है, तब निश्चय ही तुम्हें मन के सुझावों पर अविश्वास करना चाहिये। बस उसी एक आवश्यक चीज पर पूर्ण रूप से ध्यान एकाग्र करो, और, उन सभी संभावनाओं और शक्तियों को, अगर वे आवें तो, अलग रख दो जो उस चीज में गड़बड़ी उत्पन्न करना चाहें अथवा तुम्हें विपथगामी बनावें। इन सब चीजों के लिये जो प्राण की स्वीकृति होती है उसे जीतना होगा, पर उसके लिये सबसे पहली बात है सब प्रकार की मानसिक स्वीकृति देना अस्वीकार कर देना; क्योंकि मानसिक अनुमोदन उन्हें इतनी अधिक शक्ति प्रदान करता है जितनी उन्हें अन्य किसी प्रकार नहीं प्राप्त होती। मन और गंभीरतर भावमय सत्ता में समुचित भाव जमाओ—जब विपरीत शक्तियां उठ खड़ी हों तब उसी से चिपके रहो और उसी दृढ़ चैत्य भाव के द्वारा उन्हें दूर भगा दो।

१४-३-१९३७

बाहरी और भीतरी मां

यह ठीक है कि माताजी अनेक रूपोंवाली हैं, परंतु बाहरी और भीतरी मां के बीच, बहुत कठोर विभेद नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे केवल 'एक' ही नहीं हैं, वरन् शरीररूपी मां अपने अंदर अन्य सभी रूपों को धारण करती हैं और उन्हीं के अंदर आंतर और बाह्य सत्ता के बीच संबंध स्थापित होता है। परंतु बाहरी माताजी को सचमुच में जानने के लिये हमें यह जानना होगा कि उनके भीतर क्या है और केवल बाहरी आकार की ही ओर नहीं देखना होगा। ऐसा करना केवल तभी संभव होता है जब मनुष्य अपनी आंतर सत्ता के द्वारा उनके साथ मिलता है और उनकी चेतना में वर्द्धित होता है—जो लोग केवल बाहरी संबंध ही स्थापित करना चाहते हैं वे ऐसा नहीं कर सकते।

१०-८-१९३६

*

मैं नहीं जानता कि कैसे तुम अभिव्यक्त रूप के 'अंदर निवास करने' जा रहे हो। यह तो संभव है कि व्यक्ति, यहांतक कि उसकी भौतिक सत्ता भी, माताजी की चेतना में निवास करे और माताजी का अभिव्यक्त रूप इस एकता का केंद्र हो। शायद तुम्हारा यही मतलब है? पर यह तुम कैसे करोगे यदि अन्य भागों को वैसे ही रहने के लिये स्वतंत्र छोड़ दिया जाये जैसे वे हैं? वे तुम्हें निरंतर सच्ची चेतना से बाहर खींचते रहेंगे जैसा वे अब करते हैं। और उनका परिवर्तन भला कैसे होगा यदि उन्हें बदलने के लिये उनके अंदर माताजी की शक्ति न हो?

१४-१-१९३६

माताजी के साथ सच्चा आंतरिक संबंध

आंतरिक (अंतरात्मा के) संबंध का तात्पर्य यह है कि मनुष्य माताजी की उपस्थिति का अनुभव करे, सर्वदा उनकी ओर मुड़ा रहे, यह जाने कि उनकी शक्ति ही उसे चला रही है, पथ दिखा रही है और सहायता कर रही है, उनके प्रति प्रेम से भरपूर रहे और चाहे वह शरीर से उनके पास हो या न हो, बराबर ही उनका महान् सामीप्य अनुभव करे। यह संबंध मन, प्राण और आंतर शरीर को तबतक ऊपर उठाता जाता है जबतक कि मनुष्य अपने मन को माताजी के मन के समीप, अपने प्राण को उनके प्राण के साथ सुसमंजस और अपनी शारीरिक चेतना तक को उनसे भरा-पूरा अनुभव नहीं करता। ये सभी आंतरिक एकत्व से, केवल आत्मा और आंतर स्वरूप के अंदर के नहीं प्रत्युत प्रकृति के अंदर के एकत्व से संबंध रखनेवाली बातें हैं।

मुझे याद नहीं आता कि मैंने क्या लिखा था, परंतु यह एक घनिष्ठ आंतर संबंध है और बाहरी संबंध से एकदम भिन्न है। बाहरी संबंध तो केवल इस बात पर निर्भर करता है कि मनुष्य किस प्रकार उसके साथ बाहरी भौतिक स्तर में मिलता है। यह बिलकुल संभव और सच्ची बात है कि यदि कोई उनको शरीर से केवल प्रणाम और ध्यान के समय तथा वर्ष में केवल एक बार, संभवतः जन्मदिन के अवसर पर ही देखे तो भी यह घनिष्ठ आंतर संबंध पाया जा सकता है।

*

संपर्क तो बराबर ही रहता है, आत्मा में और चैत्य पुरुष में; परंतु मन, प्राण और शरीर में यदि बाधाएं हों तो फिर वह संपर्क प्रकट नहीं हो सकता,

अथवा, यदि प्रकट हो भी तो, उसमें ऐसी चीजें मिली होती हैं जो उसे अपूर्ण और अनुपयुक्त बना देती हैं। सच्चा संपर्क तो चैत्य और आध्यात्मिक ही है; अन्य अंगों का संबंध इसी चैत्य और आध्यात्मिक संबंध के आधार पर बनाये रखना चाहिये और तभी यह स्थायी हो सकता है।

*

भगवान् के साथ का संबंध, माताजी के साथ का संबंध होना चाहिये प्रेम, श्रद्धा-भक्ति, विश्वास, निर्भरता और आत्मसमर्पण का संबंध; साधारण प्रकार का कोई भी दूसरा प्राणगत संबंध ऐसी प्रतिक्रियाएं उत्पन्न करता है जो साधना के विरुद्ध होती हैं—जैसे, कामना-वासना, अहंकारपूर्ण अभिमान, मांग, विद्रोह और अज्ञानमयी राजसिक प्रकृति का सारा विक्षोभ जिससे दूर हटना ही साधना का लक्ष्य है।

२६-४-१९३३

सतत चैत्य सामीप्य

मैं अपने-आपको माताजी के बहुत नजदीक अनुभव करता हूं मानों हमारे बीच कोई पार्थक्य ही न हो। लेकिन यह कैसे संभव हो सकता है जब कि उनके और मेरे बीच इतनी बड़ी खाई है—वे तो हैं अतिमानसिक स्तर पर और मैं हूं मानसिक स्तर पर?

परंतु माताजी केवल अतिमानसिक स्तर पर ही नहीं हैं बल्कि सभी स्तरों पर हैं। और विशेषकर चैत्य भाग (आंतर हृदय) में वह प्रत्येक व्यक्ति के समीप हैं, इसलिये जब चैत्य भाग खुलता है तब स्वभावतः ही सामीप्य का अनुभव होता है।

११-१२-१९३३

*

जो चीज आवश्यक है वह है तुम्हारे चैत्य पुरुष का आगे आना और मेरे तथा माताजी के प्रत्यक्ष, यथार्थ तथा सतत आंतर संस्पर्श के प्रति तुम्हें खोल देना। अबतक तुम्हारे अंतरात्मा ने मन के द्वारा और उसके आदर्शों तथा पसंदगियों के द्वारा अथवा प्राण और उसके उच्चतर सुखों और अभीप्साओं के द्वारा

अपने-आपको अभिव्यक्त किया है; परंतु भौतिक कठिनाइयों को जीतने तथा जड़तत्त्व को आलोकित करने और रूपांतरित करने के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है। वास्तव में स्वयं तुम्हारे अंतरात्मा को, तुम्हारे चैत्य पुरुष को सामने आना होगा, संपूर्ण रूप से जागृत होना होगा और मूलगत परिवर्तन ले आना होगा। चैत्य पुरुष को बौद्धिक आदर्शों के समर्थन की या बाहरी चिह्नों और सहायताओं की कोई आवश्यकता न होगी। केवल यही वह चीज है जो तुम्हें भगवान् की सीधी अनुभूति दे सकती है, सतत सान्निध्य, आंतर अवलम्ब और साहाय्य दे सकती है। उस समय तुम माताजी को दूर नहीं अनुभव करोगे और न सिद्धि के विषय में फिर कोई संदेह ही करोगे; क्योंकि मन ही विचार करता है और प्राण लालायित होता है, पर अंतरात्मा भगवान् को अनुभव करता और जानता है।

यहांपर जो कुछ तुमने लिखा है वह चैत्य पुरुष और माताजी के साथ उसके संबंध का ठीक-ठीक वर्णन है। यही सच्चा संबंध है। अगर इस योग में तुम सफल होना चाहते हो तो तुम्हें चैत्य संबंध को अवश्य ही अपनाना चाहिये और अहंकारपूर्ण प्राणिक क्रिया का त्याग करना चाहिये। चैत्य पुरुष का सामने आना और वहां बने रहना ही योग की निर्णायक क्रिया है। जब तुम पिछली बार माताजी से मिले तब यही हुआ था, तुम्हारा चैत्य पुरुष सामने आ गया था। परंतु तुम्हें उसे सामने ही बनाये रखना होगा। किंतु तुम यदि प्राणगत अहंकार की बात और उसकी चिल्लाहटों को सुनोगे तो तुम यह करने में समर्थ नहीं होगे। श्रद्धा-विश्वास, आत्मसमर्पण और शुद्ध आत्मदान का आनंद —चैत्य-पुरुषोचित भाव—ही वह चीज है जिसकी सहायता से मनुष्य सत्य में वर्द्धित और भगवान् के साथ युक्त होता है।

२६-२-१९३३

*

जब मैं ठीक-ठीक एकाग्र नहीं हो सका तब मैंने ऊपर से पवित्रता का आवाहन किया। तुरत सारी सत्ता शांति और पवित्रता से भर गयी और बिना किसी कठिनाई के मैंने हृदय में माताजी की उपस्थिति का अनुभव किया। हृदय से, नीचे से, सच पूछा जाये तो सत्ता के प्रत्येक अंग से तीव्र अभीप्सा उठने लगी। हृदय माताजी के प्रति पूजा के भाव से भर गया था; भक्ति, सच्चे समर्पण तथा माताजी के साथ एकत्व की प्राप्ति से मिलनेवाली महान् निश्चिंतता का भाव वर्तमान था। पवित्रता के लिये

भी तीव्र अभीप्सा उठ रही थी। क्या यह चैत्य उद्‌घाटन था?

हां, निःसंदेह यह चैत्य उद्‌घाटन था और जिस बात पर अधिक जोर था वह था उच्चतर पवित्रता के लिये उद्‌घाटन और वह बहुत आवश्यक है। वह चैत्य उद्‌घाटन तथा माताजी के साथ आंतर संपर्क प्राप्त करने के लिये एक अत्यंत आवश्यक चीज है।

१४-७-१९३७

*

जो पुकारता है वह है तुम्हारा अपना ही चैत्य पुरुष जिसका स्थान है हृत्केंद्र के पीछे गभीर तल में। बहुत से आदमी समय-समय पर वहां से माताजी के लिये उठती हुई पुकार अनुभव करते हैं। यह पुकार नींद में अथवा अर्द्ध-जाग्रत् अवस्था में अधिक आसानी से उठती है, क्योंकि उस समय ऊपरी मन सक्रिय नहीं होता और इसी कारण भीतर आंतर सत्ता में जो कुछ होता है वह प्रकट हो सकता है।

२९-१०-१९३४

साधना का सच्चा आधार

हां, यही सच्चा आधार है। पूर्ण समता के अंदर माताजी के साथ संपूर्ण रूप से युक्त हो जाना जिसमें उच्चतर चेतना जीवन में उतर सके और प्रकृति के अत्यंत बाहरी भागों में भी लायी जा सके।

२२-५-१९३४

*

जितना ही अधिक माताजी के साथ एकत्व बढ़ता जाये साधना के लिये वह उतना ही अच्छा है।

२-१०-१९३३

*

हां, यह बहुत उत्साहित करनेवाली प्रगति है। अगर तुम विशालता और स्थिरता को पहले की तरह बनाये रखो और साथ ही हृदय में माताजी के लिये प्रेम भी

बनाये रखो तो सब सुरक्षित रहेगा—क्योंकि इसका अर्थ होगा योग का द्विविध आधार—अपनी शांति, स्वतंत्रता और आत्मप्रसाद के साथ ऊपर से उच्चतर चेतना का अवतरण तथा चैत्य पुरुष का उद्घाटन जो समस्त प्रयास या समस्त स्वाभाविक क्रिया को सच्चे लक्ष्य की ओर मोड़े रखता है।

१०-१०-१९३४

माताजी का प्रेम

तुम माताजी के बच्चे हो और अपने बच्चों के लिये माताजी का प्रेम असीम है तथा वे उनके स्वभाव के दोषों को धैर्य के साथ सहन करती हैं। माताजी का सच्चा बच्चा होने की चेष्टा करो; वे तुम्हारे भीतर ही हैं, पर तुम्हारा बाहरी मन छोटी-छोटी निरर्थक बातों में लगा रहता है और बहुधा उनके विषय में बहुत अधिक हो-हल्ला मचाया करता है। तुम्हें केवल स्वप्न में ही माताजी को नहीं देखना चाहिये बल्कि सब समय उन्हें अपने साथ और अपने भीतर देखना और अनुभव करना सीखना चाहिये। तब तुम अपने को संयत करना और परिवर्तित करना अधिक आसान पाओगे—क्योंकि वहां मौजूद होने के कारण माताजी ही तुम्हारे लिये यह कर देने में समर्थ होंगी।

*

श्रीमाताजी के विषय में ये भाव और साथ ही यह कि केवल काम करने के बदले में ही लोगों को उनका प्रेम प्राप्त होता है अथवा उन्हीं लोगों को प्राप्त होता है जो साधना अच्छी तरह कर सकते हैं, यह प्राणगत-भौतिक मन का अर्थहीन साधारण विचार है और इसका कोई मूल्य नहीं।

१७-१-१९३७

*

यदि ध्यान से तुम्हें सिरदर्द हो जाता है तो तुम्हें ध्यान नहीं करना चाहिये। यह सोचना भूल है कि ध्यान साधना के लिये अनिवार्य है। ऐसे कितने ही लोग हैं जो ध्यान नहीं करते, किंतु वे माताजी के समीप हैं और उतनी ही अच्छी तरह प्रगति करते हैं जितनी लम्बे ध्यान करनेवाले साधक।

एकमात्र आवश्यक वस्तु है माताजी की ओर मुड़े होना और बस केवल इसी का प्रयोजन है। डरो मत और न उदास ही होओ, पर माताजी को तुम्हारे

अंदर और तुम्हारे द्वारा अपना कार्य शांति से करने दो और तब सब कुछ ठीक हो जायेगा।

१६-३-१९३५

*

निश्चय ही तुम्हारे लिये यह आवश्यक नहीं है कि तुम इसलिये 'अच्छा' बनो कि माताजी तुम्हें अपना प्रेम दे सकें। उनका प्रेम बराबर ही है और उस प्रेम के सामने मानव-प्रकृति की अपूर्णताओं का कोई मूल्य नहीं। एकमात्र आवश्यक बात यह है कि तुम वहां पर बराबर उसके विषय में सचेतन बने रहो। उसके लिये यह जरूरी है कि चैत्य पुरुष सामने आ जाये—क्योंकि चैत्य पुरुष ही जानता है, जब कि मन, प्राण और शरीर केवल ऊपरी रूपों को देखते और उनकी गलत व्याख्या करते हैं।

२४-६-१९३६

*

'क्ष' संभवतः दो भूलें कर रहा है—पहली, वह यह आशा करता है कि माताजी अपने प्रेम को बाह्य रूपों में प्रकट करेंगी; दूसरी, फल की कोई मांग न कर अपने-आपको खोले रखने और समर्पित कर देने की ओर मन लगाने के बदले वह उन्नति की प्रतीक्षा कर रहा है। ये ही दो भूलें हैं जिन्हें साधक बराबर करते रहते हैं। अगर कोई अपने-आपको खोले, अगर कोई आत्मसमर्पण करे तो फिर जैसे ही प्रकृति तैयार होगी वैसे ही उन्नति भी अपने-आप होगी; परंतु उन्नति के लिये व्यक्तिगत रूप से मन को एकाग्र करने से कठिनाइयां, बाधा-विरोध और निराशा ही उत्पन्न होती है, क्योंकि उस समय मन समुचित दृष्टि से चीजों को नहीं देखता। 'क्ष' के ऊपर माताजी की विशेष कृपा है और प्रत्येक दिन प्रणाम के समय वे उसे एक ऐसी शक्ति देने की चेष्टा करती हैं जो उसे सहारा दे। उसे अपने मन और प्राण में खूब शांत-स्थिर बने रहना सीखना चाहिये और अपने-आपको उत्सर्ग कर देना चाहिये जिससे वह सचेतन हो सके तथा साथ ही ग्रहण कर सके। मानव-प्रेम से भिन्न, भागवत प्रेम गभीर, विशाल और नीरव होता है; उसे पहचानने और उसका प्रत्युत्तर देने के लिये साधक को भी अचंचल और उदार-विशाल होना चाहिये। उसे बस समर्पित हो जाना ही अपना पूर्ण उद्देश्य बना लेना चाहिये जिसमें कि वह एक पात्र और यंत्र बन जाये और अपने-आपको आवश्यक चीजों से भरने के लिये भागवत ज्ञान और

प्रेम के ऊपर छोड़ दे। उसके मन में इस बात को भी जमकर बैठ जाने दो कि उसे इस बात का आग्रह नहीं करना चाहिये कि एक निश्चित समय के भीतर उसे उन्नति करनी ही होगी, विकास करना ही होगा, अनुभूतियां पानी ही होंगी —जितना भी समय इसमें लगे, उसे प्रतीक्षा करने के लिये तैयार रहना चाहिये और प्रयास में लगे रहना चाहिये तथा अपने समस्त जीवन को ही केवल एक चीज अर्थात् भगवान् को ही पाने की अभीप्सा और उद्‌घाटन में परिवर्तित कर देना चाहिये। अपने-आपको दे देना ही साधना का रहस्य है, कोई चीज मांगना और प्राप्त करना नहीं। जितना ही अधिक कोई अपने-आपको देता है उतना ही अधिक उसमें ग्रहण करने की शक्ति बढ़ती है। परंतु इसके लिये सब प्रकार की अधीरता और विद्रोह अवश्य दूर हो जाना चाहिये। ऐसे सभी सुझावों का त्याग करना चाहिये कि हम कुछ पा नहीं रहे हैं, हमें सहायता नहीं मिल रही है, प्रेम नहीं मिल रहा है हमें चले जाना चाहिये, जीवन या आध्यात्मिक प्रयास को ही छोड़ देना चाहिये।

१-९-१९३६

*

स्पष्ट ही है कि लोग यदि माताजी से साधारण ढंग का प्रेम पाने की आशा करें तो वे अवश्य निराश होंगे—वह प्रेम जो प्राण और उसके ख्यालों पर आधारित होता है। यह तो ठीक वही प्रेम है जिसे योग में अतिक्रम करना अथवा अन्य किसी चीज में रूपांतरित करना होता है।

१४-३-१९३६

*

यह सब बिलकुल ठीक है। (माताजी के) मानवीय या चैत्य प्रेम को भी बहुत से लोग अनुभव करने या समझने में असमर्थ होते हैं; क्योंकि वह ठीक साधारण मानवीय ढंग का नहीं होता।

५-५-१९३५

*

परंतु तुम उनसे 'मानव' माता के रूप में क्यों मिलना चाहते हो? अगर तुम भगवती माता को मानव-शरीर में देख सको तो वह पर्याप्त होगा और वह कहीं अधिक लाभदायी मनोभाव होगा। जो लोग मानव माता के रूप में उनके

पास आते हैं वे प्रायः अपनी कल्पना के कारण संकट में पड़ जाते हैं और उनके निकट आने में सब तरह की भूलें करते हैं।

२-५-१९३४

*

जब साधक को माताजी की उपस्थिति का अनुभव नहीं होता तो वह अपने को अकेला अनुभव करता और कष्ट पाता है। क्या देह में अवतरित श्रीमां अपने बच्चे का अभाव उस प्रकार अनुभव करती हैं जिस प्रकार मानवी माता करती है? अथवा क्या वे मानवी मां से अधिक दुःखी होती हैं क्योंकि वे अपना भाव उतने खुले रूप में नहीं प्रकट कर सकतीं जितना मानवी मां?

यदि ऐसी बात होती तो माताजी को हर समय लाखों गुना गहरे दुःख की अवस्था में रहना पड़ता—क्योंकि वे केवल साधकों के लिये ही दुःखी क्यों हों? ऐसी प्रत्येक आत्मा के लिये जो अज्ञान में भटक रही है दुःखी क्यों न हों? बच्चे को दुःखी होने की जरूरत ही नहीं, उसे तो बस जब श्रीमां पुकारें उनके पास वापिस लौट आना चाहिये।

२४-९-१९३४

*

तुम्हारा यह विचार कि माताजी सबकी अपने बच्चों की तरह देखभाल करती हैं और तुम्हारी परवाह नहीं करतीं, स्पष्ट ही एक सर्वथा निराधार विचार है और किसी ठोस आधार पर स्थित नहीं। तुम्हारे लिये अपने प्रेम में तथा तुम्हारी देखभाल करने में और तुम्हारे प्रति... अपने ढंग में वे उतनी ही वात्सल्यपूर्ण हैं जितनी किन्हीं दूसरों के प्रति और बहुतों की अपेक्षा तो तुम्हारे प्रति अधिक वात्सल्यमय हैं। हमें दीख सकनेवाली ऐसी कोई ठोस या विशेष चीज नहीं जिसपर तुम्हारा विचार टिक सके। निश्चय ही, यह माताजी की भाव-भावनाओं में विद्यमान किसी वास्तविक तथ्य से संबंध नहीं रखता।

पर मैंने देखा है कि इस प्रकार का विचार साधकों और साधिकाओं (विशेषकर साधिकाओं) के मनों में तब 'सदा ही' उठा करता है जब वे निराश हो जाते हैं या अपने बाहर से आनेवाले सुझावों पर ध्यान देते हैं। वे सदा वही बात कहते हैं जो तुमने कही है, "आप सबसे प्रेम करती हैं और सबकी देखभाल करती हैं; केवल मुझसे आप प्रेम नहीं करतीं, न मेरी परवाह ही

करती हैं। स्पष्टतः ही मैं योग के अयोग्य हूं, अन्यथा आप मुझे इस प्रकार अपने से दूर न रखतीं। मुझे कभी कुछ भी प्राप्ति नहीं होने की। केवल आपको कष्ट देने के लिये यहां रहने से क्या लाभ? मैं यहां रहूं ही क्यों?" परंतु जब चैत्य पुरुष अच्छी तरह जाग जायेगा, तब ये विचार, यह निराशा, ये अशुद्ध धारणाएं अवश्य ही दूर हट जायेंगी। अतएव जो कुछ तुम अनुभव कर रहे हो वह है बस यही निराशा और इसके द्वारा लाये गये गलत सुझाव; यह माताजी की भाव-भावनाओं में या तुम्हारे प्रति उनके व्यवहार में विद्यमान किसी वास्तविक तथ्य से संबंध नहीं रखता। जैसे-जैसे तुम्हारा अंतःपुरुष, तुम्हारी अंतरात्मा अधिकाधिक आगे आती जायेगी वैसे-वैसे और चीजों के साथ यह निराशा भी हट जायेगी—क्योंकि तुम्हारी अंतरात्मा यह जानती है कि उसे माताजी से प्रेम है और माताजी तुमसे प्रेम करती हैं; वह मन और प्राणिक प्रकृति को धोखा देनेवाले सुझावों से अंधी नहीं हो सकती।

अतएव इन विचारों में मत पड़े रहो जिनका कोई आधार ही नहीं, बल्कि जो केवल निराशा का भाव या बाहर से आया सुझावमात्र है। अपने अंदर स्थित चैत्य पुरुष को विकसित होने दो और माताजी की शक्ति को कार्य करने दो। शिशु और भगवती मां का संबंध वहां तुम्हारी अंतरात्मा में है ही; वह अपने को तुम्हारे मन, प्राण और भौतिक चेतना में तबतक अनुभव कराता रहेगा जबतक वह संपूर्ण चेतना का एक ऐसा आधार नहीं बन जाता जिसपर सारी साधना दृढ़ और सुरक्षित हो सके।

२६-७-१९३५

*

माताजी का समस्त प्रेम और सहायता तुम्हारे साथ पहले की तरह रहेंगे, उनमें कोई परिवर्तन नहीं आयेगा। सारी कठिनाई आती है प्राण की गतिविधि से जो माताजी के हृदय और आत्मा के साथ, तुम्हारे हृदय और आत्मा के घनिष्ठ संबंध में पूरी तरह से निवास करने के स्थान पर, दूसरे साधकों के साथ तुलना करके, गलत ढंग से माताजी के प्रेम और सहायता को पाना और उसपर अधिकार जमाना चाहती है। 'क्ष' के साथ तुम्हारे संबंध में भी यही बात देखने में आती है। पर यह तो एक ऐसा दोष है जो मानव प्रकृति में सामान्य रूप से पाया जाता है और यहां यह बहुतों में है। यह कोई ऐसी चीज नहीं जिसे अपनी प्रकृति में से दूर न किया जा सके। निःसंदेह, क्योंकि तुम्हारा हृदय और अन्तरात्मा इससे मुक्त होना चाहते हैं, यह हटे बिना रह नहीं सकता।

अतएव जब यह पुराने अभ्यास के कारण लौट आये तो निरुत्साहित मत होओ। तुम्हारा हृदय और अंतरात्मा जो कुछ चाहते हैं वह माताजी के प्रेम और उनकी सहायता के द्वारा अवश्य होकर रहेगा और तुम्हें तमसाच्छन्न करनेवाला अशुद्ध तत्त्व मिट जायेगा।

२५-९-१९३५

*

मुझे यह भान होता है कि इधर कुछ वर्षों से मेरा चैत्य पुरुष मेरी सत्ता के अग्र भाग में सदा ही क्रियाशील रहता है। क्या यह भान ठीक है?

यदि तुम्हारा चैत्य आगे आया हुआ है और क्रियाशील है, अर्थात् वह मन, प्राण और शरीर को परिवर्तित और नियंत्रित करने में लगा हुआ है, तो यह कैसी बात है कि तुम्हारे साथ माताजी के व्यवहारों से तुम्हारी प्रकृति में उथल-पुथल मच गयी है? यदि चैत्य अग्रभाग में स्थित और क्रियाशील हो तो वह प्रकृति के किसी भी भाग को, जो अस्त-व्यस्त होना चाहता है, तुरंत यह कहेगा, "माताजी जो भी क्रिया या निर्णय करें उसे समर्पण और प्रसन्नता के भाव से स्वीकार करना होगा। मन को यह नहीं मानना होगा कि वह माताजी से अधिक अच्छी तरह जानता है कि क्या किया जाना चाहिये, प्राण को यह नहीं चाहना होगा कि माताजी उसकी मांगों और पसंदगियों के अनुसार कार्य करें। क्योंकि ऐसे विचार और कामनाएं पुरानी प्रकृति की चीजें हैं और चैत्य तथा आध्यात्मिक प्रकृति में उनका कोई स्थान नहीं। वे अहंभाव की भूलें हैं।" और यदि चैत्य को प्रकृति पर नियंत्रण प्राप्त होता तो विक्षोभ तुरंत समाप्त हो जाता या क्षीण पड़कर मिट जाता। वास्तव में, यदि उसे पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त होता तो ऐसे विक्षोभ संभव ही न होते। अतएव यह मानना होगा कि संभवतः चैत्य पुरुष तुम्हारी सत्ता पर कुछ प्रभाव डालता चला आ रहा है पर उसका नियंत्रण पूर्ण होने से कहीं दूर है या फिर प्राण उठ खड़ा हुआ है और उसने चैत्य को ढक कर उसका प्रभाव रोक दिया है। परंतु यदि चैत्य पूरी तरह से सामने आया हुआ हो, ढका हुआ न हो या केवल अभी-अभी उभर ही न रहा हो, तो उसे बिलकुल ढक देना संभव ही नहीं होगा—तब तो केवल अधिक-से-अधिक ऊपरी सतह पर ही खलबली हो सकती है जब कि भीतर सब कुछ शांत, सचेतन और अर्पित ही रहेगा।

२-७-१९३६

माताजी के लिये सच्चा प्रेम

जो प्रेम भगवान् की ओर मुड़ा होता है उसे कभी वह सामान्य प्राणगत भाव नहीं होना चाहिये जिसे साधारणतया लोग प्रेम के नाम से पुकारते हैं; क्योंकि वह प्रेम नहीं है, बल्कि वह तो एक प्राणगत वासना है, आत्मसात् करने की सहजवृत्ति है, अधिकार करने और एकाधिकार जमाने की प्रेरणा है। केवल यही नहीं कि यह दिव्य प्रेम नहीं है बल्कि इसे कम-से-कम मात्रा में भी योग के साथ नहीं मिलने देना चाहिये। भगवान् के लिये जो सच्चा प्रेम है वह है आत्मदान, उसमें कोई मांग नहीं होती, वह नति और समर्पण के भाव से भरपूर होता है। वह कोई दावा नहीं करता, कोई शर्त नहीं लादता, कोई मोल-तोल नहीं करता, ईर्ष्या या अभिमान या क्रोध के कारण किसी प्रकार का आक्रमण नहीं करता—क्योंकि ये सब चीजें उसकी बनावट में नहीं होतीं। बदले में स्वयं भगवती माता भी अपने-आपको देती हैं, पर देती हैं खुले तौर पर—और यह प्रकट होता है एक आंतर आत्मदान के रूप में—उनकी उपस्थिति तुम्हारे मन में, तुम्हारे प्राण में, तुम्हारी भौतिक चेतना में विद्यमान रहती है, उनकी शक्ति दिव्य प्रकृति के अंदर तुम्हारा पुनःसृजन करती है, तुम्हारी सत्ता की सभी गतिविधियों को अपने हाथ में लेती और उन्हें पूर्णता और सिद्धि की ओर ले जाती है, उनका प्रेम तुम्हें घेर लेता है और अपनी गोद में उठाकर तुम्हें भगवान् की ओर ले जाता है। इसी बात को अपने समस्त अंगों में—एकदम स्थूल अंग तक में अनुभव करने और प्राप्त करने की अभीप्सा तुम्हें करनी चाहिये और इस विषय में न तो समय की कोई सीमा है और न परिपूर्णता की। अगर कोई वास्तव में इस बात की अभीप्सा करे और इसे पा ले तो फिर किसी दूसरी मांग अथवा किसी दूसरी अतृप्त कामना के लिये कोई स्थान नहीं रह जाना चाहिये। और अगर कोई सचमुच अभीप्सा करे तो फिर वह, जैसे-जैसे उसकी पवित्रीकरण की क्रिया आगे बढ़ती है और उसकी प्रकृति में आवश्यक परिवर्तन आता जाता है वैसे-वैसे, उसे निश्चित रूप से पाता ही है।

समस्त स्वार्थपूर्ण मांगों और कामनाओं से अपने प्रेम को शुद्ध रखो; तुम देखोगे कि उसके प्रत्युत्तर में तुम इतना अधिक प्रेम पा रहे हो जितना कि तुम सहन और आत्मसात् कर सकते हो।

फिर यह भी समझने की जरूरत है कि साक्षात्कार की प्राप्ति ही सबसे मुख्य कार्य है; तुम्हें जो करना है वह यही है, न कि दावों और इच्छाओं की पूर्ति। जब भागवत चेतना अपने अतिमानसिक प्रकाश और शक्ति के रूप में

उतर आवे और भौतिक सत्ता को रूपांतरित कर दे, तभी अन्य वस्तुओं को प्रमुख स्थान दिया जा सकता है—और तब भी कामना को तृप्त नहीं करना होगा, किंतु भागवत सत्य को पूर्णतया चरितार्थ करना होगा—प्रत्येक में तथा 'सर्व' में और उस नवीन जीवन में जिसे इस सत्य की अभिव्यक्ति करनी है। दिव्य जीवन में सब कुछ भगवान् के लिये होता है न कि अहं के लिये।

भ्रांतियां दूर करने के लिये मुझे शायद दो-एक बातें और कह देनी चाहियें। प्रथम, भगवान् के प्रति जिस प्रेम की मैं चर्चा कर रहा हूं वह केवल आंतरात्मिक प्रेम ही नहीं है; वह प्रेम है व्यक्ति की सारी सत्ता का, जिसमें प्राण और प्राणमय भौतिक सत्ता भी आ जाती है,—ये सभी आत्मोत्सर्ग के लिये एकसमान योग्य हैं। दूसरे, यह मान लेना अशुद्ध होगा कि अगर प्राण प्रेम करे तो अवश्य ही वह ऐसा प्रेम होगा जो अपनी कामना-तृप्ति की मांग करेगा और उसे शर्त के रूप में लादेगा; यह सोचना गलत होगा कि वह या तो अवश्य ऐसा ही होगा या प्राण के लिये आवश्यक है कि वह अपनी "आसक्ति" से बचने की खातिर अपने प्रेम के पात्र से सर्वथा दूर हट जाये। प्राण अपने याचनारहित आत्मदान में उतना ही निरपेक्ष हो सकता है जितना प्रकृति का अन्य कोई भी भाग; जब यह प्रियतम के लिये स्व को भुला देता है तब कोई भी भाग इसकी अपेक्षा अधिक उदार नहीं हो सकता। प्राण और शरीर दोनों को सच्चे तरीके से—सच्चे प्रेम के तरीके से, अहं की इच्छा के तरीके से नहीं—अपना उत्सर्ग करना चाहिये।

१-८-१९३१

सच्चा प्रेम और अहंपरायणता

हम सभी माताजी का प्रेम चाहते हैं, पर मुझे संदेह है कि हममें से कितने लोग सचमुच माताजी से प्रेम करते हैं। हममें से अधिकतर लोग अपनी निजी पसंदगी और नापसंदगी, सुख और दुःख, संतोष और निराशा में ही निवास करते हैं पर मुश्किल से ही कोई आदमी वास्तव में माताजी को प्यार करता है।

इसका यह मतलब नहीं है कि उनमें प्रेम नहीं है, पर वह प्रेम स्वार्थपरता, मांग और प्राणिक क्रियाओं से मिलाजुला और ढका हुआ है। कम-से-कम अधिकतर लोगों की यही अवस्था है। निःसंदेह, कुछ लोग ऐसे हैं जिनमें एकदम प्रेम

नहीं है अथवा जो कुछ वे पाते हैं केवल उसी के लिये 'प्रेम'—अगर उसे यह नाम दिया जाये—करते हैं; एक या दो ऐसे हैं जो सचमुच में प्रेम करते हैं, पर बहुत से लोगों में चैत्य स्फुलिंग घने धुएं में छिपा हुआ है। उस धुएं से छुटकारा पाना ही होगा जिससे कि स्फुलिंग को अग्निशिखा के रूप में बढ़ने का अवसर प्राप्त हो।

९-११-१९३४

चैत्य, मानसिक और प्राणिक भक्ति

माताजी के प्रति चैत्य भक्ति, मानसिक भक्ति और प्राणिक भक्ति में क्या अंतर है?

चैत्य भक्ति प्रेम और आत्मदान से बनी होती है और उसमें कोई मांग नहीं होती; प्राणिक भक्ति माताजी द्वारा अधिकृत होने और उनकी सेवा करने के संकल्प से तथा मानसिक भक्ति श्रद्धा, और माताजी जो कुछ हैं, जो कुछ कहती और करती हैं उस सबको बिना किसी आपत्ति के स्वीकार कर लेने के भाव से गठित होती है। अवश्य ही ये सब बाहरी चिह्न हैं—अपने आंतर स्वरूप में ये तीनों स्पष्ट पहचाने जा सकते हैं पर इनके भेद को शब्दों में नहीं रखा जा सकता।

२८-४-१९३३

*

क्या इस योग में मानसिक और प्राणिक भक्ति के लिये कोई स्थान नहीं है?

कौन कहता है कि नहीं है? सभी प्रकार की भक्ति के लिये स्थान है बशर्ते कि वह सच्ची भक्ति हो।

२८-४-१९३३

*

यह है अपने अहंभाव सहित पुराना प्राण जो फिर-फिर उभर आता है। यह उच्चतर सत्ता का अनुसरण करने और उन सच्चे भक्तों-जैसा बनने से इन्कार

करता है जो कुछ नहीं मांगते और उस सब कुछ से ही संतुष्ट रहते हैं जो माताजी करती हैं या नहीं करतीं; कारण, जो कुछ भी वे करती हैं वह अवश्य ही भला होगा क्योंकि वे भगवती मां हैं। तुम्हें इस प्राणिक भाग पर इस सत्य को बल-पूर्वक लागू करना होगा।

६-५-१९३५

*

शुद्ध और पूर्ण भक्ति कैसे प्राप्त की जाये?

पहले शांत अवस्था प्राप्त करो—फिर उस शांत भूमिका से अभीप्सा करो और अपने-आपको शांत भाव से तथा सचाई के साथ माताजी की ओर खोल दो।

१५-११-१९३३

*

मुझे भक्ति का एक छोटा-सा कण प्रदान कीजिये, हे मां, बस उसकी एक छोटा-सी कणिका भर। अन्यथा, न मालूम मुझे क्या हो जायेगा, सचमुच मुझे यह भी पता नहीं कि मैं यहां कैसे रह सकता हूं। और मैं आपके चरण-कमलों का आश्रय छोड़ना भी नहीं चाहता।

ऐसा करो कि मानसिक आतुरता तुम्हें परेशान न करने पाये। माताजी की शक्ति की क्रिया की प्रतीक्षा करो। वे तुम्हारे हृदय-कमल को खोल देंगी। ऊपर से आनेवाली ज्योति में भक्ति तुम्हारे अंदर प्रस्फुटित हो उठेगी।

२५-१०-१९३६

श्रद्धा और प्रेम

क्या यह सच नहीं है कि जिन लोगों को माताजी में श्रद्धा-विश्वास है, उनमें उनके लिये प्रेम भी है? क्या श्रद्धा-विश्वास और प्रेम साथ-साथ नहीं रहते?

सर्वदा नहीं। ऐसे बहुत-से लोग हैं जिन्हें प्रेम के बिना भी कुछ श्रद्धा-विश्वास होता है, यद्यपि उनमें एक प्रकार की मानसिक भक्ति हो सकती है, और बहुतेरे

ऐसे होते हैं जिनमे कुछ प्रेम तो होता है पर श्रद्धा-विश्वास नहीं होता। परंतु यदि सच्चा चैत्य प्रेम हो तो श्रद्धा-विश्वास भी उसके साथ रहता है, और यदि पूर्ण श्रद्धा-विश्वास हो तो फिर चैत्य प्रेम शीघ्र जाग्रत् हो जाता है। तुम्हारा कहना तभी ठीक है यदि वह अंतरात्मा का विश्वास हो, अंतरात्मा का प्रेम हो —परंतु कुछ लोगों में केवल प्राणिक भाव ही होता है और जब वह निराश होता है तब वह विद्रोह और क्रोध ले आता है और वे चले जाते हैं।

८-५-१९३३

माताजी के लिये चैत्य भाव

वह किस प्रकार का भाव है जिसमें माताजी को केवल देखने से ही संतोष और आनंद मिलता है?

वह चैत्य भाव है।

वह किस प्रकार का भाव है जिसमें माताजी को केवल याद करने में ही संतोष और आनंद मिलता है?

चैत्य।

वह किस प्रकार का भाव है जिसमें माताजी के विरुद्ध कुछ सुनने पर हृदय में चोट पहुंचती है?

चैत्य।

वह किस प्रकार का भाव है जिसमें मनुष्य अपने हृदय में माताजी की उपस्थिति के निकट अपने को अनुभव करता है जब कि वे शरीर से बहुत दूर होती हैं।

चैत्य।

मैं यह कैसे पता लगाऊं कि मैं पूरे चैत्य प्रेम की अवस्था में हूं?

अहंकार के अभाव, विशुद्ध भक्ति, भगवान् के प्रति नति और आत्मसमर्पण के द्वारा।

९-५-१९३३

*

जब सारी-की-सारी प्रकृति "श्रीमां" शब्द के चारों ओर वेदन, चिंतन और कर्म करने में निरत हो तो क्या चैत्य पुरुष की उपलब्धि हो जायेगी?

वह अपने-आपमें चैत्य अवस्था होगी।

*

क्या चैत्य के पूरी तरह से सामने आने से पहले उसके द्वारा माताजी के साथ सचेतन संपर्क स्थापित हो सकता है?

हां, चैत्य तो वहां सदा ही उपस्थित है।

*

जब-जब भी मैं माताजी के दर्शन करता हूं, हर बार ही मुझे प्रेम और आनंद की अनुभूति क्यों नहीं होती?

जहांतक प्रेम एवं आनंद का प्रश्न है, वह चैत्य के ऊपर की ओर उभर आने पर निर्भर करता है।

२९-७-१९३४

*

जब कभी माताजी के लिये आंतरिक प्रेम फूट पड़ता है, आंसू भी उमड़ आते हैं।

ये भक्ति आदि के चैत्य आंसू हैं।

२५-८-१९३४

*

एक दर्शक महिला आज आश्रम से जानेवाली थी। ज्यों ही माताजी ने प्रणाम-समारोह समाप्त किया यह महिला रोने लगी। वास्तव में, उसने अपने को रोकने का भरसक प्रयत्न किया क्योंकि हम सब अभी वहीं थे, पर लगता है यह उसके बस की बात नहीं थी। क्या इसका कारण यह नहीं था कि उसका चैत्य उस समय के लिये सामने आ गया था?

यह चैत्य के सामने आने की बात नहीं। उसका चैत्य पुरुष जागा हुआ है और आंतरिक स्तर पर चिरकाल से उसके चैत्य का माताजी के साथ संबंध रहा है।

२८-८-१९३४

*

ऊपर से एक सिहरन आती है और मेरे शरीर में गुजर जाती है, कुछ समय के लिये वह आधार को शांत-निश्चल कर देती है। मैं उसके विषय में कुछ विशेष नहीं समझ पाता। वह ठीक-ठीक क्या चीज है?

निःसंदेह वह माताजी के स्पर्श की सिहरन है जो ऊपर से आती है और जिसे चैत्य और प्राण एक साथ अनुभव करते हैं।

२८-८-१९३४

*

हम देखते हैं कि माताजी की उपस्थिति में या उनसे मिलकर हम विषाद से निकल आते हैं और हर्षोद्रेक अनुभव करते हैं। क्या ऐसा चैत्य मिलन के द्वारा होता है या आंतर प्राणिक स्तर पर मिलन के द्वारा?

यह इसपर निर्भर करता है कि क्या वह हर्षोल्लास माताजी से प्राणशक्ति का आहरण करने से आता है या केवल उन्हें देखने की खुशी से या उनसे कुछ प्राप्त करने के कारण। पिछली दो अवस्थाओं में वह सामान्यतया चैत्य या चैत्य-प्राणिक होता है, पहली अवस्था में प्राणिक।

*

यदि किसी मनुष्य को यह वेदन होता है कि वह माताजी का सबसे सुखी बच्चा है तो क्या ऐसा अहंभाव के कारण होता है?

यह उस वेदन के मूलस्त्रोत पर निर्भर करता है। यदि सुख सच्चा हो तो वह अहंभाव नहीं है। यदि उसका कारण हो अपने श्रेष्ठ होने की भावना तो वह अहंभाव है।

*

मेरा चैत्य कभी-कभी अपने को उदास और अकेला अनुभव करता है क्योंकि उसे लगता है कि वह माताजी को ठीक तरह से प्रेम नहीं कर सकता।

ऐसी बात है तो वह चैत्य हो ही नहीं सकता। चैत्य को कभी ऐसा नहीं लगता कि वह भगवान् से प्रेम नहीं कर सकता।

*

माताजी के प्रति चैत्य प्रेम—नहीं तो मृत्यु : कभी-कभी व्यक्ति एक अंतिम निश्चय के रूप में ऐसा अनुभव करता है।

यह बिलकुल गलत मनोवृत्ति है। यह एक बार फिर प्राण का आ घुसना है—यह चैत्य मनोभाव नहीं। यदि चैत्य प्रेम की मांग करते हुए तुम एक ऐसा मनोभाव अपनाते हो जो प्राणिक है, चैत्य नहीं, तो तुम चैत्य के आने की आशा ही कैसे करते हो?

२-३-१९३५

*

केवल इस बात पर ध्यान एकाग्र करना कि मैं माताजी के हृदय के संग ही रहूं और यह चाहना कि केवल उन्हीं का होऊं और उन्हीं के लिये जीऊं तथा और किसी अनुभव की परवाह न करना : इस मनोभाव के विषय में आपका क्या विचार है?

चैत्य सत्ता और सामान्यतया आंतर सत्ता को जगाने के लिये यह भाव अच्छा है। परंतु यदि उच्चतर अनुभव आये तो उसे रोकना नहीं चाहिये।

१२-३-१९३५

*

उच्चतर या गभीरतर अनुभव भी कतई मूल्यवान् नहीं प्रतीत होते यदि व्यक्ति माताजी से सच्चे हृदय के साथ प्रेम नहीं कर सकता।

ऐसा सोचना एक भूल है। अनुभव सत्ता के विभिन्न भागों को ठीक ढंग से प्रेम करने के लिये तैयार करते हैं, जिससे ऐसा न हो कि केवल आत्मा ही प्रेम करे। जबतक वे अज्ञान और अहंभाव की ओर खुले हैं तबतक वे प्रेम को ठीक तरह से ग्रहण और धारण नहीं कर सकते।

२३-१०-१९३५

चैत्य और प्राणिक प्रेम

प्रेम और भक्ति चैत्य पुरुष के उद्घाटन पर निर्भर करती हैं और उनके लिये कामनाओं का नाश आवश्यक है। बहुत-से लोग जो माताजी के प्रति चैत्य प्रेम के बदले प्राणगत प्रेम प्रदर्शित करते हैं उससे अन्य चीजों की अपेक्षा गोलमाल की ही सृष्टि अधिक होती है, क्योंकि उस प्रेम के साथ कामना जुड़ी होती है।

८-९-१९३६

*

प्राणगत प्रेम रखने में कोई हानि नहीं है बशर्ते कि वह सब प्रकार की असरलता (उदाहरणार्थ, आत्मश्लाघा इत्यादि) से और सब प्रकार की मांग से खाली हो। माताजी को देखने में प्रसन्नता का अनुभव करना बिलकुल ठीक है, पर अपने अधिकार के रूप में उसकी मांग करना, जब न मिले तो दुःखी होना या विद्रोह करना या अभिमान करना, जो लोग उसे पायें उनसे ईर्ष्या करना—यह सब मांग कहलाता है और एक प्रकार की अपवित्रता उत्पन्न करता है जो प्रसन्नता और प्रेम दोनों को नष्ट कर देती है।

१३-९-१९३४

*

जहांतक माताजी को देखने की 'उत्सुकता' का प्रश्न है, उसका ठीक होना या न होना भाव के स्वरूप पर निर्भर करता है। यदि उसमें कोई मांग या दावा नहीं, जब वह पूरी न हो तो किसी प्रकार का असंतोष नहीं होता, वरन् वह केवल, जब कभी भी संभव हो, उन्हें देखने की तीव्र इच्छा का और उनके

दर्शन करने के आनंद का एक भाव ही है तो वह बिलकुल ठीक है। निःसंदेह, वहां क्रोध या ईर्ष्या लेशमात्र भी नहीं होनी चाहिये। प्राण को भी साधना में भाग लेना ही है, इसलिये वह भाव निरे इस तथ्य के कारण गलत नहीं हो जाता कि उसमें प्राणिक तत्त्व है, बशर्ते कि प्राणिक तत्त्व ठीक प्रकार का हो।

६-१२-१९३१

*

अगर माताजी के विरुद्ध तुम्हें मान (नाराज़गी) न हुआ हो तो वह भी निश्चय ही बहुत अच्छा है। मान, क्षोभ आदि जीवन के चिह्न हो सकते हैं पर प्राणगत जीवन के चिह्न हैं, आंतरिक जीवन के नहीं। उन्हें अवश्य शांत हो जाना चाहिये और आंतरिक जीवन को स्थान देना चाहिये। आरंभ में परिणामस्वरूप एक उदासीनता-भरी शांति आ सकती है, परंतु अधिक यथार्थ नयी चेतना को पाने के लिये मनुष्य को अक्सर ऐसी अवस्था में से गुजरना होता है।

२-१-१९३७

*

इस अशांत प्राणगत क्रिया में संलग्न रहने से कोई लाभ नहीं। इस चीज के द्वारा तुम श्रीमां के साथ एकत्व नहीं प्राप्त कर सकते। तुम्हें शांति के साथ अभीप्सा करनी चाहिये—खाना, सोना और अपना काम करना चाहिये। शांति ही वह एकमात्र वस्तु है जिसे इस समय तुम्हें मांगना चाहिये—एकमात्र शांति और स्थिरता के आधार पर ही सच्ची उन्नति और सिद्धि आ सकती है। तुम्हारी खोज में अथवा माताजी के प्रति होनेवाली तुम्हारी अभीप्सा में किसी प्रकार की कोई प्राणगत उत्तेजना नहीं होनी चाहिये।

२०-१०-१९३३

प्राण का मोलतोल और सच्चा आत्मदान

जो कुछ तुम्हें अनुभव हुआ है वह निम्न प्राण का अपनी मांगों और वासनाओं के साथ फिर से जग जाना या तुम्हारे ऊपर पुनः लौट आना है। उसका सुझाव यह है कि "मैं योग कर रहा हूं, पर कर रहा हूं किसी लाभ के लिये। मैंने प्राणगत वासना और तृप्ति का जीवन छोड़ दिया है पर इसीलिये कि मुझे माताजी के साथ घनिष्ठता प्राप्त हो—संसार के द्वारा तृप्ति पाने के बदले में

भगवान् के द्वारा तृप्ति पाऊं और अपनी कामनाओं को चरितार्थ करूं। अगर मुझे माताजी के साथ घनिष्ठता न प्राप्त हो और तुरत न प्राप्त हो और जैसे मैं चाहता हूं वैसे न प्राप्त हो तो फिर मैं पुरानी चीजों को ही क्यों छोड़ूं?" और इसके स्वाभाविक फल के रूप में पुरानी चीजें फिर आरंभ हो जाती हैं —'अ' और 'ब' तथा 'ब' और 'अ' एवं 'स' की भूलें आदि। इस निम्न प्राण की मशीन को तुम्हें अवश्य देखना चाहिये और इसकी क्रिया को त्यागना चाहिये। वास्तव में आत्मदान के पूर्ण चैत्य संबंध द्वारा ही भगवान् के साथ एकता और घनिष्ठता बनायी रखी जा सकती है—दूसरा जो है वह प्राणगत अहंकार की क्रिया का अंग है और वह केवल चेतना का पतन ही करा सकता और गोलमाल की सृष्टि कर सकता है।

२०-६-१९३३

*

तुम्हें केवल अपने-आप और भगवान् से मतलब है। भगवान् के साथ के तुम्हारे संबंध में तुम्हारा मतलब यह नहीं है कि भगवान् तुम्हारी व्यक्तिगत कामनाओं को तुष्ट करें बल्कि यह है कि वे तुम्हें इन चीजों से बाहर खींचकर तुम्हारी उच्चतम आध्यात्मिक संभावनाओं तक ऊपर उठा ले जायें जिससे कि तुम अपने अंतर में माताजी के साथ युक्त हो सको और उसके फलस्वरूप अपनी बाहरी सत्ता में भी युक्त हो सको। तुम्हारी प्राणगत वासनाओं को तृप्त करके ऐसा नहीं किया जा सकता—उनको तृप्त करने से तो वे और भी बढ़ेंगी और तुम्हें साधारण प्रकृति के अज्ञान तथा चंचल वि ृंखलता के हाथों में सौंप देंगी। ऐसा तो केवल तुम्हारे आंतरिक विश्वास और आत्मसमर्पण के द्वारा तथा भीतर से काम करनेवाली और तुम्हारी प्राण-प्रकृति को बदलनेवाली माताजी की शांति और शक्ति के दबाव के द्वारा ही किया जा सकता है। इसी बात को जब तुम भूल जाते हो तब तुम गलत रास्ते पर चले जाते हो और दुःख पाते हो; जब तुम इसे याद रखते हो तब तुम आगे बढ़ते हो और कठिनाइयां धीरे-धीरे कम होने लगती हैं।

१३-९-१९३३

*

अगर यह प्राण का वही अंश हो जो पहले ठीक दिशा में था और अब माताजी के विरुद्ध चला गया है तब इसका कारण बिलकुल स्पष्ट है। इसने जो साथ

दिया उसका कारण यह था कि इसने समझा था कि सहयोग देने पर माताजी इसकी कामनाओं को संतुष्ट कर देंगी; पर यह देखकर कि इसकी कामनाएं चरितार्थ नहीं हो रही हैं, यह उनके विरुद्ध चला गया है। साधारण मनुष्य और साधारण जीवन में प्रायः प्राणिक क्रिया ऐसी ही होती है और योग में इसका कोई भी यथार्थ स्थान नहीं है। साधकों के ठीक इसी मनोभाव को योग में ले आने और बराबर बनाये रखने के कारण अंत में यह आवश्यक हो गया कि माताजी एकान्त में चली जायें जैसा कि उन्होंने अब किया है। वास्तव में तुम्हें करना यह चाहिये कि तुम इन निम्नतर भागों को यह समझा दो कि उनका अस्तित्व स्वयं उनके लिये नहीं है बल्कि भगवान् के लिये है और बिना किसी मांग या हिचकिचाहट या छल-कपट के उन्हें सहयोग देने के लिये है। इस समय साधना का यही समूचा प्रश्न है। क्योंकि जब ऐसा किया जायेगा केवल तभी भौतिक चेतना परिवर्तित हो सकेगी और अवतरण के योग्य बन सकेगी। अन्यथा सत्ता के किसी-न-किसी भाग में सर्वदा ही इस प्रकार उतार-चढ़ाव होता रहेगा—कम-से-कम, विलम्ब, गोलमाल और उथलपुथल बनी रहेगी। यही सत्य-चेतना में जम जाने और साधना का एक सीधा मार्ग पाने का एकमात्र सच्चा आधार है।

१४-१२-१९३१

माताजी के साथ घनिष्ठता प्राप्त करने में भय के कारण बाधा

समस्त भय को निकाल फेंकना चाहिये। भय की यह क्रिया प्राण के अभी अपरिवर्तित उस भाग से संबंध रखती है जो पुराने विचारों, अनुभवों और प्रतिक्रियाओं का प्रत्युत्तर देता है। इसका एकमात्र प्रभाव है माताजी के मनोभाव या उनके शब्दों या उनकी दृष्टि या उनकी मुखाकृति के अंदर निहित उद्देश्य की तुमसे गलत व्याख्या कराना। अगर माताजी गंभीर हो जाती हैं या व्यंग्यपूर्ण हंसी हंसती है तो इसका मतलब यह बिलकुल नहीं है कि वे नाराज हैं या उन्होंने अपना प्रेम हटा लिया है; बल्कि, इसके विपरीत, जिन लोगों के साथ उनकी अत्यंत आंतरिक घनिष्ठता है उन्हीं लोगों के साथ वे ऐसा भाव ग्रहण करने में—यहांतक कि उनकी कठोर भर्त्सना करने में भी—अत्यंत स्वतंत्रता अनुभव करती हैं। वे लोग उनके भाव को समझते हैं और वे न तो घबड़ाते हैं न डरते हैं,—वे बस अपनी दृष्टि भीतर की ओर मोड़ लेते हैं और यह देखते हैं कि आखिर वह कौन-सी चीज है जिसपर वे दबाव डाल रही हैं। उस

दबाव को वे एक विशेष सुविधा तथा उनकी कृपा का एक चिह्न मानते हैं। भय इस पूर्ण घनिष्ठता और विश्वास के मार्ग में बाधा पहुंचाता है और केवल गलतफहमी ही उत्पन्न करता है; तुम्हें इसे एकदम निकाल फेंकना चाहिये।

२५-५-१९३२

*

क्षमा मांगने की कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि माताजी तुमसे जरा भी नाराज या असंतुष्ट नहीं हुई हैं। तुम बराबर उनके प्रेम के विषय में निश्चिंत रह सकते हो।

२९-९-१९३३

*

दूसरों की बातों को महत्त्व देना बराबर ही भूल है—माताजी के प्रति सच्ची भक्ति और समुचित मनोभाव बनाये रखना ही पर्याप्त है। तुम्हें इस तरह की आशंका करने की बिलकुल आवश्यकता नहीं है।

२८-४-१९३३

माताजी की ओर खुले रहने के तीन नियम

भौतिक मन के प्रभाव से अधिक खतरनाक चीज और कोई नहीं है। भौतिक मन बराबर बाहरी रूपों को देखकर ही अपने निर्णयों पर पहुंचने का प्रयास करता है और उनके निन्यानवे प्रतिशत मिथ्या होने की ही संभावना होती है। साधक को बाहरी रूपों के आधार पर किये गये जल्दबाजी के निर्णयों पर अविश्वास करना सीखना चाहिये—क्या यही सच्चा ज्ञान प्राप्त करने की पहली शर्त नहीं है?—और भीतर से चीजों को देखना और जानना सीखना चाहिये।

तुम पूछ रहे हो कि इन सब क्रियाओं को कैसे बंद किया जाये? आरंभ में बस इन तीन नियमों का पालन करो :

१. सर्वदा माताजी के संरक्षण और प्रेम पर भरोसा रखो—उन्हीं पर विश्वास करो और प्रत्येक सुझाव पर, प्रत्येक बाहरी रूप पर जो उनका विरोध करता हुआ मालूम हो, अविश्वास करो।

२. ऐसे प्रत्येक भाव, प्रत्येक प्रवेग का तुरत त्याग कर दो जो तुम्हें माताजी से—उनके साथ के तुम्हारे सच्चे संबंध से, आंतरिक सामीप्य से, उनके प्रति

तुम्हारे सरल और सीधे-सादे विश्वास से—अलग हटाता है।

३. बाहरी लक्षणों पर अत्यधिक बल मत दो—उनको देखने-विचारने से तुम सहज ही गलत रास्ते पर चले जा सकते हो। श्रीमां की ओर अपने को खोले रखो और अपने हृदय से—आंतर हृदय से, ऊपरी प्राणगत वासना के द्वारा नहीं, बल्कि सच्चे भावावेगवाले हृदय के द्वारा—उन्हें अनुभव करो; वहीं उन्हें प्राप्त करना, अपने अंदर सर्वदा उनके सान्निध्य में रहना और जो कुछ तुम्हें देने के लिये वह निरन्तर कार्य कर रही हैं उसे ग्रहण करना तुम्हारे लिये अधिक संभव है।

१९३१

*

यदि तुम अपने और माताजी के बीच में किसी व्यक्ति को लाओगे तो उससे कष्ट पैदा होकर ही रहेगा।

५-४-१९३३

माताजी के साथ सीधा संबंध

माताजी के साथ सीधा संबंध तुम्हारे लिये सदा ही खुले रूप में सुलभ है, अपिच, वह वहां विद्यमान ही है और तुम जब चाहो उसे अनुभव कर सकते हो; क्योंकि वह आंतर सत्ता की वस्तु है। जब कभी तुम अपने अंदर गहरे जाते हो, उसे पा लेते हो; उसे बाहर आकर बाह्य प्रकृति और जीवन पर शासन करना है। इसी कारण मैं चाहता हूं कि तुम भीतर जाने के लिये तथा साधना में आंतरिक प्रगति के लिये समय दो। 'क्ष' के साथ संबंध, जिसे स्थापित करने का माताजी ने विचार किया था, उनके काम में दो मित्रों एवं सहकर्मियों का संबंध था। यह कभी अभिप्रेत नहीं था कि वह तुम्हारे और माताजी के बीच में आये। 'य' वाले मामले में हमें तुमको सहायता देनी थी ताकि तुम उन आक्रमणों के कारण जिनसे तुम कष्ट भोग रहे थे, अपना संतुलन न खो बैठो और तुम्हें तबतक के लिये समय और सहारा मिल जाये जबतक तुम ऐसे बिंदु तक नहीं पहुंच पाते जहां तुम अपने अंदर और अपने साथ माताजी की उपस्थिति को प्राप्त करने के लिये यत्न कर सको। वैसा यत्न तुम अब कर सकते हो और कोई कारण नहीं कि किसी को भी किसी प्रकार मध्यस्थ बनने के लिये कहा जाये—हमारा काम सीधे तुम्हारे अंदर और

तुम पर है, न कि किसी दूसरे के द्वारा।

२२-१२-१९३६

*

इसपर विचार मत करो कि लोग तुमसे सहमत हैं या असहमत अथवा तुम अच्छे हो या बुरे, वरन् यह विचार करो कि "माताजी मुझसे प्रेम करती हैं और मैं माताजी का हूं।" यदि तुम इस विचार को अपने जीवन का आधार बनाओ तो सब कुछ शीघ्र ही आसान हो जायेगा।

३०-४-१९३५

*

दूसरों के विषय में तथा अपनी "बुराई" के विषय में विचार करते रहने के कारण ही तुम अपने को माताजी से दूर अनुभव करते हो। सब समय वे तुम्हारे अत्यंत समीप हैं और तुम उनके। यदि तुम इस दृष्टिकोण को अपनाओ जो मैंने प्रतिपादित किया था कि "माताजी मुझसे प्रेम करती हैं और मैं उनका हूं," और इसी को अपने जीवन का आधार बना लो तो पर्दा शीघ्र ही हट जायेगा, क्योंकि वह इन्हीं विचारों से बना है और किसी चीज से नहीं।

१-५-१९३५

*

तुम्हारे और 'क्ष' और 'य' के विषय में लोग जो कुछ कहते हैं उसपर कान देना और उनकी मूर्खतापूर्ण बकबक को कोई महत्त्व देना तुम्हारी भूल थी... माताजी जो कुछ कहती हैं वही सत्य और महत्त्वपूर्ण है न कि जो कुछ लोग कहते हैं; लोग जो कुछ कहते हैं उसपर यदि तुम कान दो तो तुम माताजी की चेतना के साथ संपर्क खो दोगे। इसी कारण अपनी बुराई के विषय में ये विचार तथा अन्य ऐसी चीजें तुमपर लौट आयी हैं... बहुत दिनों तक तुम्हें शांति एवं आनंद प्राप्त रहे और साथ ही चंचल मन से मुक्ति भी तथा तुम्हारा चैत्य भी खुला हुआ था। अब तुम्हें फिर उसी अवस्था में लौटना होगा और वैसा ही करना होगा जैसा तुम पहले कर रहे थे। केवल माताजी की ओर ही मुड़ो और उनकी चेतना तथा इच्छा शक्ति को अपने अंदर कार्य करने दो। तब तुम वह चीज फिर से प्राप्त कर लोगे जो तुम्हें पहले प्राप्त थी, मन को निश्चल-नीरव कर दो और मुक्त हो जाओ।

२९-४-१९३३

८

श्रीमाताजी के लिये किये गये कर्म के द्वारा साधना

साधना और माताजी के लिये कार्य

यदि माताजी पर समुचित रूप से मन को एकाग्र करके उनके लिये कार्य किया जाये तो वह भी ध्यान और आंतरिक अनुभूतियों के समान ही साधना है।

*

जो लोग पूरी सच्चाई के साथ माताजी के लिये कार्य करते हैं वे स्वयं कार्य के द्वारा ही समुचित चेतना प्राप्त करने के लिये तैयार किये जाते हैं, भले ही वे ध्यान करने के लिये न बैठें अथवा योग का कोई विशेष अभ्यास न करें। तुम्हें यह बताने की आवश्यकता नहीं कि ध्यान कैसे किया जाता है; अगर तुम अपने कर्म में और सब समय सच्चे बने रहो और अपने-आपको माताजी के प्रति खोले रखो तो जो कुछ आवश्यक है वह अपने-आप ही आयेगा।

पूर्णयोग में कर्म की आवश्यकता

अनुभूतियां प्राप्त करने के लिये पूर्ण रूप से भीतर चले जाने और कर्म की, बाहरी चेतना की उपेक्षा करने का अर्थ है समतोलता खो बैठना, साधना में एकमुखी हो जाना—क्योंकि हमारा योग सर्वांगपूर्ण है; इसी तरह अपने-आपको बाहर की ओर फेंक देना और केवल बाहरी सत्ता में रहना भी समतोलता खो बैठना है; साधना में एकमुखी हो जाना है। साधक को आंतर अनुभूति और बाह्य कर्म दोनों में एक ही चेतना बनाये रखनी चाहिये तथा दोनों को माताजी से भर देना चाहिये।

*

जबतक मनुष्य का मन खूब मजबूत न हो तबतक अपना सारा समय या समय का अधिकांश ध्यान में व्यतीत करना अच्छा नहीं—क्योंकि ऐसा करने से मनुष्य को पूर्ण रूप से आंतर जगत् में रहने और बाहरी तथ्यों से संस्पर्श खो बैठने की आदत पड़ जाती है—इससे एकपक्षीय सामंजस्यहीन गति उत्पन्न

होती है और यह समतोलता भंग कर सकती है। ध्यान और कर्म दोनों करना तथा दोनों को माताजी को अर्पित कर देना ही सबसे उत्तम बात है।

६-८-१९३३

*

हमारा अनुभव यह नहीं है कि केवल ध्यान के द्वारा प्रकृति को रूपांतरित करना संभव है, और न बाहरी क्रिया-कलाप और कर्म से अलग हो जाने पर उन लोगों को विशेष लाभ ही हुआ है जिन्होंने इसका परीक्षण किया है; बहुत से लोगों के लिये यह हानिकारक भी हुआ है। कुछ अंश में मन को एकाग्र करने, हृदय में आंतरिक अभीप्सा रखने तथा वहां माताजी की उपस्थिति की ओर और ऊपर से आनेवाले अवतरण की ओर चेतना को खोले रखने की आवश्यकता है। परंतु बिना किसी क्रिया के, बिना किसी कर्म के वास्तव में प्रकृति में परिवर्तन नहीं होता; काम में और मनुष्यों के साथ संपर्क होने पर ही प्रकृति के परिवर्तन का परीक्षण होता है। जो काम मनुष्य करता है उनमें न तो कोई ऊंचा है, न कोई नीचा; सभी कर्म एक जैसे हैं बशर्ते कि वे माताजी को अर्पित हों और उनके लिये तथा उनकी शक्ति के द्वारा किये गये हों।

६-१०-१९३४

*

यह तब होता है जब कि कर्म बराबर माताजी के चिन्तन के साथ संयुक्त होता है, यह पुकार रखते हुए कि माताजी तुम्हारे द्वारा उसे करें, उनकी पूजा के रूप में किया जाता है। अहंकार की सभी भावनाएं, कर्म के साथ लगे हुए सभी अहंजन्य हृद्गत भाव अवश्य दूर होने चाहियें। फिर साधक श्रीमां की शक्ति को कार्य करते हुए अनुभव करना आरंभ करता है; कर्म के पीछे विद्यमान एक विशिष्ट आंतर मनोभाव के द्वारा चैत्य पुरुष वर्धित होता है और आधार भीतर से आनेवाली चैत्य संबोधि तथा प्रभाव एवं ऊपर से होनेवाले अवतरण दोनों के प्रति उद्घाटित हो जाता है। उस समय स्वयं कर्म के द्वारा ही ध्यान का फल भी प्राप्त हो सकता है।

*

'क्ष' कहता है कि वह काम के समय आपकी उपस्थिति उस प्रकार नहीं अनुभव कर पाता जिस प्रकार ध्यान के समय। उसे समझ में नहीं आता

कि कैसे कर्म उसके लिये सहायक हो सकता है।

उसे अपने कार्य को अर्पित करना तथा उसके द्वारा माताजी की शक्ति को कार्य करते हुए अनुभव करना सीखना है। निरे बैठे-बैठे प्राप्त किया हुआ आत्मगत साक्षात्कार केवल अर्ध-साक्षात्कार है।

२३-१-१९३४

*

माताजी ऐसा नहीं समझतीं कि समस्त कर्म का त्याग कर देना तथा केवल पढ़ना और ध्यान करना अच्छा है। कर्म भी योग का अंग है और यह प्राण तथा उसकी क्रियाओं के अंदर भागवत उपस्थिति, ज्योति और शक्ति को उतार लाने का सबसे उत्तम सुयोग प्रदान करता है; यह आत्मसमर्पण के क्षेत्र और सुअवसर को भी बढ़ाता है।

यह स्मरण रखना ही काफी नहीं है कि कर्म माताजी का है—और उसके परिणाम भी; तुम्हें अपने पीछे माताजी की शक्ति को अनुभव करना और उनकी अंतःप्रेरणा तथा पथ-प्रदर्शन की ओर खुले रहना भी सीखना चाहिये। सदा मन के प्रयास के द्वारा स्मरण करना अत्यंत कठिन है; अगर तुम उस चेतना में चले जाओ जिसमें तुम सर्वदा माताजी की शक्ति को अपने अंदर या अपने को सहारा देते हुए अनुभव करो तो बस वही सच्ची चीज है।

तुमने बीमा कम्पनी के विषय में जैसी निश्चित सलाह मांगी है, वैसी सलाह साधारणतया माताजी नहीं दिया करतीं। तुम्हें अपने मन की नीरवता में सच्ची अंतःप्रेरणा पाना सीखना चाहिये।

१८-८-१९३२

*

जो लोग शांति और 'समता' में निवास करते हैं, पर माताजी के लिये कोई काम नहीं करते या बहुत कम काम करते हैं, क्या वे रूपांतर प्राप्त करते हैं?

नहीं, वे बिलकुल रूपांतरित नहीं होते।

७-५-१९३३

माताजी की शक्ति के साथ एकत्व प्राप्त करने की दो अवस्थाएं

इस बात का बोध होना कि हम जो कुछ करते हैं वह सब भगवान् से आया है, समस्त कर्म ही श्रीमां के हैं, अनुभूति का एक आवश्यक कदम है, पर हम उसीमें बने नहीं रह सकते—हमें उससे भी आगे जाना होगा। वे ही लोग इसमें बने रह सकते हैं जो प्रकृति को बदलना नहीं चाहते, बल्कि उसके पीछे विद्यमान सत्य का केवल अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं। तुम्हारा कर्म विश्व प्रकृति के अनुसार होता है और फिर साथ ही तुम्हारी व्यक्तिगत प्रकृति के अनुसार, समस्त प्रकृति एक शक्ति है जिसे भगवती माता ने विश्व के कार्य के लिये बाहर निकाल रखा है। अभी जैसी स्थिति है उसमें यह अज्ञान और अहंकार का एक कार्य है; परंतु हम चाहते हैं ऐसा कर्म जो भागवत सत्य का हो और अज्ञान तथा अहंकार द्वारा आच्छादित और विकृत न हो।

अतएव जब तुम यह अनुभव करते हो कि तुम्हारे सभी कर्म माताजी की शक्ति के द्वारा किये जा रहे हैं, तब यह सच्ची अनुभूति है। परंतु माताजी की इच्छा यह है कि जो कुछ तुम करो वह केवल प्रकृति के अंदर विद्यमान उनकी शक्ति के द्वारा नहीं होना चाहिये जैसा कि अभी हो रहा है, बल्कि उनकी प्रकृति के, दिव्य सत्य में विद्यमान उनकी निजी सीधी शक्ति के, उच्चतर दिव्य प्रकृति के द्वारा होना चाहिये। अतएव यह भी ठीक था, जैसा कि तुमने पीछे सोचा, कि जबतक यह परिवर्तन नहीं आ जाता, तबतक यह अनुभव पूर्ण रूप से सच्चा नहीं हो सकता कि जो कुछ भी तुम करते हो वह उनकी ही इच्छा से हो रहा है। इसलिये तबतक यह स्थायी नहीं होगा। क्योंकि, अगर यह अभी स्थायी हो तो यह तुम्हें निम्नतर कर्म में ही बनाये रखेगा जैसा कि यह बहुतों को बनाये रखता है और परिवर्तन को रोक देगा या उसके होने में देर लगायेगा। अभी स्थायी अनुभूति के रूप में जिस चीज की तुम्हें आवश्यकता है वह यह है कि श्रीमां की शक्ति तुम्हारे अंदर सभी चीजों में इस अज्ञानपूर्ण चेतना और प्रकृति को अपनी दिव्य चेतना और प्रकृति में पलट देने के लिये कार्य कर रही है।

यही बात यन्त्र होने के सत्य के विषय में भी कही जा सकती है। यह ठीक है कि प्रत्येक चीज विश्वशक्ति का यंत्र है और इसलिये श्रीमां का भी यंत्र है। पर साधना का लक्ष्य है अचेतन और परिणामतः अपूर्ण यंत्र होने के बदले सचेतन और पूर्ण यंत्र बनना। हम केवल तभी सचेतन और पूर्ण यंत्र बन सकते हैं जब कि निम्न प्रकृति के अज्ञानपूर्ण धक्के के वशवर्ती होकर कार्य न

करें, बल्कि श्रीमां को आत्मसमर्पण करके तथा हमारे अंदर कार्य करनेवाली उनकी उच्चतर शक्ति का ज्ञान रखते हुए कार्य करें। अतएव इस विषय में भी तुम्हारा अंतर्ज्ञान पूर्ण रूप से ठीक था।

पर यह सब एक दिन में ही नहीं किया जा सकता। अतएव इसके लिये उत्सुक या बेचैन न होने में तुम एक बार फिर ठीक ही उतरे। माताजी की शक्ति कार्य करेगी और अपने निजी समय पर परिणाम उत्पन्न करेगी, बशर्ते कि हम सब कुछ उन्हें अर्पित कर दें, अभीप्सा करें तथा सजग रहें, सब समय उन्हें स्मरण करते और पुकारते रहें, तथा उनकी रूपान्तरकारिणी शक्ति के कार्य के मार्ग में जो कुछ आ खड़ा हो उसका चुपचाप त्याग करते रहें।

इस बात के विषय में तुम्हारी दूसरी राय पहली की अपेक्षा कहीं अधिक समुचित दृष्टिकोण से आयी थी। यह कहना कि "वास्तव में देखा जाये तो कार्य करना मेरा काम नहीं है, अतएव मुझे चिंता करने की आवश्यकता नहीं," बहुत अधिक कहना है—जहांतक हमें अभीप्सा करना, अपने-आपको अर्पित करना, श्रीमां की क्रिया को स्वीकृति देना, अन्य सभी चीजों का त्याग करना तथा अधिकाधिक आत्मसमर्पण करना है वहांतक तो हमें करना ही है। बाकी चीजें यथासमय कर दी जायेंगी, चिंतित या अवसन्न या अधीर होने की कोई आवश्यकता नहीं।

१३-७-१९३५

*

सबसे पहले हमें अपनी इच्छा को श्रीमां की इच्छा के साथ युक्त कर देना चाहिये और यह समझना चाहिये कि यह केवल यंत्र है और वास्तव में इसके पीछे विद्यमान केवल श्रीमां की इच्छा ही फल प्रदान कर सकती है। उसके बाद जब हम अपने भीतर कार्य करनेवाली श्रीमाताजी की शक्ति के विषय में पूर्ण रूप से सचेतन हो जाते हैं तब व्यक्तिगत इच्छा का स्थान भागवत इच्छा ले लेती है।

१५-७-१९३५

*

केवल एक साधारण मनोभाव ही नहीं होना चाहिये, बल्कि प्रत्येक कर्म माताजी को अर्पित होना चाहिये जिसमें कि वह मनोभाव सब समय सजीव बना रहे। काम के समय ध्यान नहीं होना चाहिये, क्योंकि वह हमारे ध्यान को कर्म से

हटा देगा; परंतु जिन 'एक' को तुम अपना कर्म अर्पित करते हो उनका सतत स्मरण अवश्य बना रहना चाहिये। यह केवल प्राथमिक प्रक्रिया है; क्योंकि जब तुम निरंतर अपने भीतर एक शांत सत्ता का बोध बनाये रख सकोगे, भागवत सान्निध्य के बोध में एकाग्र हुए रहोगे और उसके साथ ही साथ ऊपरी मन काम करता रहेगा, अथवा जब बराबर यह अनुभव करना आरंभ करोगे कि श्रीमां की शक्ति ही कार्य कर रही है और तुम केवल एक प्रणाली या यंत्र हो, तब स्मरण के स्थान पर कर्म में योग की, दिव्य एकत्व की एक सहज-स्वाभाविक सतत अनुभूति आरंभ हो जायेगी।

*

प्रत्येक व्यक्ति माताजी के अंदर है, परंतु सबको इस विषय में—केवल कर्म के विषय में ही नहीं—सचेतन होना चाहिये।

१-४-१९३५

*

क्या यह सच है कि व्यक्ति को अनुभव करना चाहिये कि भागवत उपस्थिति ही उसे चलाती है और उसके लिये सब कुछ करती है? क्या भगवती माता के साथ एकत्व प्राप्त किये बिना उसे (उपस्थिति को) अनुभव करना संभव है?

नहीं, यह अनुभव करना कि भागवत उपस्थिति तुम्हारे ऊपर या अंदर है और तुम्हें चला रही है, अपने-आपमें माताजी के साथ एकत्व ही है।

१४-७-१९३३

*

आज मुझे लगा मानों मुझसे भिन्न कोई और मेरे कार्य कर रहा हो। निःसंदेह मैं वहां था पर पृष्ठभूमि में। क्या वह माताजी की शक्ति ही नहीं थी जो मुझे समग्र रूप से अपने अंदर ले लेने का यत्न कर रही थी?

ऐसा कहना अत्युक्तिपूर्ण है। जो तुमने कहा है उसका अर्थ इतना ही है कि तुम्हें सभी कार्यों के पीछे अवस्थित वैश्व शक्ति की कोई झांकी मिली।

२-६-१९३४

*

अपने संकल्प को माताजी के संकल्प के साथ एक कैसे किया जा सकता है?

अपनी चेतना को माताजी की चेतना के साथ सतत सम्पर्क में रखकर अपनी इच्छाशक्ति को माताजी की इच्छाशक्ति के साथ एक किया जा सकता है।

२४-६-१९३३

*

माताजी की चेतना के साथ "अपनी चेतना का सतत संपर्क स्थापित करने" से आपका क्या मतलब है, जिसके विषय में आपने कहा है कि वह उनकी इच्छाशक्ति के साथ एकत्व के लिये आवश्यक है? उसका मतलब मानसिक संपर्क से है या आंतरात्मिक से?

उसका तात्पर्य उस संपूर्ण संपर्क से है जिसका आधार हो चैत्य (आंतरात्मिक) संपर्क।

२५-६-१९३३

*

मेरा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दर्शाता है कि माताजी को अपने अंदर सहज-स्वाभाविक रूप से काम करने देना हम साधकों के लिये सदा संभव नहीं होता। क्योंकि प्रायः ही हमारे अंदर की कोई चीज उनसे किनारा करती है और उनके प्रवेश के सभी द्वार बंद कर देती है। मैं समझता हूं सर्वोत्तम मार्ग होगा अपनी संकल्पशक्ति का विकास करना, जिससे कि कोई चीज द्वारों को फिर से खोलने में हमारी सहायता करने के लिये वहां सदा उपस्थित रहे। मेरा मतलब यहां प्राणिक या मानसिक ढंग के संकल्प से नहीं बल्कि सच्ची संकल्प-शक्ति से है। क्या आप कृपा करके इस विषय पर प्रकाश डालेंगे कि उसे कैसे विकसित किया जाये?

उसे विकसित करने के मार्ग हैं (१) पीछे की ओर स्थित उस सचेतन शक्ति से सज्ञान होना जो मन आदि का प्रयोग करती है। (२) अभ्यास के द्वारा उस शक्ति को उसके लक्ष्य की ओर परिचालित करना सीखना। मैं नहीं समझता

कि तुम इन दोनों उपायों में से किसी का भी तुरंत अनुसरण करना आसान पाओगे—सर्वप्रथम तुम्हें आंतरिक चेतना में पहले की अपेक्षा अधिक गहरे निवास करना सीखना होगा।

१६-७-१९३४

माताजी की इच्छा का अनुसरण करने की शर्तें

माताजी की इच्छा का अनुसरण करने के लिये शर्तें हैं उनकी ओर ज्योति, सत्य और शक्ति के लिये मुड़ना और यह अभीप्सा करना कि कोई भी दूसरी शक्ति तुमपर प्रभाव न डाले या तुम्हें पथ न दिखाये, प्राण के अंदर कोई मांग न करना या कोई शर्त न रखना, सत्य को ग्रहण करने के लिये तैयार एक स्थिर मन बनाये रखना, पर उसीकी अपनी भावनाओं और रचनाओं पर आग्रह न करना,—अंत में, चैत्य पुरुष को जाग्रत् और सामने की ओर रखना जिससे कि तुम निरंतर एक संपर्क बनाये रख सको और सचमुच जान सको कि उनकी इच्छा क्या है, क्योंकि मन और प्राण भूल से अन्य प्रेरणाओं और सुझावों को भगवान् की इच्छा मान सकते हैं, पर चैत्य पुरुष जब एक बार जग जाता है तब वह कभी भूल नहीं करता।

अतिमानसिक रूपांतर होने के बाद ही पूर्ण पूर्णता प्राप्त करना संभव होता है; पर अपेक्षाकृत कुछ अच्छी क्रिया का होना निम्नतर स्तरों पर भी संभव है अगर कोई भगवान् के साथ संस्पर्श बनाये रखे और अपने मन, प्राण और शरीर में सावधान, जाग्रत् और सचेतन रहे। इसके अतिरिक्त, यह एक ऐसी अवस्था है जो तैयारी करानेवाली है और परम मुक्ति के लिये प्राय: अनिवार्य है।

दिव्य जीवन का आधार

पूर्ण रूप से सच्चा होने का मतलब है एकमात्र दिव्य सत्य की कामना करना, भगवती माता को अधिकाधिक आत्मसमर्पण करना, इस एक अभीप्सा से भिन्न अन्य सभी व्यक्तिगत मांगों और कामनाओं का त्याग करना, जीवन के प्रत्येक कर्म को श्रीभगवान् के चरणों में उत्सर्ग कर देना और कर्म को भगवद्दत्त कर्म समझकर करना तथा उसमें अहंकार को न आने देना। यही दिव्य जीवन का आधार है।

कोई भी आदमी तुरत ऐसा नहीं बन सकता; पर, कोई यदि बराबर अभीप्सा करे और सच्चे हृदय तथा सत्य-संकल्प के साथ निरंतर भागवत शक्ति की सहायता की पुकार करे तो वह अधिकाधिक इस चेतना में वर्धित होगा।

कर्मयोग की सच्ची चेतना

उसे अपना कार्य करते रहना चाहिये और समुचित चेतना में रहकर अन्य सभी चीजों को करना चाहिये, वह जो कुछ भी करे उसे माताजी को समर्पित करना चाहिये और उनके साथ अपना आंतर संस्पर्श बनाये रखना चाहिये। इस भाव के साथ और इस चेतना में रहकर किये गये सभी कर्म कर्मयोग बन जाते हैं और उसकी साधना का अंग माने जा सकते हैं।

*

कर्म में जो कुछ तुमने पाया और बनाये रखा वह वास्तव में कर्मयोग की सच्ची और मौलिक चेतना है—ऊपर से सहारा देती हुई शांत-स्थिर चेतना और ऊपर से कार्य करती हुई शक्ति तथा उसके साथ भक्ति जो यह अनुभव करती है कि यह माताजी की चेतना ही है जो उपस्थित और क्रियाशील है। अब तुम अनुभव द्वारा जान गये हो कि कर्मयोग का रहस्य क्या है।

१५-९-१९३६

कर्म में समुचित मनोभाव

केवल अपनी आंतरिक एकाग्रता में ही नहीं, बल्कि अपने बाह्य कार्यों और गतिविधियों में भी तुम्हें यथार्थ मनोभाव ग्रहण करना चाहिये। अगर तुम ऐसा करो और प्रत्येक चीज को माताजी के पथप्रदर्शन में छोड़ दो तो तुम देखोगे कि कठिनाइयां कम हो रही हैं और उन्हें बहुत अधिक आसानी से पार किया जा रहा है तथा सभी बातें धीरे-धीरे आसान होती जा रही हैं।

अपनी क्रिया तथा अपने कर्मों में तुम्हें ठीक वही करना चाहिये जो तुम ध्यान में करते हो। श्रीमां की ओर उद्घाटित होओ, उन्हें श्रीमां के पथप्रदर्शन में छोड़ दो, शांति, सहारा देनेवाली शक्ति और संरक्षण को पुकारो तथा, इसलिये कि वे कार्य कर सकें, उन सभी अशुभ प्रभावों का त्याग करो जो

विपरीत, असावधान या अचेतन गतियां उत्पन्न करके उनके रास्ते में बाधा खड़ी कर सकते हैं।

इस सिद्धांत का अनुसरण करो और तुम्हारी सारी सत्ता शांति के अंदर तथा आश्रयदात्री दिव्य शक्ति और ज्योति के अंदर एक—अविभक्त सत्ता—बन जायेगी, एक शासन के अधीन हो जायेगी।

*

तुम्हारे लिये बस सत्य यही है कि तुम भगवान् को अपने अंदर अनुभव करो, माताजी की ओर उद्‌घाटित होओ और तबतक भगवान् के लिये कार्य करते रहो जबतक तुम अपने सभी कार्यों में भगवती माता को अनुभव न करने लगो। यह चेतना रहनी ही चाहिये कि तुम्हारे हृदय में भागवत उपस्थिति विद्यमान है और तुम्हारे कार्यों में भागवत पथप्रदर्शन प्राप्त हो रहा है। यदि चैत्य पुरुष पूर्ण रूप से जाग्रत् हो तो वह इसे सहज ही, तेजी से और गहराई के साथ अनुभव कर सकता है; और यदि चैत्य पुरुष एक बार इसे अनुभव कर ले तो यह फिर मनोमय और प्राणमय स्तरों में भी फैल सकता है।

*

मांगें पेश नहीं करनी चाहियें; तुम माताजी से जो कुछ अपने-आप पाते हो वह तुम्हें सहायता करता है; जो कुछ तुम मांगते हो या माताजी पर लादने की चेष्टा करते हो वह उनकी शक्ति से खाली होगा ही।

माताजी प्रत्येक व्यक्ति के साथ उसकी सच्ची आवश्यकता (वह स्वयं अपनी कल्पना के अनुसार जिसे आवश्यकता मान ले वह नहीं), साधना में उसकी प्रगति और उसकी प्रकृति के अनुसार अलग-अलग रूप में व्यवहार करती हैं।

तुम्हें जो शक्ति पाने की आवश्यकता है उसे प्राप्त करने का तुम्हारे लिये सबसे अधिक फलदायी मार्ग है सचेतन और सावधान होकर काम करना, ठीक-ठीक उसे संपन्न करने में किसी चीज को बाधा न डालने देना। अगर तुम ऐसा करो और उसके साथ ही साथ अपने कर्म में माताजी की ओर खुले रहो तो तुम अधिक सतत रूप में कृपा ग्रहण करने लगोगे और उनकी शक्ति को अपने द्वारा काम करते हुए अनुभव करने लगोगे; और इस तरह सर्वदा उनकी उपस्थिति को अनुभव करते हुए निवास करने में समर्थ होगे। इसके विरुद्ध, यदि तुम अपनी मनमौजों या कामनाओं को अपने कार्य में हस्तक्षेप करने दो अथवा असावधान

रहो और उपेक्षा करो तो तुम उनकी कृपाशक्ति के प्रवाह को बाधा पहुंचाओगे और अपने अंदर उदासी, बेचैनी तथा अन्य विजातीय शक्तियों के घुस आने के लिये अवकाश प्रदान करोगे। इस साधना की धारा में प्रवेश करने के लिये कर्म के द्वारा योग करना सबसे आसान और अत्यंत फलप्रद मार्ग है।

८-३-१९३०

*

अगर अक्षमता, तामसिकता और निष्क्रियता को स्वीकार किया जाये तो अत्यंत विशुद्ध भौतिक और यांत्रिक कार्य भी समुचित ढंग से नहीं किया जा सकता। इलाज यह नहीं है कि तुम अपने को यंत्रवत् होनेवाले कार्य में आबद्ध कर दो, बल्कि यह है कि तुम अक्षमता, निष्क्रियता और तामसिकता का त्याग करो और उन्हें दूर फेंक दो तथा माताजी की शक्ति की ओर अपने को खोल दो। अगर मिथ्याभिमान, महत्त्वाकांक्षा और आत्मप्रतारणा तुम्हारे रास्ते में आ खड़ी हों तो उन्हें अपने से दूर फेंक दो। अगर तुम उनके विलुप्त होने के लिये महज राह देखते रहो तो उन सब चीजों से छुटकारा नहीं पाओगे। अगर तुम चीजों के घटित होने की प्रतीक्षा ही करो तो फिर कोई कारण नहीं कि वे बिलकुल ही घटित हों। अगर अक्षमता और दुर्बलता ही बाधा डालती हों तो भी, जैसे-जैसे मनुष्य सच्चे रूप में और अधिकाधिक श्रीमां की शक्ति की ओर खुलता जायेगा, वैसे-वैसे उसे काम के लिये आवश्यक शक्ति-सामर्थ्य और क्षमता मिलती रहेगी और वे आधार में बढ़ती रहेंगी।

*

सच्ची चेतना में रहने का लाभ यह है कि तुम्हें सच्ची चेतना प्राप्त होती है और उसके संकल्प के श्रीमां के संकल्प के साथ सुसमंजस होने के कारण तुम परिवर्तन लाने के लिये श्रीमां की शक्ति को पुकार सकते हो। जो लोग मन और प्राण में निवास करते हैं वे यह करने में उतने समर्थ नहीं होते; उन्हें अधिकांश में अपने व्यक्तिगत प्रयास का उपयोग करने के लिये बाध्य होना पड़ता है और चूंकि मन और प्राण की जानकारी, संकल्प और शक्ति विभक्त और अपूर्ण होती हैं, उनके द्वारा किया हुआ कार्य भी अपूर्ण होता है और अंतिम नहीं होता। केवल अतिमानस में ही ज्ञान, संकल्प और शक्ति सर्वदा एक अभिन्न गति होती है और स्वभावतः ही फलप्रद होती है।

*

काम के समय मैं बराबर ही माताजी के संस्पर्श में रहता हूं। मुझे केवल उनकी याद ही नहीं रहती, बल्कि काम के अंदर उनके साथ संपर्क बना रहता है। उनकी शक्ति निरंतर आधार में बहती रहती है और कार्य अपने-आप संपन्न होता है, पर होता है तेजी से, पूर्ण रूप से, बिना किसी हिचकिचाहट के—बिना किसी व्यक्तिगत दुश्चिंता और उत्तरदायित्व के; बल्कि उनके स्थान पर, अब पूरा विश्वास, निश्चयता, शक्ति और अचंचलता विद्यमान हैं। मैं समझता हूं कि यदि मैं इस मनोभाव के साथ कार्य कर सकूं तो वह पूर्ण, निर्दोष और माताजी के बच्चे का कार्य बन जायेगा, एक अहंकारपूर्ण मनुष्य का नहीं। कृपया मुझे बताइये कि मेरी बात ठीक है या नहीं।

हां, यह बहुत अच्छी प्रगति है और कर्म के लिये दिव्य शक्ति का ठीक-ठीक उपयोग करने का पहला कदम है।

*

"योग-समन्वय" और "मातृवाणी" दोनों में मैंने पढ़ा है कि प्रत्येक कार्य, चेष्टा, विचार और शब्द अर्पण-रूप होना चाहिये। चाहे यह कठोर रूप से मानसिक प्रयत्न ही हो जिसमें हृदय की भक्ति न हो जैसा कि यह शुरू-शुरू में हो सकता है, फिर भी यदि प्रयत्न सच्चा हो तो वह निश्चित रूप से भक्ति की ओर ले जायेगा। भ्रमण या भोजन-जैसे थोड़े-बहुत यांत्रिक ढंग के कार्यों में यह अनुशासन सर्वथा संभव है, पर जहां कार्य में मानसिक एकाग्रता की आवश्यकता होती है, जैसे पढ़ने-लिखने में, वहां यह लगभग असंभव ही प्रतीत होता है। यदि चेतना को स्मरण में लगे रहना पड़े तो ध्यान बंट जायेगा और काम ठीक ढंग से संपन्न नहीं होगा।

इसका कारण यह है कि लोग ऊपरी मन में निवास करते हैं और उसी के साथ एक हुए रहते हैं। जब कोई अधिक भीतर निवास करता है तो केवल उपरितलीय चेतना ही कार्यव्यस्त रहती है और व्यक्ति उसके पीछे एक अन्य, निश्चल-नीरव और समर्पित चेतना में स्थित रहता है।

*

क्या यह चेतना केवल अभीप्सा से आती है अथवा क्या इसे व्यक्ति एक मानसिक अनुशासन का अनुसरण करके प्राप्त कर सकता है?

व्यक्ति आरंभ तो मानसिक प्रयत्न से ही करता है। आगे चलकर एक आंतर चेतना गठित हो जाती है जिसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह सदा माताजी का चिंतन कर रही हो।

*

कार्य को माताजी के प्रति अर्पित करने के दो तरीके हैं : एक है माताजी के चरणों में कार्य को उसी तरह भेंट करना जिस तरह कोई फूल चढ़ाता है; दूसरा है अपने व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से पीछे खींच लेना और यों अनुभव करना मानों व्यक्ति जो-जो भी कार्य करता है उन सबको वे ही कर रही हों। पहले तरीके में कार्य करनेवाले में और माताजी में द्वैत-भाव है; पर दूसरे में अंतरंग घनिष्ठता और एकत्व है। इन दो तरीकों में से कौन-सा साधना के लिये अधिक अच्छा है?

यह पूछने की जरूरत ही नहीं कि कौन-सा अच्छा है, क्योंकि ये एक-दूसरे को बहिष्कृत नहीं करते। मन ही इन्हें परस्पर-विरोधी समझता है। चैत्य पुरुष कार्य को अर्पित कर सकता है जब कि प्रकृति 'शक्ति' के प्रति प्रतिरोध-रहित बनी रहती है (क्योंकि अहंभाव मिट गया या पीछे हट गया होता है) और वह माताजी की शक्ति को कार्य करती हुई अनुभव करती है तथा अपने अंदर उनकी उपस्थिति को भी।

५-११-१९३८

*

जब कोई कार्य करता है तो वह अभीप्सा करता है कि उचित समय आने पर माताजी की शक्ति उसके कार्य को अपने हाथ में ले ले। जब व्यक्ति काम न कर रहा हो तब उसे किस चीज की अभीप्सा करनी चाहिये?

उसे अभीप्सा करनी चाहिये कि माताजी की शक्ति क्रिया करके समुचित क्रमिक अवस्थाओं के द्वारा उच्चतर चेतना को नीचे उतार लाये। यह भी कि मेरा आधार अधिकाधिक योग्य—शांत, निरहंकार और समर्पित बने।

कर्म में आत्मप्रभुत्व की आवश्यकता

माताजी तुम्हारे पुस्तक लिखने के काम को नामंजूर नहीं करतीं—बस वे यह नहीं चाहतीं कि तुम उसमें इतना डूब जाओ कि और कुछ भी न कर सको। जो कुछ तुम करो उसपर तुम्हारा अधिकार होना चाहिये, उसके द्वारा तुम्हें अधिकृत नहीं होना चाहिये। वे पूरी तरह से सहमत हैं कि तुम, यदि संभव हो तो, पुस्तक को पूरा कर डालो और अपने जन्मदिन पर उसे समर्पित कर दो। परंतु तुम्हें उसमें बह नहीं जाना चाहिये—तुम्हें उच्चतर वस्तुओं के साथ पूरा-पूरा संस्पर्श बनाये रखना चाहिये।

१-५-१९३४

सर्वांगपूर्ण सेवा की शर्तें

हृदय पर से अहंकार की छाप को मिटा दो और उसके स्थान पर माताजी के प्रेम को आ जाने दो। अपने व्यक्तिगत विचारों और निर्णय के प्रति होनेवाले समस्त आग्रह को अपने मन से दूर फेंक दो, तभी तुम माताजी को समझने के लिये ज्ञान प्राप्त करोगे। अपनी ही इच्छा में मत्त मत होओ, अपने कार्य को अहंकार द्वारा चालित मत होने दो, व्यक्तिगत अधिकार के लिये लोलुपता मत रहने दो, व्यक्तिगत पसंद के प्रति आसक्ति मत रखो, फिर देखोगे कि श्रीमां की शक्ति स्पष्ट रूप में तुम्हारे अंदर कार्य करने में समर्थ होगी और जो अक्षय शक्ति तुम मांगते हो उसे प्राप्त करोगे और तुम्हारी सेवा भी पूर्ण होगी।

२७-११-१९४०

*

हां, यह—अहंकार, क्रोध, व्यक्तिगत नापसंदगी, आत्माभिमानी वेदनशीलता इत्यादि पर विजय पाना—अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात है। कर्म केवल कर्म के लिये नहीं है, बल्कि वह निम्नतर व्यक्तित्व और उसकी प्रतिक्रियाओं से छुटकारा पाने तथा भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण साधित करने के लिये साधना का एक क्षेत्र है। स्वयं कर्म का जहांतक प्रश्न है, वह माताजी द्वारा निश्चित या स्वीकृत व्यवस्था के अनुसार ही किया जाना चाहिये। तुम्हें यह सर्वदा याद रखना चाहिये कि वह माताजी का कार्य है, तुम्हारा व्यक्तिगत कार्य नहीं है।

२३-३-१९३५

*

जब कभी तुम्हारे सामने ये परिस्थितियां और अनुभव आयें, मैं पहले जो कुछ लिख चुका हूं महज उसीको दुहरा सकता हूं। काम को छोड़ना कोई समाधान नहीं है—सच पूछो तो कर्म के द्वारा ही मनुष्य यौगिक आदर्श के विरोधी, अहंभाव के अनुभवों एवं गतिविधियों को पहचान सकता और धीरे-धीरे उनसे मुक्त हो सकता है।

कर्म स्वयं अपने लिये नहीं बल्कि माताजी के लिये किया जाना चाहिये, —इसी तरह मनुष्य चैत्य पुरुष की वृद्धि को प्रोत्साहन देता है और अहं को पार करता है। इसकी पहचान है अभिमान या आग्रह या व्यक्तिगत रुचि या सम्मान की भावना के बिना माताजी का दिया हुआ काम करना—अहंकार, आत्मसम्मान या व्यक्तिगत पसंद को आघात पहुंचानेवाली किसी चीज से आहत न होना।

कर्म के द्वारा जो आदर्श साधक के सामने रखा गया है वह ऊंचा और महान् है और उसे एकाएक प्राप्त करना संभव नहीं, पर धीरे-धीरे उसमें वर्धित होना संभव है यदि मनुष्य उस आदर्श को—भगवती माता के कार्य के लिये निःस्वार्थ और पूर्ण संयत यन्त्र बनने के आदर्श को—सदैव अपने सामने रखे।

२८-९-१९३३

निर्वैयक्तिक कार्यकर्ता

साधारणतया निर्वैयक्तिक होने का अर्थ है अहंकेन्द्रित न होना, चीजों का असर स्वयं तुमपर कैसे पड़ता है उसकी दृष्टि से उन्हें न देखना, बल्कि उनके अंदर जो चीजें हैं उन्हें देखना, निष्पक्ष होकर विचार करना, स्वयं अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण या अहंकारपूर्ण लाभ या अहंजन्य भावना या बोध के द्वारा नहीं, वरन् चीजों के अभिप्राय के द्वारा या 'चीजों के परम प्रभु' की इच्छा के द्वारा जिस बात की मांग की जाये उसे करना। कार्य में वही करना चाहिये जो कार्य के लिये सबसे उत्तम हो, अपने निजी सम्मान या सुविधा का ख्याल नहीं करना चाहिये, कार्य को स्वयं अपना नहीं बल्कि माताजी का समझना चाहिये, उसे नियम, अनुशासन, निर्वैयक्तिक प्रबन्ध के अनुसार, यहांतक कि यदि अवस्थाएं सबसे उत्तम रूप में करने के लिये अनुकूल न हों तो उस समय की अवस्थाओं के अनुसार करना चाहिये। निर्वैयक्तिक कार्यकर्ता अपने पूरे सामर्थ्य, उत्साह और श्रमशीलता को कर्म में लगा देता है, पर अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं, मिथ्याभिमान और आवेगों को नहीं लगाता। वह हमेशा एक ऐसी चीज को

अपनी दृष्टि में रखता है जो उसके तुच्छ व्यक्तित्व से अधिक महान् है और उसके प्रति जो उसकी भक्ति या आज्ञानुवर्तिता है, वही उसके जीवन को परिचालित करती है।

२९-६-१९३५

*

प्रत्येक "आंतरिक संकेत" को ऐसा मानना खतरनाक होगा कि वह मानों माताजी से आया हुआ कर्म का संकेत या प्रारम्भ हो। जो कुछ आंतरिक संकेत मालूम होता है वह कहीं से भी, अपने-आपको चरितार्थ करने की चेष्टा करनेवाली किसी भी अच्छी या बुरी शक्ति से आ सकता है।

चाहे कर्म स्वयं माताजी से ही क्यों न आया हो फिर भी उसके विषय में साधक में अहंकार रह सकता है। यन्त्र होने का अहंकार ऐसी चीजों में से एक है जिनसे योग में विशेष रूप से सावधान रहना चाहिये।

जब मनुष्य काम करता है तब साधारणतया काम करनेवाली शक्ति का प्रवेग और उसे करने तथा उसे पूरा कर डालने की धुन या उसे करने का सुख पर्याप्त मात्रा में होता है और मन अन्य किसी चीज का चिंतन नहीं करता। उसके बाद "इसे मैंने किया" का बोध आ उपस्थित होता है। परंतु कुछ लोगों में स्वयं काम करते हुए भी अहंकार सक्रिय रहता है।

३-११-१९३५

*

यदि मैं केवल माताजी के लिये काम करूं तो अहं के हस्तक्षेप का अर्थ होगा कि वह बाहर से आता है। क्योंकि मैं अपने अहं को साथ रखकर केवल माताजी के लिये ही कार्य नहीं कर सकता।

बेशक यह एक रास्ता है। परंतु फिर भी मनुष्य को अहंकार से सावधान रहना चाहिये। जो लोग सच्चे दिल से ऐसा समझते हैं कि वे केवल माताजी का कार्य कर रहे हैं वे भी बिना जाने अहंभाव के साथ आसक्त होते हैं।

४-४-१९३६

कर्म की कठिनाइयों से लाभ

मैं तुम्हारे संकल्प से प्रसन्न हूं। यदि मनुष्य इस विषय में समुचित मनोभाव ग्रहण करे तो, कर्म में चाहे जितनी भी कठिनाइयां क्यों न उठें, उनसे वह अपनी समता को गहरा बनाकर उतना ही अधिक लाभ उठा सकता है। तुम्हें इस विषय में सहायता ग्रहण करने के लिये अपने-आपको खुला भी रखना चाहिये, क्योंकि प्रकृति को बदलने के लिये माताजी से बराबर ही सहायता आती रहेगी।

२९-९-१९३५

*

अपने को दुःखित या निरुत्साहित मत होने दो। दुर्भाग्यवश मनुष्यों को एक-दूसरे के प्रति कठोर होने का अभ्यास पड़ गया है। अगर तुम अपना काम पूरी सच्चाई के साथ करो तो माताजी संतुष्ट होंगी और बाकी चीजें पीछे स्वयं आती रहेंगी।

*

तुम्हें 'अ' के चट गर्म हो जाने का ख्याल नहीं करना चाहिये। सर्वदा याद रखो कि तुम माताजी का कार्य कर रहे हो, और अगर तुम कार्य करते हुए माताजी को स्मरण कर सको तो माताजी की कृपा तुम्हारे साथ रहेगी। कार्यकर्ता के लिये यही समुचित भाव है, और यदि तुम इस भाव में कार्य करो तो शांत आत्मदान का भाव उत्पन्न होगा।

१-३-१९३३

माताजी के साथ आंतर संपर्क रखते हुए काम करना

तुम्हें अधिक दृढ़ता के साथ अन्तःकरण में अपने-आपको एकत्र करना होगा। यदि तुम निरंतर अपने को छितराये रखो, आंतरिक क्षेत्र से बाहर चले जाओ तो तुम साधारण बाहरी प्रकृति की तुच्छताओं तथा जिन प्रभावों की ओर वह खुली होती है उनके अंदर सर्वदा विचरण करते रहोगे। अंतर में रहना और सदा भीतर से, निरन्तर माताजी के संपर्क में रहते हुए कार्य करना सीखो। सर्वदा और पूर्ण रूप से ऐसा करना आरंभ में कठिन हो सकता है, पर कोई

यदि उसमें लगा रहे तो यह किया जा सकता है—और इसी मूल्य पर, उस दृढ़ता को सीखकर ही मनुष्य योग में सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

५-६-१९३४

*

जब बाहर चीजें अस्तव्यस्त हो जायें तब तुम्हें तुरत इस नियम पर अपने मन को जमा देना चाहिये कि बाहरी रूपों को देखकर फैसला करना उचित नहीं है—अपने भीतर माताजी की ज्योति के सामने सब कुछ रख देना चाहिये और यह विश्वास रखना चाहिये कि सब स्पष्ट हो जायेगा।

माताजी कहती हैं कि यदि किसी समय तुम काम का बहुत अधिक बोझ अनुभव करो तो तुम्हें तुरंत उनसे कहना चाहिये जिससे कि वे देख सकें कि क्या किया जा सकता है।

१६-९-१९३३

कर्म में माताजी की शक्ति की ओर उद्घाटन और विश्राम की आवश्यकता

शरीर की साधारण अवस्था में अगर तुम बहुत अधिक काम करने के लिये शरीर को बाध्य करो तो प्राण-शक्ति का सहारा लेकर वह उसे कर सकता है। पर ज्यों ही काम समाप्त हो जाता है त्यों ही प्राणशक्ति हट जाती है और तब शरीर थकावट अनुभव करता है। अगर ऐसा बहुत अधिक और बहुत लम्बे समय तक किया जाये तो थकावट के कारण स्वास्थ्य और शक्ति का ह्रास हो सकता है। तब स्वस्थ होने के लिये विश्राम की आवश्यकता होती है।

परंतु मन और प्राण को यदि माताजी की शक्ति की ओर खुलने का अभ्यास हो जाये तो फिर वे शक्ति का सहारा प्राप्त करते हैं और यहांतक कि उससे एकदम भर भी सकते हैं—उस समय शक्ति काम करती है और पहले या पीछे शरीर कोई दबाव या थकावट नहीं अनुभव करता। परंतु उस अवस्था में भी, जबतक स्वयं शरीर भी नहीं खुलता और शक्ति को आत्मसात् करने और बनाये रखने में समर्थ नहीं होता, तबतक कर्म में बीच-बीच में पर्याप्त विश्राम करना एकदम आवश्यक है। अन्यथा, शरीर यद्यपि बहुत दीर्घ कालतक चलता रह सकता है, फिर भी अंत में उसके भंग हो जाने का खतरा बना रह सकता है।

जब पूरा प्रभाव विद्यमान हो और मन तथा प्राण में अनन्य श्रद्धा-विश्वास

और पुकार हो तो शरीर को बहुत लम्बे समय तक बनाये रखा जा सकता है; परंतु मन या प्राण यदि अन्य प्रभावों के द्वारा चंचल हो गये हों या जो शक्तियां माताजी की नहीं हैं उनकी ओर खुले हों तो फिर उससे एक मिली-जुली अवस्था उत्पन्न होगी और कभी तो शक्ति-सामर्थ्य मालूम होगी और कभी थकावट, निर्बलता या अस्वस्थता अथवा एक साथ ही दोनों की मिली-जुली अवस्था।

अंत में, यदि केवल मन और प्राण ही नहीं, वरन् शरीर भी खुला रहे और शक्ति को आत्मसात् कर सके तो वह बिना भंग हुए कार्य के अंदर असाधारण चीजें संपन्न कर सकता है। फिर भी, उस अवस्था में भी विश्राम की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि जिन लोगों में कर्म की प्रवृत्ति है उनसे हम आग्रह करते हैं कि वे श्रम और विश्राम के बीच समुचित समतोलता बनाये रखें।

थकावट से पूर्ण मुक्ति पाना संभव है, पर वह केवल तभी आती है जब कि पार्थिव चेतना में अतिमानसिक शक्ति के पूर्ण अवतरण के द्वारा शरीर के धर्म का ही संपूर्ण रूपांतर हो जाये।

*

यही बात आश्रम में शारीरिक काम करनेवालों में प्रतिदिन हुआ करती थी। कर्म के प्रति अनुराग रखते हुए वे अत्यधिक शक्ति और उत्साह के साथ काम करते और कुछ समय बाद जब थकावट अनुभव करते तो माताजी को पुकारते और उनमें एक प्रकार का विश्राम का बोध उत्पन्न होता तथा उसके साथ-ही-साथ या उसके बाद ही शक्ति की एक बाढ़-सी आ जाती जिससे दुगुना काम भी एकदम बिना थकावट या प्रतिक्रिया के पूरा हो जाता था। बहुतों में तो प्राण के अंदर स्वभावतः ही शक्ति के लिये पुकार थी जिससे कि वे ज्यों ही काम आरंभ करते त्यों ही शक्ति की बाढ़ को अनुभव करते और जबतक काम करना होता तबतक वह बाढ़ बनी रहती।

२६-३-१९३६

कर्म में प्राणशक्ति

कर्म में अनुभूत प्राणशक्ति से मत डरो। प्राणशक्ति भगवान् की एक बहुमूल्य देन है जिसके बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता—जैसा कि माताजी ने

प्रारंभ से ही सर्वदा जोर देकर कहा है; यह शक्ति इसलिये दी गयी है कि 'उनका' (भगवान् का) काम किया जा सके। मैं बहुत प्रसन्न हूं कि वह वापस आ गयी है और उसके साथ प्रसन्नता और आशा का भाव भी आ गया है। ऐसा ही होना उचित था।

१

श्रीमाताजी और आश्रम की कार्य-व्यवस्था

साधकों में माताजी की साधना

स्वभावतः ही, माताजी प्रत्येक साधक के अंदर साधना करती हैं—लेकिन यह साधक के उत्साह और ग्रहणशीलता से सीमित होती है।

४-१-१९३५

*

जिन चीजों को नीचे उतारना है उन्हें उतारने के विषय में माताजी के अपने निजी अनुभव हैं—परंतु जो कुछ साधक अनुभव करते हैं उसे भी उन्होंने बहुत पहले अनुभव किया था। पहले भगवान् जगत् के लिये साधना करते हैं और फिर दूसरों में साधना करते हैं।

१२-९-१९३४

*

मैंने कहा है कि पहले भगवान् जगत् के लिये साधना करते हैं और फिर जो कुछ नीचे उतारा गया है उसे वे दूसरों को देते हैं। उपलब्धियों और अनुभूतियों के बिना कोई साधना नहीं हो सकती। "प्रार्थनाएं"[१] माताजी की अनुभूतियों के रेकॉर्ड (Record—अभिलेख) हैं।

४-१-१९३५

*

आश्रम में तथा बाहर चैत्य संपर्क

निश्चय ही यह बिलकुल ठीक है कि दूर से भी चैत्य सम्पर्क बना रह सकता है और भगवान् देश से सीमित नहीं हैं, बल्कि सर्वत्र विद्यमान हैं। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक आदमी आश्रम में ही रहे अथवा शरीर से श्रीमां के समीप रहे और तभी वह आध्यात्मिक जीवन यापन कर सकता है या योग का अभ्यास

[१] श्रीमाताजी-लिखित 'प्रार्थना और ध्यान' नामक पुस्तक।

कर सकता है, आरंभिक अवस्थाओं में तो यह बिलकुल ही आवश्यक नहीं है। परंतु यह सत्य का केवल एक पक्ष है; इसके अलावा एक दूसरा पक्ष भी है, अन्यथा यह युक्तिसंगत सिद्धांत निकल आयेगा कि माताजी के यहां रहने की, अथवा आश्रम के होने की, या किसी भी आदमी के यहां आने की बिलकुल ही कोई आवश्यकता नहीं है।

चैत्य पुरुष सबके अंदर होता है, पर वह बहुत थोड़े लोगों में अच्छी तरह विकसित हुआ होता है, अपनी चेतना में अच्छी तरह गठित और सामने प्रमुख स्थान में होता है; अधिकतर लोगों में यह ढका होता है, प्रायः कुछ भी करने में असमर्थ होता है या केवल एक प्रभाव भर डालता है, इतना पर्याप्त सचेत या सबल नहीं होता कि आध्यात्मिक जीवन को सहारा दे सके।

इसी कारण आवश्यक है कि जो लोग इस सत्य की ओर आकर्षित हुए हैं वे यहां आकर रहें जिससे कि वे स्पर्श प्राप्त कर सकें और उस स्पर्श से चैत्य पुरुष का जागरण हो या उसकी तैयारी हो—यही उन लोगों के लिये फलप्रद चैत्य सम्पर्क स्थापित करने का प्रारम्भ है।

फिर इस कारण भी यह आवश्यक है कि बहुतों के लिये यहां रहना जरूरी है—अगर वे तैयार हों—जिससे कि सीधे प्रभाव के नीचे या समीप में रहकर वे अपने चैत्य पुरुष की चेतना को विकसित करें या गठित करें अथवा उसे सामने ले आयें। जब स्पर्श दे दिया जाता है और साधक का उतना विकास साधित हो जाता है जितना उस समय उसके लिये संभव होता है, तब वह बाहरी जगत् में वापस लौट जाता है और संरक्षण तथा पथ-प्रदर्शन के अधीन दूर रहकर भी सम्पर्क बनाये रखने एवं अपना आध्यात्मिक जीवन जारी रखने में समर्थ होता है। परंतु बाहरी जगत् के प्रभाव चैत्य सम्पर्क और चैत्य विकास के अनुकूल नहीं हैं, और यदि साधक पूरी तरह सावधान या एकाग्र न हो तो, कुछ समय बाद चैत्य सम्पर्क सहज ही टूट सकता या ढक जा सकता है और विरोधी क्रियाओं या प्रभावों के कारण चैत्य विकास धीमा हो सकता, अटक सकता और यहांतक कि न्यून भी हो सकता है। अतएव यह बात आवश्यक है और प्रायः आवश्यक अनुभूति होती है कि केंद्रीय प्रभाव के स्थान में वापस आया जाय जिससे कि सम्पर्क को दृढ़ बनाया जाये या फिर से प्राप्त किया जाये अथवा विकास को पुनः जारी किया जाये या नया अग्रगामी वेग प्रदान किया जाये। समय-समय पर ऐसे सामीप्य के लिये उठनेवाली अभीप्सा कोई प्राणगत कामना नहीं होती; यह केवल तभी प्राणगत कामना बन जाती है जब यह अहंकारपूर्वक हठ करती या किसी प्राणिक उद्देश्य के साथ मिल जाती

है, उस समय नहीं जब कि यह चैत्य पुरुष की शांत और गंभीर अभीप्सा होती है तथा इसमें कोई चिल्लाहट या चंचल बनानेवाला आग्रह नहीं होता।

यह बात तो है उन लोगों के लिये जिन्हें बुलाया नहीं गया है या जिन्हें आश्रम में केंद्रीय दिव्य शक्ति या उपस्थिति के सीधे दबाव के नीचे रहने के लिये अभीतक बुलाया नहीं गया है। जिन लोगों को इस प्रकार रहना ही चाहिये, वे लोग हैं जो एकदम आरंभ से ही बुलाये गये हैं या जो तैयार हो गये हैं या जिन्हें किसी-न-किसी कारणवश उस कार्य या सृष्टि का एक अंग बनने का अवसर दिया गया है जो यहां योग द्वारा तैयार की जा रही है। उन लोगों के लिये यहां के वातावरण में, सामीप्य में रहना अत्यंत आवश्यक है; उनके यहां से चले जाने का अर्थ होगा उस सुयोग का त्याग करना जो उन्हें दिया गया है, अपनी आध्यात्मिक भवितव्यता की ओर पीठ फेर देना। उन लोगों की कठिनाइयां बहुधा देखने में उन लोगों के संघर्ष से कहीं अधिक होती हैं जो बाहर रहते हैं, क्योंकि उनसे बड़ी चीज की मांग की जाती है और उनपर दबाव भी बड़ा होता है; परंतु उसी तरह उनको बड़ा-सा सुयोग भी प्राप्त है तथा विकास के लिये उनपर अधिक शक्ति तथा प्रभाव डाला जाता है एवं वह चीज भी दी जाती है जो वे अध्यात्मतः बन सकते हैं और अवश्य बनेंगे यदि वे अपने चुनाव और पुकार के प्रति सच्चे हों।

७-१०-१९३१

*

क्या माताजी के भौतिक सामीप्य का कोई विशेष फल होता है?

भौतिक स्तर पर साधना की परिपूर्णता के लिये यह अनिवार्य है। भौतिक और बाह्य सत्ता का रूपांतर उसके बिना नहीं हो सकता।

१८-८-१९३३

*

क्या बहुत अधिक दूरी पर भी—जैसे बम्बई या कलकत्ते में भी—करीब-करीब उसी रूप में माताजी का संपर्क और उनकी सहायता ग्रहण करना संभव है जैसे यहां आश्रम में संभव है?

सर्वत्र ही मनुष्य ग्रहण कर सकता है और अगर उसमें प्रबल आध्यात्मिक

चेतना हो तो वह बहुत प्रगति भी कर सकता है। परंतु अनुभव इस विचार का समर्थन नहीं करता कि दोनों में कोई भेद नहीं है या दोनों करीब-करीब एक-जैसे ही हैं।

१८-८-१९३३

आश्रम में भर्ती होने का निर्णय

तुम्हारे मन में इन लोगों या दूसरों को यहां ले आने की कोई इच्छा या बेचैनी नहीं होनी चाहिये। इन बातों का निर्णय एक ओर तो उनकी पुकार और योग्यता के द्वारा तथा दूसरी ओर माताजी की इच्छा से होना चाहिये।

२८-६-१९३६

भीतर से चुनाव

यदि तुम स्वयं अपने मन और प्राण के कारण चले जाने के लिये उत्सुक हो तो माताजी के लिये यह संभव नहीं है कि वे तुम्हें रहने के लिये कहें। स्वयं तुम्हारे अंदर से ही यह स्पष्ट संकल्प आना चाहिये कि यहां रहना है या बाहर।

२४-२-१९३२

उम्मीदवारी का काल

हां, अत्यंत निश्चित रूप से कुछ लिखना ठीक नहीं है। विशेषकर आजकल जैसी परिस्थितियों में माताजी लोगों को उम्मीदवार के रूप में स्वीकार करती हैं, वे उन्हें तत्काल कोई बड़ी आशाएं नहीं बंधातीं, बल्कि यह देखने के लिये प्रतीक्षा करती हैं कि वे किस प्रकार खुलते हैं। अगर वह अपनी अभीप्सा को (अपने जीवन में) सच्चा सिद्ध करे तो सब कुछ ठीक ही होगा।

२६-२-१९४३

माताजी द्वारा पूर्ण स्वीकृति

जब कोई आदमी माताजी के संरक्षण में योग करना आरंभ करता है तब क्या वह पूर्ण रूप से उनके द्वारा ग्रहण नहीं कर लिया जाता?

जबतक वह तैयार न हो जाये तबतक नहीं। सबसे पहले उसे माताजी को स्वीकार करना है और फिर अधिकाधिक अपना अहंभाव छोड़ना होता है। यहां ऐसे साधक भी हैं जो पग-पग पर विद्रोह करते हैं, माताजी का विरोध करते हैं, उनकी इच्छा का खण्डन करते हैं और उनके निर्णयों की टीका-टिप्पणी करते हैं। ऐसी अवस्थाओं में भला वे उन लोगों को पूर्ण रूप से कैसे ग्रहण कर सकती हैं?

२१-६-१९३३

*

क्या हमारे योग में गुरु, भगवान् और सत्य में वस्तुतः कोई भेद है? मैं तो यही समझता आ रहा हूं कि माताजी और आप केवल गुरु ही नहीं हैं, अपितु भगवान् भी हैं, और कि आपमें से कोई भी जो कुछ भी कहता है वह 'सत्य' का विधान है। तो फिर (अनुशासन-विषयक मेरे प्रश्न के उत्तर में) आप इन तीन भिन्न शब्दों का प्रयोग क्यों कर रहे हैं?

मैंने आध्यात्मिक जीवन और आज्ञाकारिता का साधारण नियम लिखा था। तुम्हें यह नियम जानना चाहिये तथा इस अवस्था में उसके विशेष उपयोग को भी जानना चाहिये। इसके अतिरिक्त, यहांपर बहुत-से लोग यह कहकर ही संतुष्ट हो जाते हैं कि "श्रीमाताजी भगवती हैं", पर वे उनकी आज्ञाओं का अनुसरण नहीं करते—दूसरे वास्तव में उन्हें भगवती के रूप में स्वीकार नहीं करते—वे उनसे ऐसा व्यवहार करते हैं मानों वे एक साधारण गुरु हों। मैं कह चुका हूं कि योग में आज्ञाकारिता का अर्थ क्या है, उससे अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता।

१३-६-१९३३

*

कल आपने माताजी के आदेशों की चर्चा की थी। वे क्या हैं? मैं उनपर

चलने का यत्न करना चाहता हूं।

उन्हें सर्वविदित समझा जाता है। तुम्हें ठीक कार्य करना तथा सचाई के साथ योग का अनुसरण करना होगा।

१४-६-१९३३

*

हमें बताया जाता है कि यदि साधक सच्चा (सत्यहृदय) हो तो माताजी उसमें अच्छे-से-अच्छा कार्य कर सकती हैं। परंतु इसका अभिप्राय क्या है?

सच्ची साधना का क्या अभिप्राय है? 'सच्चा' इस शब्द की माताजी द्वारा की हुई परिभाषा के अनुसार, इसका अर्थ है "केवल भागवत शक्तियों की ओर खुलना" अर्थात् अन्य सभी शक्तियों को, यदि वे आयें भी तो निकाल फेंकना।

२१-४-१९३६

माताजी की उपस्थिति के कारण आध्यात्मिक सम्भावना

निश्चय ही बहुत थोड़े-से लोग यह अनुभव करते हुए मालूम होते हैं कि उन्हें यहां किस बात की सम्भावना दी गयी है—जिस चैत्य और आध्यात्मिक उद्देश्य के लिये यह अभिप्रेत है उसके लिये इसका व्यवहार करने के बदले सब चीजें ही प्राण के मायाजाल या शरीर की तामसिकता के एक सुयोग में बदल दी गयी हैं।

७-३-१९३६

*

मैं किसी खास चीज की बात नहीं कह रहा था—बल्कि मैं उस सारी आध्यात्मिक सम्भावना की बात कह रहा था जो यहां माताजी की उपस्थिति के कारण मौजूद है। बहुत थोड़े-से लोग ही यह समझते हैं कि इसका अर्थ क्या है और जिन्हें इसकी थोड़ी-सी धारणा है वे भी बहुत थोड़ा-सा ही लाभ उठाते हैं और अपनी निम्नतर प्रकृति को अपनी प्रगति में रोड़ा अटकाने का अवसर देते हैं।

९-३-१९३६

*

क्योंकि यहां लोग माताजी की छत्रच्छाया में रह रहे हैं और मानव-जीवन के भारी कष्टों तथा दारुण विपत्तियों से बचे हुए हैं, अतः वे न-कुछ में से ही निराशाओं और दुःखद घटनाओं का ताना-बाना बुनने में लगे रहते हैं। प्राण अपनी शोक-वृत्ति का रस लेना, चीखना-चिल्लाना और रोना-कराहना चाहता है और यदि उसे ऐसा करने के लिये कोई अच्छा या बड़ा बहाना नहीं मिल पाता तो वह किसी बुरे या छोटे-से बहाने का ही उपयोग करेगा।

१-३-१९३६

योग में सफलता के लिये प्राण को रूपांतरित करने की आवश्यकता

मेरा विश्वास था कि जिन लोगों को यह योग करने के लिये पुकार आयी है वे सभी इसी जीवन में देर-सवेर भगवान् को प्राप्त कर लेंगे। परंतु मैंने किसी से सुना है : "निःसंदेह माताजी ने केवल उन्हीं को चुना है जिनमें यह योग करने की क्षमता है, पर वे लक्ष्य पर पहुंचेंगे तभी यदि उनका प्राण रूपान्तरित हो जाये। नहीं तो, उन्हें लक्ष्य की प्राप्ति अगले जन्म में होगी।" क्या यह बात ठीक है?

माताजी ने यह कभी नहीं कहा कि कोई चीज अगले जन्म में संपन्न होगी। यदि व्यक्ति को सफलता प्राप्त करनी है तो स्वभावतः ही प्राण को रूपांतरित करना होगा।

१५-१-१९३४

साधकों के माताजी को छोड़कर चले जाने के कारण

यह क्या बात है कि जो लोग एक स्पष्ट अभीप्सा और पुकार लेकर माताजी के पास आते हैं वे कुछ समय के बाद उनके पास से चले जाते हैं? कौन-सी चीज उन्हें यहां से ले जाती है?

विरोधी शक्तियों के सुझावों के कारण, अहंकार, स्वार्थपरता, महत्त्वाकांक्षा, काम-वासना, दंभ, लोभ या विरोधी शक्तियों द्वारा उठाये गये किसी अन्य प्राणिक आवेश के कारण उन्हें जाना पड़ता है।

*

क्या प्राणमय शक्तियां इतनी प्रबल होती हैं कि किसी व्यक्ति में स्पष्ट अभीप्सा और भागवत पुकार के होने पर भी वे उसे माताजी से दूर खींच ले जा सकती हैं?

प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक क्षण भगवान् की पुकार को अपनी सम्मति देने या न देने के लिये, निम्नतर प्रकृति या अपने अंतरात्मा का अनुसरण करने के लिये स्वतंत्र है।

*

क्या उनके पथ से चले जाने का अर्थ यह नहीं है कि वे अपने ज्ञान द्वारा यह निर्णय करने में असमर्थ थे कि भगवान् के लिये उनकी पुकार सच्ची थी या नहीं?

निर्णय करने की ये सब बातें बेमतलब हैं। तुम या तो पुकार को अनुभव करते हो या अनुभव नहीं करते और यदि तुम पुकार को अनुभव करते हो तो तुम कोई हिसाब-किताब किये बिना या खतरों को गिने बिना या यह पूछे बिना कि तुम योग्य हो या नहीं, उसका अनुसरण करते हो।

*

जब लोग साधना छोड़कर माताजी से दूर चले जाने की प्रवृत्ति को बहुत जोर से अनुभव करते हैं तब उनके लिये इस प्रवृत्ति का प्रतिकार करने और माताजी का सहारा दृढ़तापूर्वक पकड़े रहने का सबसे उत्तम उपाय क्या है?

यह समझना कि शैतान उन्हें भुलावे में डाल रहा है और उसकी न सुनना।

*

जो साधक आश्रम में बहुत दिनों तक रह चुके हैं वे क्या आश्रम छोड़ देने के बाद माताजी की कृपा को भूल सकते हैं?

कुछ लोग भूले हुए-से मालूम होते हैं।

*

क्या माताजी के अधीन साधना करने के लिये उनके वापस आने की कोई संभावना है?

यह व्यक्ति के ऊपर निर्भर करता है।

६-९-१९३३

*

जब एक बार चैत्य पुरुष पूरा जाग्रत् हो जाता है तब साधक के लिये यह संभव नहीं कि वह विद्रोह करे और चला जाये; यदि वह ऐसा करता है तो वह अपने अंतरात्मा को माताजी के पास छोड़ जाता है और उसकी केवल बाहरी सत्ता ही कुछ दिन अन्यत्र रहती है। परंतु यह अत्यंत दुःखदायी अवस्था है; या तो मनुष्य को वापस आना पड़ता है या जीवन यापन करना दूभर हो जाता है।

२०-११-१९३५

*

तुमने जो कुछ लिखा है वह बिलकुल ठीक है। जब कोई साधक चला जाता है तब यह कहना कि भगवान् हार गये एक मूर्खतापूर्ण बात है। अगर साधक अपनी निम्नतर प्रकृति को अपने ऊपर प्राधान्य स्थापित करने दे तो यह उसकी हार है, भगवान् की नहीं। साधक इसलिये यहां नहीं आता कि भगवान् को उसकी आवश्यकता है, बल्कि इस कारण आता है कि उसको भगवान् की आवश्यकता है। अगर वह आध्यात्मिक जीवन की शर्तों को पूरा करे और माताजी के पथ-प्रदर्शन के प्रति अपने-आपको दे दे तो फिर वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है, पर वह यदि अपनी शर्तों को रखना चाहे और भगवान् पर अपने निजी विचारों तथा अपनी निजी कामनाओं को लादना चाहे तो फिर सब प्रकार की कठिनाइयां ही आयेंगी। ठीक यही बात 'अ' और 'ब' तथा कई अन्य लोगों के विषय में हुई। चूंकि भगवान् उनके सामने नहीं झुकते इसलिये वे चले जाते हैं। परंतु यह भला भगवान् की हार कैसे हुई?

२७-५-१९३७

आश्रम में चिन्मयी शक्ति (चित्-तपस्) की क्रिया

जो बात मुझे अधिक महत्त्व की प्रतीत होती है वह है—यहां वस्तुएं कैसे कार्यान्वित की जाती हैं इसे समझाने का यत्न करना। वास्तव में ऐसे लोग बहुत कम हैं जो इसे समझते हैं और फिर जो इसे अनुभव करते हैं वे तो और भी विरले।

पहले से निर्णीत कोई मानसिक योजना, निश्चित प्रोग्राम या व्यवस्था तो यहां कभी भी, किसी समय भी नहीं रही। सारी-की-सारी वस्तु का जन्म, संवर्धन और विकास एक सजीव प्राणी की भांति चेतना की एक ऐसी क्रिया (चित्-तपस्) के द्वारा हुआ है जो निरन्तर चलती तथा बढ़ती रही है और प्रबल एवं दृढ़ होती रही है। जैसे ही चिन्मयी शक्ति जड़तत्त्व में उतरती और अपनी रश्मियां प्रसारित करती है, वह अपने को प्रकट और अभिव्यक्त करने के लिये उपयुक्त यन्त्रों की खोज करती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यन्त्र जितना अधिक खुला, ग्रहणशील और नमनीय होता है, परिणाम उतने अधिक अच्छे होते हैं। साधकों के अंदर और उनके द्वारा निर्विघ्न और सामंजस्यपूर्ण ढंग से कार्य करने के मार्ग में जो दो बाधाएं आती हैं वे ये हैं :

१. साधकों के पूर्वकल्पित विचार और मानसिक रचनाएं जो चिन्मयी शक्ति के कार्य और प्रभाव में रोड़े अटकाती हैं।

२. प्राण की पसंदगियां और उसके आवेग जो अभिव्यक्ति को विकृत और मिथ्या रूप दे देते हैं।

ये दोनों चीजें अहं की स्वाभाविक उपज हैं। यदि इन दो तत्त्वों का हस्तक्षेप न हो तो भौतिक रूप में मेरी मध्यस्थता की आवश्यकता नहीं होगी।

"माताजी को पसंद है", "माताजी को पसंद नहीं", इस कथन में जब तुम विश्वास नहीं करते तो तुम बिलकुल ठीक कर रहे होते हो : यह एक बिलकुल बचकानी व्याख्या है।

मुझे कार्यरत 'शक्ति' और 'चेतना' का स्पष्ट और सुनिश्चित प्रत्यक्षानुभव होता है, और जब भी यह 'शक्ति' अपने कार्य में विकृत हो जाती है या यह 'चेतना' तम से आवृत हो जाती है तो मुझे बीच में पड़कर क्रिया को संशोधित करना होता है। बहुत-से व्यक्तियों में सब प्रकार की वस्तुएं मिल-मिला जाती हैं और फिर वहां भी मुझे विकृत प्रतिरूप को शुद्ध वस्तु से पृथक् करने के लिये हस्तक्षेप करना पड़ता है।

अन्यथा सभी को कार्य करने की बड़ी भारी स्वतंत्रता दी गयी है, क्योंकि

'चिन्मयी शक्ति' अपने-आपको अगणित प्रकार से अभिव्यक्त कर सकती है और, अभिव्यक्ति की पूर्णता एवं समग्रता के हित, उनमें से किसी भी प्रकार या ढंग को पूर्वकल्पना के आधार पर ही बहिष्कृत नहीं कर देना चाहिये। चुनाव करने से पहले परख के लिये अवसर प्रायः ही दिया जाता है।

२२-८-१९३९

माताजी और आश्रम का अनुशासन

'अ' के कथनानुसार उसने कहा कि अनुशासन का अभाव ही भारत का सबसे बड़ा दोष है; न तो व्यक्ति और न व्यक्तियों के समुदाय ही अनुशासन मानते हैं। तो भला वह इतने से कारण से क्यों रो पड़ा कि उसे अपना हैंड-बैग उस स्थान पर नहीं रखने दिया गया जो स्थान उसके लिये अभिप्रेत नहीं था? मैं स्वयं उसके साथ इस बात पर सहमत नहीं हूं कि आश्रम में पूर्ण अनुशासन का पालन होता है; बल्कि, इसके विपरीत, यहां उसका बहुत अधिक अभाव है, बहुत अनियमितता, लड़ाई-झगड़ा और हठधर्मिता है। यहां अगर कुछ संगठन और सुव्यवस्था है तो उसे इन सब बातों के होते हुए भी माताजी स्थापित करने और बनाये रखने में समर्थ हुई हैं। वह संगठन और सुव्यवस्था सभी सामूहिक कार्यों के लिये आवश्यक है; बाहर के जिन लोगों ने आश्रम देखा है उन सब लोगों ने इस बात की प्रशंसा की है और इसके लिये आश्चर्य प्रकट किया है; यही कारण है कि बहुत से लोगों के द्वेषपूर्ण आक्रमण के होते हुए भी, जिनकी चलती तो आश्रम कभी का खतम हो चुका होता, आश्रम जीवित है। माताजी अच्छी तरह जानती थीं कि वे क्या कर रही हैं और जो काम उन्हें करना है उसके लिये क्या आवश्यक है।

अपने-आपमें अनुशासन विशेष रूप से पाश्चात्य वस्तु नहीं है; जापान, चीन और भारत-जैसे पूर्वीय देशों में एक समय में यह सर्वनियामक था और ऐसे ढंग से कठोर नियमों पर आधारित था जिसे पाश्चात्य लोग सहन नहीं करेंगे। सामाजिक रूप में हम चाहे जो भी आपत्तियां इस विषय में क्यों न उठाएं, यह यथार्थ तथ्य है कि इसने युग-युग में और समस्त परिवर्तनों के अंदर हिन्दू-धर्म और हिन्दू-समाज की रक्षा की है। राजनीतिक क्षेत्र में, इसके विपरीत, अनुशासनहीनता, व्यक्तिस्वातंत्र्यवाद और कलह था; यह भी एक कारण है जिससे भारत का पतन हुआ और वह दासता का शिकार हुआ। संगठन और व्यवस्था लाने की चेष्टा तो की गयी पर वह स्थायी होने में असफल

रही। आध्यात्मिक जीवन के अंदर भी भारत ने केवल ऐसे स्वतंत्र परिव्राजक संन्यासियों को ही नहीं उत्पन्न किया जो अपने-आप अपना कानून थे, बल्कि नियम-कानूनों और व्यवस्थापक समितियों से युक्त संन्यासियों के संघ बनाने की प्रेरणा का भी अनुभव किया और कठोर अनुशासन रखनेवाले मठों की स्थापना भी हुई। जब कि ऐसी चीजों के बिना कोई भी काम सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता—यहांतक कि व्यक्तिगत कार्यकर्ता को भी, जैसे कलाकार को, अपने कार्य में दक्ष बनने के लिये एक कठोर अनुशासन के भीतर से गुजरना होता है—तब भला, माताजी ने जिस अत्यंत कठिन कार्य को अपने हाथों में लिया है उसके लिये यदि वे अनुशासन पर जोर देती हों तो उन्हें दोष क्यों दिया जाये?

पता नहीं तुम किस आधार पर बिना विधि-विधान या अनुशासन के ही सुव्यवस्था और संगठन की आशा करते हो। तुम मानों यह कहते हो कि लोगों को पूर्ण स्वाधीनता दे देनी चाहिये और केवल उतना ही अनुशासन होना चाहिये जितना वे स्वयं अपने ऊपर लादना पसंद करें; यह बात उस समय पर्याप्त होती जब यहांपर एकमात्र करने की चीज यही होती कि प्रत्येक व्यक्ति कोई आंतर उपलब्धि प्राप्त कर ले, जीवन का कोई प्रश्न न होता, या, यहां पर कोई सामूहिक जीवन और कार्य न होता और अगर होता भी तो उसका कोई महत्त्व न होता; पर यहां बात ऐसी नहीं है। हमने एक ऐसा कार्य अपने हाथ में लिया है जिसमें जीवन, कर्म और भौतिक जगत् शामिल हैं। जो कुछ मैं करने का प्रयत्न कर रहा हूं उसमें आध्यात्मिक उपलब्धि सबसे पहले आवश्यक है; लेकिन वह जीवन में, मनुष्यों में और इस संसार में भी बाह्य उपलब्धि प्राप्त किये बिना पूर्ण नहीं हो सकती। अंतर में आध्यात्मिक चेतना हो पर साथ ही बाहर आध्यात्मिक जीवन भी हो। आश्रम अपनी वर्तमान अवस्था में उस आदर्श रूप को प्राप्त नहीं हुआ है, उसके लिये उसके सभी सदस्यों को साधारण अहंकारपूर्ण मन तथा मुख्यत: राजसिक प्राण-प्रकृति में रहने की जगह आध्यात्मिक चेतना में निवास करना होगा, पर, फिर भी आश्रम हमारे प्रयास का पहला रूप है, यह एक क्षेत्र है जिसमें प्रारंभिक तैयारी का कार्य करना होगा। माताजी को यह आश्रम चलाना है और इसके लिये इस समस्त व्यवस्था और संगठन की भी आवश्यकता है तथा यह विधि-विधान और अनुशासन के बिना नहीं हो सकता। फिर अहंकार, मानसिक रुचियों और राजसिक प्राण-प्रकृति को पार करने के लिये भी, अथवा कम-से-कम उस कार्य में सहायक के रूप में, अनुशासन की आवश्यकता है। यदि इन चीजों को जीत लिया जाये तो बाहरी

नियम आदि की आवश्यकता कम होगी; उनके स्थान पर स्वाभाविक मेल-मिलाप, एकत्व, सामंजस्य और समुचित कर्म आ जायेंगे। परंतु जबतक वर्तमान अवस्था विद्यमान है तबतक लोग जिस अनुशासन को अपने ऊपर लादना पसंद करेंगे या नहीं करेंगे उसके अतिरिक्त बाकी समस्त अनुशासन को त्याग देने या न मानने से उसका फल असफलता और अमंगल ही होगा।... उस सिद्धांत के अनुसार तो इस कार्य का भी सत्यानाश हो गया होता, बस लड़ाई-झगड़े के सिवा और कुछ न होता, प्रत्येक कार्यकर्ता अपनी ही निजी भावना और इच्छा को प्रस्थापित करता और निरंतर संघर्ष रहता; वर्तमान अवस्था में भी यह सब प्रचुर मात्रा में है और केवल माताजी के प्रभाव, उनके दिये हुए ढांचे तथा विरोधी तत्त्वों से एक साथ काम लेने के उनके कौशल के कारण ही सारा कार्य चल रहा है।

मुझे नहीं लगता कि माताजी कठोरता के साथ नियम पालन कराती हैं। बल्कि इसके विरुद्ध मैंने देखा है कि उन्होंने नियमभंग, आज्ञा-लंघन, आत्मख्यापन और विद्रोह के उस विशाल स्तूप का सामना, जिसने उन्हें घेर रखा है, कितनी सतत मृदुलता, सहनशील धैर्य और दयालुता के साथ किया है; यहांतक कि अपने सामने किये गये विद्रोह और अपने-आपको अत्यंत बुरी निन्दाओं से आक्रांत करनेवाले उग्र पत्रों को सहा है। कोई कठोर अनुशासक इन सब चीजों के साथ इस तरह व्यवहार न करता।

मैं नहीं जानता कि दर्शकों के साथ क्या बुरा व्यवहार किया गया है, सिवा इसके कि नियम मानने का आग्रह किया गया जिसपर तुम आपत्ति कर रहे हो। परंतु यह कोई सार्वजनीन आपत्ति नहीं हो सकती, अन्यथा दर्शकों की संख्या निरन्तर बढ़ती न जाती और न इतने अधिक लोग दुबारा आना ही चाहते या यहांतक कि प्रत्येक बार ही आना चाहते या इतने अधिक लोग, यदि माताजी उन्हें अनुमति दें तो, यहां रहना ही चाहते। पर जो हो, वे लोग यहां किसी सामाजिक आवश्यकता के कारण नहीं आते बल्कि उन लोगों के दर्शनों के लिये आते हैं, जिन्हें वे आध्यात्मिक दृष्टि से महान् मानते हैं अथवा, सर्वदा आने-जाने वालों के प्रसंग में कहा जाये तो, आश्रम-जीवन में भाग लेने तथा आध्यात्मिक लाभ उठाने के लिये आते हैं, और इन दोनों ही उद्देश्यों के लिये उनसे यह आशा की जायेगी कि उनपर जो शर्तें लगायी जायें उन्हें वे इच्छापूर्वक स्वीकार करें और थोड़ी-बहुत असुविधा का ख्याल न करें।

अब गोलकुंड और उसके नियमों की बात लें—वे नियम दूसरी जगह नहीं लगाये जाते—उन्हें लगाने का कुछ कारण है और वे निरर्थक नहीं हैं।

गोलकुंड में माताजी ने रेमों, सामेर और दूसरों के द्वारा अपनी निजी भावना को कार्यान्वित किया है। सबसे पहले, माताजी का विश्वास है कि सौन्दर्य आध्यात्मिक और दिव्य जीवन का एक अंग है; दूसरे, वे मानती हैं कि भौतिक वस्तुओं में भी भागवत चेतना है और वह चेतना उतना ही उन्हें सहारा देती है जितना वह सजीव वस्तुओं को देती है; और तीसरे, उन भौतिक वस्तुओं का भी अपना व्यक्तित्व है और उनसे समुचित रूप में व्यवहार करना चाहिये, समुचित ढंग से उनका उपयोग करना चाहिये, न तो उनका दुरुपयोग होना चाहिये, न उनके साथ अनुचित ढंग का व्यवहार होना चाहिये, न तो उन्हें आघात पहुंचाना चाहिये और न उनकी उपेक्षा करनी चाहिये जिससे कि वे जल्द नष्ट हो जायें और अपना पूरा सौन्दर्य या मूल्य खो बैठें; वे उनके अंदर की चेतना को अनुभव करती हैं और उनके साथ इतनी अधिक सहानुभूति रखती हैं कि जो चीज दूसरे हाथों में थोड़े दिनों में ही खराब हो सकती या नष्ट हो सकती है वह उनके साथ वर्षों या दशकों तक बनी रहती है। इसी बात को आधार मानकर उन्होंने गोलकुंड की योजना बनायी थी। सर्वप्रथम, उन्होंने उच्च प्रकार की स्थापत्य-कला का सौन्दर्य चाहा था और इसमें वे सफल हुईं-—वास्तुकारों तथा गृहनिर्माण-कला का ज्ञान रखनेवाले लोगों ने बड़े उत्साह के साथ इसकी प्रशंसा की है और इसे एक अद्‌भुत कृति माना है। एक ने तो इसके विषय में यह कहा कि इस प्रकार के जितने भी भवन उसने देखे उनमें यह सबसे सुंदर है और इसकी बराबरी का भवन न तो समूचे यूरोप में है न अमेरिका में; और एक महान् गुरु के शिष्य एक फ्रेंच वास्तुकार ने कहा कि इस भवन में वह भावना अत्यंत उत्कृष्ट रूप में कार्यान्वित हुई है जिसे उसके गुरु कार्यान्वित करने की चेष्टा करते रहे, पर संपन्न करने में असफल रहे। पर इसके साथ माताजी ने यह भी चाहा था कि इस भवन की सभी चीजें, कमरे, सजावट की चीजें, सामान आदि सभी अपने-आपमें कलापूर्ण हों और सब मिलकर एक सुसमंजस संपूर्ण आकार ग्रहण करें। यह कार्य भी बड़ी सावधानी के साथ किया गया। इसके अलावा प्रत्येक चीज इस प्रकार निश्चित की गयी कि उसका अपना उपयोग हो, प्रत्येक चीज के लिये एक स्थान हो, और चीजों को मिला-जुला न दिया जाये, या अस्त-व्यस्त न कर दिया जाये या उनका गलत उपयोग न किया जाये। परंतु इन सब बातों को बनाये रखने और उन्हें व्यवहार में लाने की जरूरत थी; क्योंकि वहां रहनेवालों के लिये थोड़े समय में ही पूर्ण अस्तव्यस्तता उत्पन्न करना, दुरुपयोग करना और प्रत्येक चीज को अव्यवस्थित और नष्ट कर देना अधिक आसान था। यही कारण था

कि नियम बनाये गये और उनका और कोई उद्देश्य नहीं था। माताजी को आशा थी कि यदि उपयुक्त मनुष्य वहां रखे जायें या कुछ दूसरों को साधारण लोगों की अपेक्षा कम जल्दबाजी करने की शिक्षा दी जाये तो उनकी भावना की रक्षा की जा सकती है और समस्त परिश्रम और व्यय को नष्ट होने से बचाया जा सकता है।

परंतु दुर्भाग्यवश स्थान की कठिनाई उत्पन्न हुई और हमें उन लोगों को गोलकुंड में रखने के लिये बाध्य होना पड़ा जिन्हें दूसरी जगह नहीं रखा जा सकता था और इस तरह सावधानी से चुनाव नहीं किया जा सका। इसलिये प्रायः ही कुछ टूटने-फूटने लगा और दुरुपयोग होने लगा और दर्शन के बाद माताजी को चीजों की मरम्मत कराने तथा जो कुछ वहां सम्पन्न किया गया है उसे फिर से ठीक करने में दो-तीन सौ रुपया खर्च करना पड़ता था। 'अ' ने मकान को देखने और जहांतक संभव हो चीजों को ठीक बनाये रखने की जिम्मेदारी ले रखी है। यही कारण है कि हैण्ड-बैग के मामले में—वह मामला मेज के लिये भी उतना ही दुःखदायी था जितना कि डॉक्टर के लिये, क्योंकि हैण्ड-बैग से मेज पर खुरचन आ गयी और वह खराब हो गयी—उसने हस्तक्षेप किया और बैग तथा हजामत की चीजों को उनके लिये निश्चित किये गये स्थानों में रखने की चेष्टा की। अगर डॉक्टर के स्थान पर मैं होता तो मैं उसकी सावधानता और सहायता के लिये उसके प्रति कृतज्ञ होता, डॉक्टर की तरह उन बातों के लिये नाराज न होता जो उनकी दृष्टि में तो तुच्छ थीं, यद्यपि उसके लिये उसकी जिम्मेदारी के कारण महत्त्वपूर्ण थीं। जो हो, नियमों की यही यथार्थ व्याख्या है और वे मुझे निरर्थक विधि-विधान और अनुशासन नहीं प्रतीत होते।

अंत में, आर्थिक व्यवस्था की बात पर आवें। इस आश्रम को, इसके सदस्यों की निरन्तर बढ़नेवाली संख्या के साथ चलाना, आय-व्यय का लेखा बराबर बनाये रखना और कभी-कभी आय की कमी और उसके परिणामों को रोकना माताजी के और मेरे लिये एक दुःसाध्य और कष्टकर कार्य हो रहा है और विशेषकर इस युद्ध के दिनों में जब कि सब चीजों का खर्च एक अद्भुत और कल्पनातीत ऊंचाई तक पहुंच गया है, हमारे ऊपर क्या बीती है उसे केवल वे ही लोग समझ सकते हैं जिन्हें ऐसी बातों का अभ्यास हो अथवा जिनपर ऐसी ही जिम्मेदारियां रही हों। यदि दिव्य शक्ति की क्रिया न हुई होती तो बिना किसी निश्चित आमदनी के इतने महान् कार्य को चलाना संभव न होता। दानशीलता के कार्य हमारे कार्य का अंग नहीं हैं, अन्य बहुतेरे लोग हैं

जो ऐसे कार्यों की देख-रेख कर सकते हैं। हमें तो सब कुछ उसी कार्य में खर्च करना होगा जिसे हमने अपने हाथ में लिया है और हमें जो कुछ मिलता है वह हमारी आवश्यकता के अनुपात में कुछ भी नहीं है। हम लोग ऐसा कोई काम हाथ में नहीं ले सकते जो साधारण तरीकों से धन ले आये। हमारे लिये जो उपाय संभव हैं उन्हीं का हमें उपयोग करना होगा। यह कोई साधारण नियम नहीं है कि आध्यात्मिक मनुष्यों को परोपकार के कार्य करने ही चाहियें अथवा उनके पास जो कोई दर्शक आवें उन्हें वे रहने का स्थान और भोजन दें, उनका स्वागत करें और उनकी सुरक्षा का ख्याल रखें। अगर हम ऐसा करते हैं तो इसका कारण यही है कि यह हमारे कार्य का अंग बन गया है। माताजी दर्शकों से रहने और खाने का खर्च लेती हैं, क्योंकि उन्हें खर्च की व्यवस्था करनी है और वे हवा में से रुपया नहीं बना सकतीं; वे वास्तव में जितना व्यय करती हैं उससे कम ही लेती हैं। यह बिलकुल स्वाभाविक है कि वे यह न पसंद करें कि लोग उनसे अनुचित लाभ उठाएं और उन लोगों को अनुमति दें जो झूठे बहाने बनाकर भोजन-गृह में भोजन करने की चेष्टा करते हैं। आरंभ में ये लोग थोड़े ही क्यों न हों, यदि उन्हें खुली छूट मिल जाये तो, वे थोड़े-से लोग शीघ्र ही एक सेना में परिणत हो जायेंगे। अब लोगों को आज्ञा लिये बिना खुले तौर पर दर्शनों के लिये आने देने की जो बात है वह तो मुझे जल्द ही एक दिखावे की और कौतूहल की चीज, बहुधा निन्दात्मक या विरोधी कौतूहल की चीज बना देगी और तब मैं ही सबसे पहले चिल्ला उठूंगा—"बंद करो।"

मैंने अपने दृष्टिकोण को समझाने की चेष्टा की है और कुछ हद तक समझाया भी है। भले ही कोई इसे स्वीकार करे या न करे, पर यह है एक दृष्टिकोण और मैं समझता हूं कि यह युक्तिसंगत भी है। मैं केवल बाहरी दृष्टि से ही लिख रहा हूं और उन सब बातों की चर्चा नहीं करता जो पीछे विद्यमान हैं अथवा यौगिक दृष्टि से संबंधित हैं, उस यौगिक चेतना की दृष्टि से संबंधित हैं जिससे हम कार्य करते हैं; उसे व्यक्त करना अधिक कठिन होगा। यह महज बौद्धिक संतुष्टि के लिये ही है और यहां तर्क के लिये बराबर ही गुंजायश है।

२५-२-१९४५

*

यह बिलकुल ठीक है कि भौतिक वस्तुओं में चेतना है जो अनुभव करती है, सतर्कता का प्रत्युत्तर देती है और असावधानी के साथ छूने तथा कठोरतापूर्वक व्यवहार करने से क्षुण्ण होती है। इसे जानना और अनुभव करना तथा उनके

विषय में सावधान होना सीखना चेतना की एक महान् प्रगति है। बराबर ही माताजी ने भौतिक वस्तुओं के विषय में ऐसा अनुभव किया है और इसके अनुसार व्यवहार किया है। चीजें दूसरों की अपेक्षा माताजी के साथ बहुत अधिक दिनों तक और अच्छी अवस्था में रहती हैं तथा अपना पूरा लाभ देती हैं।

१६-४-१९३६

*

जो लोग "खर्च नहीं दे सकते" उनके आश्रम में आने या बिना खर्च रहने के विषय में माताजी ने कभी आपत्ति नहीं की है; वे केवल उन्हीं दर्शकों से खर्च पाने की आशा रखती हैं जो खर्च दे सकते हैं। उन्होंने निश्चय ही उन धनी दर्शकों के कार्य पर (एक अवसर पर) बड़े जोरों से आपत्ति की थी कि जो यहां आये, उन्होंने बाजार में चीजें आदि खरीदने में खुले दिल रुपया खर्च किया पर आश्रम को कुछ भी दिये बिना या माताजी को मामूली भेंट तक दिये बिना चले गये —बस इतना ही।

२१-१०-१९४३

आश्रम के भौतिक जीवन के दो आधार

ऐसा लगता है कि इन विषयों में तुम्हारी प्राणिक सत्ता ने जो वृत्ति बराबर ही बनाये रखी है वह है "सौदेबाजी" या "ढाबे" की वृत्ति। व्यक्ति किसी प्रकार का माल देता है जिसे वह भक्ति या समर्पण कहता है और उसके बदले माताजी आध्यात्मिक, मानसिक, प्राणिक और शारीरिक—सभी प्रकार की मांगों और कामनाओं की तृप्ति करने के लिये बाध्य हैं, और यदि उनके काम में कमी रह जाये तो यह समझा जाता है कि उन्होंने वादा तोड़ दिया है। आश्रम एक प्रकार का सामुदायिक होटल या ढाबा है, माताजी होटल की स्वामिनी या ढाबे की प्रबन्धकर्त्री हैं। व्यक्ति जो कुछ दे सकता है या देना पसंद करता है वही कुछ देता है, अथवा यह भी हो सकता है कि वह ऊपर कहे माल के सिवा कुछ भी न दे; बदले में जीभ और पेट की तथा अन्य सभी भौतिक मांगों की पूरी-पूरी तृप्ति करनी होती है; नहीं तो, व्यक्ति को अपना धन अपने ही पास रखने का और भुगतान न करनेवाली होटल-की-मालकिन या ढाबे की प्रबन्धिका को गाली देने का हर प्रकार से अधिकार है। इस मनोवृत्ति का साधना या योग के साथ किसी प्रकार का भी संबंध नहीं और इसे मेरे कार्य के या आश्रम के

जीवन के आधार के रूप में मुझपर थोपने के किसी भी व्यक्ति के अधिकार को मानने से मैं पूर्णतया इनकार करता हूं।

यहां के भौतिक जीवन के लिये बस दो ही आधार संभव हैं। एक यह कि व्यक्ति आश्रम का सदस्य है जो आश्रम आत्मदान और समर्पण के सिद्धांत पर स्थापित है। व्यक्ति भगवान् का है और जो कुछ उसके पास है वह सब भगवान् का है, यहां हम जो कुछ देते हैं वह अपना नहीं है बल्कि वह पहले से ही भगवान् का है। यहां मूल्य या बदले का कोई प्रश्न नहीं, कोई मोल-तोल नहीं, किसी मांग और कामना के लिये स्थान नहीं। माताजी ही एकमात्र अधिकारिणी हैं और वे अपने प्राप्त साधनों तथा अपने यंत्रों की क्षमताओं के अनुसार जितने उत्तम रूप में करना संभव है उतने उत्तम रूप में सारी चीजों की व्यवस्था करती हैं। वे साधकों के मानसिक मानदण्डों या प्राणिक वासनाओं और मांगों के अनुसार काम करने के लिये बंधी हुई बिलकुल नहीं हैं; उनके साथ व्यवहार करते समय वे प्रजातंत्रात्मक समानता का उपयोग करने के लिये बाध्य नहीं। वे प्रत्येक मनुष्य के विषय में यह देखती हैं कि उसकी सच्ची आवश्यकता क्या है और उसकी आध्यात्मिक प्रगति के लिये सबसे उत्तम क्या है और उसके अनुसार उसके साथ व्यवहार करने के लिये वे स्वतंत्र हैं। कोई भी आदमी उनके कार्यों पर विचार नहीं कर सकता अथवा उनपर अपना निजी नियम और मानदंड नहीं लाद सकता; केवल वही नियम बना सकती हैं और अगर उचित समझें तो फिर उन नियमों का उल्लंघन भी कर सकती हैं, पर कोई भी आदमी यह मांग नहीं पेश कर सकता कि उन्हें ऐसा ही करना होगा। व्यक्तिगत मांगों और कामनाओं को उनपर नहीं लादा जा सकता। अगर किसी आदमी को अपनी सच्ची आवश्यकता की बात कहनी हो अथवा उसे कोई ऐसी सूचना देनी हो जो उसके अपने प्राप्त क्षेत्र के भीतर पड़ती हो तो वह कह सकता है; परंतु यदि माताजी स्वीकृति न दें तो उसे संतुष्ट रहना चाहिये और उस बात को वहीं छोड़ देना चाहिये। यही वह आध्यात्मिक अनुशासन है जिसका केंद्र वह व्यक्ति होता है जो भागवत सत्य का प्रतिनिधित्व करता है या उसका मूर्त रूप होता है। या तो माताजी वही व्यक्ति हैं और इस प्रसंग की ये सब बातें स्पष्ट रूप से साधारण समझ की बातें हैं; अथवा माताजी वह नहीं हैं और उस हालत में किसी को यहां रहने की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक आदमी अपने निजी रास्ते पर जा सकता है और फिर न तो आश्रम ही रह जाता है और न योग ही।

दूसरी ओर, यदि कोई आश्रम का सदस्य बनने या अनुशासन का पालन

कर सकने के लिये तैयार नहीं और फिर भी उसे इस योग में कोई स्थान दिया जाता है तो वह आश्रम से अलग रहता है और अपना खर्च आप चलाता है। भौतिक स्तर पर उसके लिये, कार्य की सुरक्षा के लिये आवश्यक नियमों को छोड़कर और कोई अनुशासन नहीं होता। माताजी पर उस व्यक्ति का कोई भौतिक उत्तरदायित्व नहीं होता।

११-४-१९३०

माताजी के कार्य का तरीका और अपव्यय

अपव्यय के विषय में कुछ कहना मैं आवश्यक नहीं समझता; बस तुम्हें इतना ही विश्वास दिलाना चाहता हूं कि लोगों को केवल काम में लगाये रखने के लिये ही अनुपयोगी और अनावश्यक कार्य हाथ में लेना माताजी के कर्मसंबंधी सिद्धांत का कोई अंग नहीं है। माताजी को मालूम नहीं कि तुमने किस नल की बात लिखी थी और उसके विषय में पूछताछ करने के लिये न तो उनके पास समय था और न इच्छा ही थी। यह बिलकुल ठीक है कि जबतक साधक सिद्ध योगी नहीं बन जाते, कम-से-कम तबतक आत्मसंयम रखना ही धर्म है; उन्हें किसी भी दिशा में अति करने की आदत से और लापरवाही, लोभ या व्यक्तिगत मनमौज की पूर्ति से दूर रहना सीखना ही होगा—उन्हें जो चीजें दी जाती हैं वे एक साधक के लिये प्रचुर हैं और अन्य स्थानों में जो चीजें मिलती हैं उनसे बहुत अधिक हैं—जब लोग ऐसी चीजें करते हैं तो माताजी उन्हें रोकने के लिये प्रत्येक मुहूर्त हस्तक्षेप नहीं करतीं; एक नियम बना दिया गया है, अपव्यय न करने के लिये उन्हें चेतावनी दे दी गयी है, एक चौहद्दी बना दी गयी है, बाकी चीजों के लिये उनसे यह आशा की जाती है कि वे स्वयं सीखेंगे और अपनी निजी चेतना और संकल्प के द्वारा अपनी कमजोरियों से बाहर निकलेंगे और इस काम में उन्हें सहायता देने के लिये माताजी की आंतर शक्ति विद्यमान है। कार्य का संगठन करने में पहले-पहल भीषण अपव्यय हुआ था, क्योंकि कार्यकर्ता और साधक माताजी की इच्छा का प्रायः एकदम कोई ख्याल नहीं करते थे और अपनी ही मनमौज का अनुसरण करते थे; पर वह पुनर्संगठन के द्वारा बहुत कुछ बंद हो गया। पर कुछ हदतक अभी अपव्यय जारी है और इसका बने रहना प्रायः तबतक अनिवार्य है जबतक साधक और कार्यकर्ता अपने संकल्प और चेतना में अपूर्ण हैं, श्रीमां की बतायी हुई बातों को सच्चे रूप में और पूरे ब्योरे के साथ क्रिया में नहीं लाते या अपने को श्रीमाताजी से

अधिक बुद्धिमान् समझते हैं और अपने ही "स्वतंत्र" विचारों को अनुचित स्थान देते हैं। ऐसा होने पर भी माताजी हमेशा आग्रह नहीं करतीं, वे प्रतीक्षा करती और देखती हैं, साधकों के व्यक्तिगत जीवन की अपेक्षा बाहरी कार्यों में अधिक हस्तक्षेप करती हैं, पर फिर भी उनके लिये अवसर छोड़ती हैं कि वे अपनी चेतना, अपनी अनुभूति और निजी भूलों के द्वारा प्राप्त शिक्षा की सहायता से बढ़ें। माताजी प्रायः बाहरी दबाव के बदले आंतरिक दबाव का प्रयोग करना अधिक पसंद करती हैं। इन सब मामलों में उन्हें अपने निजी निर्णय और दृष्टि का ही उपयोग करना होता है और किसी दूसरे आदमी के स्वीकृति देने या सेंसर करने से कोई लाभ नहीं—क्योंकि वे एक ऐसे दृष्टिकेंद्र से कार्य करती हैं जो दूसरों की दृष्टि से भिन्न है। लोगों के पास कोई श्रेष्ठतर ज्योति नहीं है जिससे वे माताजी की बातों को माप-तौल सकें या उन्हें पथ दिखा सकें।

जहांतक अपव्यय का प्रश्न है, मैं यह बता दूं कि हमारी दृष्टि में खुले हाथ खर्च करना सदा अपव्यय ही नहीं होता, इस अत्यंत तामसिक और पिछड़े हुए स्थान में जीवन का जो स्तर देखने में आता है उससे ऊंचा स्तर रखना अपव्यय ही हो यह आवश्यक नहीं। मकान बनाने और उनकी सार-संभाल रखने के मामलों में और इसी प्रकार के दूसरे विषयों में माताजी ने शुरू से ही एक मानक स्थापित किया है और वह वही नहीं जो यहां प्रचलित है—साधारण पद्धति है जहांतक हो सके सस्ते-से-सस्ते सामान और सस्ते-से-सस्ते श्रमिकों का प्रयोग करना और बाहरी रंग-रूप की परवाह न करना, चीजों को मैली-कुचैली रहने देना या उन्हें बनाये रखने के लिये केवल कुछ जोड़-जाड़ कर देना। मैं समझता हूं "मितव्ययी" मनोवृत्तिवाले लोग स्थानीय सिद्धांत को युक्तियुक्त समझेंगे और उच्चतर मानक को अपव्यय। यदि उच्चतर मानक कायम रखा गया है तो यह किसी की, आश्रम या माताजी की मान-प्रतिष्ठा के लिये नहीं, —मान-प्रतिष्ठा का सिद्धांत योग के लिये विजातीय है,—बल्कि किसी और ही दृष्टिकोण से कायम रखा गया है जो मानसिक नहीं है और जिसका पूरा मूल्यांकन तभी किया जा सकता है जब हमारी चेतना वस्तुओं-संबंधी उस अन्तर्दृष्टि को समझने में समर्थ हो जाये जिसके द्वारा माताजी ने कार्य आरंभ किया था। उसके संबंध में अभी कुछ लिखना मैं उपयोगी नहीं समझता,—इन विषयों में सामान्य भ्रांति तभी दूर हो सकती है जब साधक साधारण मन और प्राण से मुक्त हो जायेंगे और वस्तुओं को दृष्टि के उसी स्तर से देखने में समर्थ होंगे जिससे योग और कर्म की परिकल्पना का उदय हुआ था...।

इसी कारण मैं माताजी के विरुद्ध की गयी आलोचनाओं, आक्रमणों और शंकाओं का उत्तर देने से इनकार करता हूं।

चाहे कर्म में हो यो योग में, माताजी मन के द्वारा कार्य नहीं करतीं, अथवा चेतना के उस स्तर से नहीं करतीं जहां से ये समालोचनाएं उठती हैं, बल्कि वे एकदम दूसरी ही दृष्टि और चेतना से काम करती हैं। अतः यह बिलकुल बेकार है, और माताजी की जो स्थिति है उसके साथ एकदम बेमेल है कि साधारण मन और साधारण चेतना को ही जज और अदालत स्वीकार किया जाये, उनके सामने माताजी को उपस्थित होकर अपने पक्ष का समर्थन करने के लिये कहा जाये, ऐसी पद्धति असंगत और युक्तिविरुद्ध है और वह किसी परिणाम पर नहीं पहुंचाती; वह तो केवल एक ऐसे मिथ्या वातावरण की सृष्टि ही कर सकती या उसे बनाये रख सकती है जो एकदम साधना की उन्नति के लिये प्रतिकूल हो। इसी कारण जब ऐसे संदेह उठाये जाते हैं तो मैं उनका कोई उत्तर ही नहीं देता अथवा इस तरह से उत्तर देता हूं कि ऐसे अभियोग को फिर से दोहराने का साहस न हो। अगर लोग यह समझना चाहते हैं कि माताजी क्यों काम करती हैं तो उन्हें उसी आंतर चेतना में प्रवेश करना चाहिये जहां से माताजी देखती और कार्य करती हैं। और माताजी क्या हैं, यह भी या तो श्रद्धा की आंखों से या किसी गभीर दृष्टि से ही देखा जा सकता है। यह भी कारण है जिससे कि हम ऐसे लोगों को यहां रखते हैं जिन्होंने अभीतक आवश्यक श्रद्धा या दृष्टि नहीं प्राप्त की है; हम लोग उन्हें भीतर से उसे प्राप्त करने के लिये छोड़ देते हैं और अगर उनमें साधना करने की सच्ची इच्छा हो तो वे उसे प्राप्त कर लेंगे।

२६-१२-१९३६

*

माताजी साधकों को सुख-सुविधा की वस्तुएं इसलिये नहीं देतीं कि वे समझती हैं कि कामनाओं, शौक और रुचि-अभिरुचियों को पूरा करना चाहिये—योग में तो लोगों को इन चीजों पर विजय पानी होती है। यहां उन्हें जो वस्तुएं मिलती हैं उनका दसवां हिस्सा भी उन्हें और किसी भी आश्रम में नहीं मिलेगा, उन्हें सभी संभवनीय असुविधाओं, कठिनाइयों, कठिन और कठोर तपस्याओं का सामना करना पड़ेगा, और यदि उन्होंने कुछ चूं-चां की तो उनसे कहा जायेगा कि तुम योग के योग्य नहीं। यदि यहां का नियम कुछ भिन्न है तो उसका कारण यह नहीं कि कामनाओं का उपभोग करना है, वरन् यह कि काम्य

पदार्थों के अभाव में नहीं बल्कि उनके होते हुए उनपर विजय प्राप्त करनी है। योग का पहला नियम ही यह है कि साधक को जो कुछ भी अनायास प्राप्त हो जाये, वह थोड़ा हो या बहुत, उससे वह संतुष्ट रहे; यदि वस्तुएं वहां हों तो उसे बिना आसक्ति या कामना के उनका उपयोग करने में समर्थ बनना होगा; यदि वे वहां नहीं हैं तो उनके अभाव के प्रति उसे उदासीन रहना होगा।

७-१-१९३७

मांग और कामना

किस प्रकार की चीजें "मांग और कामना" की श्रेणी में आ सकती हैं? "मांग और कामना" का ठीक-ठीक रूप क्या है?

ऐसी कोई विशेष प्रकार की चीजें नहीं हैं—मांग और कामना सभी चीजों को, वे कोई भी क्यों न हों, अपने क्षेत्र में ला सकती हैं—वे आत्मगत हैं, वस्तुगत नहीं और उनका अपना कोई विशेष रूप भी नहीं। मांग तब होती है जब तुम किसी वस्तु को पाने या अधिकृत करने के लिये उसका दावा करते हो, कामना एक व्यापक शब्द है। यदि कोई अपेक्षा करता है कि प्रणाम के समय माताजी उसे मुस्कान प्रदान करें और अगर वह उसे नहीं पाता तो उसे बुरा लगता है तो वह एक मांग है। यदि किसी को उसकी चाह है और उसके न मिलने पर दुःख होता है पर विद्रोह का या अनुचित रूप से वञ्चित किये जाने का भाव नहीं पैदा होता तो यह सब कामना का द्योतक है। यदि कोई उनकी मुस्कान पाकर हर्ष अनुभव करता है किन्तु उसके न मिलने पर शांत और स्थिर रहता है क्योंकि वह जानता है कि माताजी जो कुछ भी करती हैं वह सब भला ही होता है तो वहां कोई मांग या कामना नहीं है।

*

आपने भगवान् के विषय में कहा है: "वे वह सब कुछ दे सकते हैं जिसकी सचमुच में आवश्यकता हो—पर लोग साधारणतया इस विचार का यह अर्थ लगाते हैं कि वे वह सब कुछ प्रदान करते हैं जिसकी, वे समझते हैं या उन्हें लगता है कि, उन्हें जरूरत है। वे ऐसा कर सकते हैं, —पर नहीं भी कर सकते।" परंतु यह कहा जाता है कि वे हमारी सभी चैत्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

हां, अंततोगत्वा; पर यहां भी लोग उनसे आशा करते हैं कि वे निरंतर उनकी पूर्ति करें, जैसा कि सदा होता नहीं।

३०-१-१९३६

*

यदि हमें अपनी कामनाओं का परित्याग ही करना है तो माताजी उन्हें कभी-कभी पूरा क्यों करती हैं?

उनसे छुटकारा तो तुम्हीं को पाना है। यदि माताजी उन्हें जरा भी पूरी न करें और साधक उन्हें अपने अंदर रखे रहे तो वे बाहर से आनेवाले सुझाव के द्वारा और भी प्रबल हो उठेंगी। हर एक को अंदर से ही उनके साथ निपटना है।

४-९-१९३३

*

'क्ष' ने मुझसे कहा कि यदि कोई चीज हमारे बिना मांगे हमें प्राप्त हो जाये तो हमें उसे अस्वीकार नहीं करना चाहिये। उदाहरणार्थ, कोई हमें मिठाई भेंट करता है: उसे हम स्वीकार कर सकते हैं। परंतु जब हमारी चाही वस्तुएं हमें न दी जायें तो हमें उदास नहीं होना चाहिये। इस विषय में आपका क्या कहना है?

ऐसा नियम भला कैसे टिक सकता है? मान लो कि कोई तुम्हारे पास आकर तुम्हें मांस या शराब भेंट करता है, तो क्या तुम उसे स्वीकार कर सकते हो? स्पष्टतः ही नहीं। ऐसे और सैकड़ों दृष्टांत दिये जा सकते हैं जहां यह नियम टिक नहीं पायेगा। जो कुछ माताजी तुम्हें दें या स्वीकार करने की अनुमति दें वह तुम ले सकते हो।

२४-३-१९३३

आश्रम के कार्य पर एकमात्र माताजी का प्रभुत्व

यदि आश्रम में कोई व्यक्ति दूसरों पर प्रभुत्व या आधिपत्यपूर्ण प्रभाव स्थापित करने का यत्न करता है तो वह गलती में है। क्योंकि वह अवश्य ही अशुद्ध प्राणिक प्रभाव बन जायेगा और माताजी के कार्य में बाधा पहुंचायेगा।

समस्त कार्य एकमात्र माताजी की देखरेख में किया जाना चाहिये। सब

प्रकार की व्यवस्था उन्हीं के स्वतंत्र निर्णय के अनुसार करनी होगी। काम के लिये तथा काम करनेवाले के लिये जो कुछ भी अच्छे-से-अच्छा है उसके अनुसार प्रत्येक की तथा सबकी क्षमताओं का पृथक्-पृथक् या संयुक्त रूप में प्रयोग करने के लिये वे अवश्य ही स्वतंत्र हैं।

किसी को भी आश्रम के किसी दूसरे सदस्य को अपने अधीन नहीं समझना चाहिये और न वैसा समझते हुए उससे बर्ताव करना चाहिये। यदि कोई साधक किसी कार्य का अध्यक्ष है तो उसे दूसरों को उस कार्य में अपने सहयोगी और सहायक समझना चाहिये, और उसे उनपर अपना अधिकार जमाने या उनपर अपने विचारों तथा व्यक्तिगत सनकों को थोपने का यत्न नहीं करना चाहिये, बल्कि केवल माताजी की इच्छा को क्रियान्वित करने की ओर ही ध्यान देना चाहिये। किसी को भी अपने को अधीनस्थ नहीं मानना चाहिये, भले ही उसे दूसरे के द्वारा दिये गये निर्देशों को कार्यान्वित करना या अपने करणीय कार्य को किसी की देख-रेख के अधीन करना पड़ता हो।

सबको केवल यह सोचते हुए कि कार्य को कैसे सर्वोत्तम रीति से सफल बनाया जाये, मिल-जुलकर काम करने का यत्न करना चाहिये। व्यक्तिगत भावों को हस्तक्षेप नहीं करने देना चाहिये, क्योंकि कार्य में विघ्न, विफलता या गड़बड़ी का कारण बहुधा यही हुआ करता है।

यदि तुम कार्य-संबंधी इस सत्य को मन में रखो और इसपर सदा अटल रहो तो कठिनाइयां बहुत करके दूर हो जायेंगी; क्योंकि दूसरे लोग तुम्हारी मनोवृत्ति की यथार्थता से प्रभावित होंगे और तुम्हारे साथ बिना किसी संघर्ष के कार्य करेंगे अथवा, यदि अपने अंदर की किसी दुर्बलता या विकृति के कारण वे कठिनाइयां पैदा करें तो उनके परिणाम वापिस उनपर ही जा पड़ेंगे और तुम कोई विघ्न या कष्ट नहीं अनुभव करोगे।

*

एक बात है जो हर एक को याद रखनी चाहिये। जो कुछ भी किया जाये वह योग, साधना और माताजी की चेतना में दिव्य जीवन में विकसित होने की दृष्टि से किया जाये। अपने ही मन और उसके विचारों पर आग्रह करना, अपने निजी प्राणगत अनुभवों और प्रतिक्रियाओं के द्वारा अपने को परिचालित होने देना यहां के जीवन का विधान नहीं होना चाहिये। मनुष्य को इन सबसे पीछे हटना चाहिये, अनासक्त होना चाहिये, उनके स्थान पर ऊपर से सच्चा ज्ञान तथा भीतर की चैत्य सत्ता से सच्चे अनुभवों को ले आना चाहिये। अगर

मन और प्राण समर्पण न करें, अगर वे अपने निजी अज्ञान की, जिसे वे सत्य, यथार्थ और न्याय के नाम से पुकारते हैं, आसक्ति का त्याग न करें तो यह नहीं किया जा सकता। समस्त कठिनाई उसी से उठती है; यदि उसे जीत लिया जाये तो वर्तमान उपद्रव और कठिनाई के स्थान पर जीवन का, कर्म का, सामंजस्य का, उस सबका जो भगवान् के साथ एकत्व होने पर आता है, सच्चा आधार धीरे-धीरे स्थापित हो जायेगा।

*

माताजी के नाम तुम्हारे पत्र में मैं देखता हूं कि तुम्हारा दावा है कि तुम वह अपराध-स्वीकार के लिये लिख रहे हो, किन्तु असल में उसका लहज़ा तुम्हारी अपनी आत्मा को निर्दोष सिद्ध करता एवं उसका समर्थन करता है, इसके साथ ही वह माताजी पर पक्षपात, क्रोध और अन्याय का दोष लगाता है। मैंने इस बात पर भी गौर किया है कि तुम्हारा किया हुआ तथ्यों का वर्णन अशुद्ध है और, जहांतक उसका संबंध माताजी से है, वह भोंडा भी है। साथ ही तुम उस बात पर बल भी देते हो जिसमें तुम अपने को निर्दोष सिद्ध कर सकते हो और उन सब अन्य बातों की उपेक्षा कर देते हो जिनमें तुम दोषी थे। तथापि मैं यह मानूंगा कि यह सब तुमने जान-बूझकर नहीं किया और कि, ऐसा पत्र लिखते समय, तुम अपनी उस प्राणिक सत्ता की गतियों से सचेतन नहीं थे जिसने उसकी भावना और उसके लहजे को प्रेरित किया।

मैं यह सुझाव दूंगा कि दूसरों के साथ अपने संबंधों में,—ऐसा लगता है कि ये सदा ही अतीव बेसुरे रहे हैं,—जब कोई घटनाएं घटें तब तुम्हारे लिये यह अत्यधिक अच्छा होगा कि तुम यह दृष्टिकोण मत अपनाओ कि तुम बिलकुल ठीक हो और वे बिलकुल गलत हैं। अधिक बुद्धिमानी इसमें होगी कि तुम अपने चिंतन में निष्पक्ष और न्यायपूर्ण रहो, यह देखो कि तुमसे कहां भूल हुई है, और यहांतक कि अपने दोष पर बल दो न कि उनके दोष पर। बहुत संभवतः यह तुम्हें दूसरों के साथ तुम्हारे संबंधों में अधिक सामंजस्य की ओर ले जायेगा; कुछ भी हो, तुम्हारी आंतरिक प्रगति में तो यह अधिक सहायक होगा, जो कि किसी कलह में अड़ियल लड़ाकू बनने की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। और फिर यह भी अच्छा नहीं कि तुम अपने समर्थन और अपनी सत्यपरायणता की भावना को पालो-पोसो और अपने दोषों या अपनी भूलों को अपने-आपसे या माताजी से छुपाना चाहो।

जहांतक माताजी के संबंध में तुम्हारे संदेहों का प्रश्न है, वे संभवतः

तबतक दूर नहीं हो सकते जबतक तुम यह समझते हो कि तुम अपने मन के प्रकाश से माताजी के मन को पढ़ सकते हो और इस प्रकार प्राप्त भ्रांतिपूर्ण तथ्यों से माताजी के तथा उनके कार्यों के विषय में अपने मानसिक निर्णय घोषित कर सकते हो। साथ ही जब-जब वे कोई ऐसी चीज करें जिसे तुम्हारी सीमित बुद्धि नहीं समझ पाती या जो तुम्हारी प्राणिक प्रकृति की भावनाओं और मांगों के लिये अप्रीतिकर हो तब-तब हर बार यदि तुम्हारी श्रद्धा टूट जाये तो भी तुम्हारे संदेह आसानी से नहीं मिट सकते। यदि तुम्हारा यह विश्वास नहीं है कि उनकी चेतना तुम्हारी चेतना से अधिक महान् और विशाल है तथा उसकी नाप-जोख साधारण मानदण्डों और निर्णयों से नहीं हो सकती, या कम-से-कम वह एक यौगिक चेतना है, तो मैं नहीं देख पाता कि किस आधार पर तुम यहां उनके मार्गदर्शन में योगाभ्यास कर रहे हो। जो लोग निरंतर उनपर संदेह करते हैं, उनकी आलोचना एवं निंदा करते हैं अथवा अत्यंत साधारण और अभद्र मानवीय भाव-भावनाओं और हेतुओं को उनके कार्यों का मूल प्रेरक मानते हैं और फिर भी उन्हें स्वीकार करने या मुझे और मेरे योग को स्वीकार करने का ढोंग रचते हैं वे एक मूर्खतापूर्ण और तर्कविरुद्ध असंगति के अपराधी हैं। जहांतक समझने का प्रश्न है वह एक दूसरी ही बात है। मैं सुझाव दूंगा कि पहले तुम्हें विकास करते हुए साधारण मन से बाहर निकलना होगा और सच्ची चेतना के द्वारा सचेतन बनना होगा, उसके बाद ही कहीं तुम इस विषय को समझने की आशा कर सकते हो। और उसके लिये श्रद्धा, समर्पण, विश्वास-पात्रता और उद्घाटन ही वे अवस्थाएं हैं जिनका कुछ महत्त्व है।

६-११-१९२९

*

कैसे तुम माताजी की तरह कार्य कर सकते हो या वह कार्य कर सकते हो जो वे कर सकती हैं? यह तो महत्त्वाकांक्षा और मिथ्याभिमान का उभरना है।

५-११-१९३२

*

तुम्हारे माताजी से मिलने के लिये कोई उचित कारण नहीं है और यह मिलने का समय भी नहीं है। न ही इस विषय में बहस की कोई गुंजायश है।

यहां दो बातें स्पष्ट रूप से समझ लेनी होंगी। यहां का कार्य माताजी का है और वे जिस ढंग से पसंद करें उस ढंग से अपने आदेश देने का उन्हें

अधिकार है और उन आदेशों का पालन करना ही होगा। उनके आदेश किसी भी रूप में पहुंचें, उनकी अवज्ञा करने या अपने निजी विचारों, अपनी इच्छा या सनकों पर आग्रह करने की छूट किसी को नहीं दी जा सकती। यदि तुम बिना किन्हीं शर्तों के उनके आदेशों का सम्मान करने और उनपर चलने के लिये तैयार हो तो तुम्हें काम करते रहने की अनुमति दी जा सकती है, अन्यथा तुम्हें काम करना छोड़ ही देना होगा।...

दूसरे, सब प्रकार की जोर-जबर्दस्ती बंद करनी होगी। यदि तुम आश्रम में रहना चाहते हो तो इस प्रकार के व्यवहार से बाज आना होगा।

१८-७-१९३७

प्राणिक स्तर पर माताजी का कार्य

तुम्हारा स्वप्न, स्पष्ट ही, प्राणिक स्तर के किसी भाग का (जो मानव प्रकृति के एक भाग से भी मिलता जुलता है) सांकेतिक प्रतिरूप था। उस भाग में माताजी ने अपना घर बना रखा था (अपनी चेतना का कोई अंश स्थापित कर रखा था)। गांव मानव जीवन की किसी रचना का प्रतिनिधित्व करता था जिसमें यूरोपीय जीवन के किन्हीं भागों की भांति बाह्य सौंदर्य और सामंजस्य तो है पर भगवान् का स्पर्श कतई नहीं। जंगल उन परिवेशों को द्योतित करता था जिनमें यह रचना बनायी गयी है—यह एक ऐसी प्राणिक प्रकृति के बीच बनायी गयी है जो बर्बर, असभ्य और जंगली है और है भयानक वस्तुओं से भरी हुई—अतएव गांव अर्थात् रचना एक ऐसी वस्तु है जो सर्वथा असुरक्षित और कृत्रिम है। निःसंदेह, मानव सभ्यता के अधिकांश का यही स्वरूप है, भीषण रूप से असंस्कृत प्राणिक प्रकृति के बीच एक कृत्रिम रचना, और वह किसी क्षण भी ध्वस्त हो सकती है। समुद्र है स्वयं प्राणिक चेतना, क्योंकि जल प्रायः प्राण का प्रतीक होता है। पगडण्डी किसी ऐसी वस्तु को द्योतित करती प्रतीत होती है जिसे, माताजी चाहती हैं कि साधक प्राण के उस भाग में निर्मित एवं गठित करें, पर जिसे बनाना सरल नहीं और जिसे केवल ऐसे सतत अध्यवसाय के द्वारा ही बनाया जा सकता है जो अन्ततोगत्वा प्राण की अस्थिरता पर विजय पा लेगा। इस प्रकार के स्वप्न बहुधा अत्यंत मनोरञ्जक और बोधप्रद होते हैं यदि व्यक्ति उनके प्रतीकों का सूत्र पा सके, पर सूत्र पाना सदा सरल नहीं होता।

१३-२-१९३६

*

मेरा किया हुआ प्राण का वर्णन उसके उस भाग पर लागू होता था जिसे तुमने स्वप्न में देखा था—वह आश्रम में विद्यमान प्राणिक स्तर का नहीं वरन् साधारण मानव सत्ता के कुछ एक पक्षों का वर्णन करता है। तथापि मानव प्राण सभी जगह, आश्रम में भी, उग्र और उच्छृङ्खल शक्तियों से भरा है—क्रोध, अभिमान, ईर्ष्या, आधिपत्य की लालसा, स्वार्थपरता, अपनी निजी इच्छा पर तथा अपने विचारों एवं अभिरुचियों पर आग्रह और अनुशासनहीनता परिपूर्ण है—और ये चीजें ही उस गड़बड़ी और कठिनाई का कारण हैं जो आश्रम के कार्य में देखने में आती है। इन प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखने या इनका मुकाबला करने के लिये जो नियम स्थापित किया गया है वह यह है कि माताजी की इच्छा और उनके द्वारा कायम किये गये नियम एवं अनुशासन का पालन किया जाये, न कि प्रत्येक कार्यकर्ता अपने ही अहं से परिचालित हो। पर ऐसे लोग बहुत-से हैं जो अपने ही अहं पर आग्रह करते हैं और अनुशासन को बुरा मानते हैं। वे माताजी की इच्छा, नियम एवं अनुशासन को केवल नाम के लिये ही और उसी हदतक मानने को तैयार हैं जिस हदतक वह उनके अपने विचारों और अभिरुचियों से मेल खाता है। इसका इलाज आंतरिक परिवर्तन के सिवा और कोई नहीं। आश्रम से बाहर के जीवन में अनुशासन बलात् लागू किया जाता है क्योंकि अनुशासन के पालन से इनकार करने पर कठोर दण्ड भोगने पड़ते हैं या फिर उसके परिणामस्वरूप नाना प्रकार की इतनी अधिक असुविधाएं झेलनी पड़ती हैं कि अनुशासनहीन व्यक्ति को या तो घुटने टेकने पड़ते हैं या फिर अपना रास्ता नापना होता है। परंतु यहां आश्रम में नियम को इस प्रकार थोपना संभव नहीं। बाह्य आज्ञापालन के मूल प्रेरणास्रोत के रूप में आंतरिक आज्ञापालन की वृत्ति को अपनाना ही होगा। एकमात्र उपाय है चेतना के भीतर उस सुनहले कमल का अवतरण जिसे तुमने अपने अन्तर्दर्शन में देखा था। जिस किसी में भी वह स्थापित हो जायेगा वह, या जो कोई इसके प्रभाव को ही अनुभव करेगा वह भी सच्ची चेतना और सच्चे कार्य का केन्द्र बन जायेगा जिससे आश्रम के जीवन में परिवर्तन आ जायेगा।

१४-२-१९३६

विभागीय अध्यक्ष की आवश्यकता

माताजी के लिये भौतिक रूप में यह संभव नहीं है कि वे प्रत्येक कार्यकर्ता को अपने-आप सीधा कार्य दें और उसपर सीधी निगरानी रख सकें, जिसमें भौतिक

रूप में और साथ ही आंतरिक रूप में वह (कार्यकर्ता) अपना कार्य उन्हें अर्पित कर सके। प्रत्येक विभाग के लिये एक अध्यक्ष होना ही चाहिये जो सभी महत्त्वपूर्ण विषयों में माताजी की सलाह ले और प्रत्येक चीज की रिपोर्ट उन्हें देता रहे; परंतु छोटी-छोटी बातों में उनका निर्णय जानने के लिये बराबर उनके पास आने की उसे कोई जरूरत नहीं—यह संभव भी नहीं है। 'अ' गृह-निर्माण-विभाग में अध्यक्ष के पद पर है, क्योंकि वह एक सुयोग्य इंजीनियर है। यह बाहरी व्यवस्था की एक आवश्यकता है जो यहां या अन्य जगहों में भी अनिवार्य है और यदि काम करना है तो इसे स्वीकार करना ही होगा। परंतु इसका मतलब यह नहीं है कि लोगों को 'अ' या किसी दूसरे अध्यक्ष को अपने से बड़ा व्यक्ति मानना चाहिये अथवा उसके अहंकार के प्रति समर्पण करना चाहिये। जहांतक संभव हो साधक को अपने निजी अहंभाव से मुक्त होना चाहिये और चाहे जिन अवस्थाओं में कार्य क्यों न किया जाये, अपने कार्य को माताजी की पूजा समझना ही चाहिये।

२०-८-१९३६

*

आश्रम की व्यवस्था के प्रत्येक ब्योरे को स्वयं अपने-आप देखना माताजी के लिये एकदम असंभव है; आजकल जो भी अवस्था है, उसमें उनके पास खाली समय बिलकुल नहीं है। यह बात जानी हुई है कि तुम... पा सकते हो, पर किसी व्यवस्था के कार्यान्वित होने के लिये तुम्हें उन लोगों पर जोर डालना चाहिये जिन्हें उसकी जिम्मेदारी दी गयी है।

२०-७-१९३३

*

स्वयं माताजी ने ही अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये (विभागों के) अध्यक्षों का चुनाव किया था जिससे समस्त कार्य का संगठन हो सके; काम की सभी धाराएं, समस्त ब्योरा उन्हीं के द्वारा निश्चित किया गया था और अध्यक्षों को उनकी पद्धतियों का निरीक्षण करने की शिक्षा दी गयी थी। इस सबके बाद ही वे पीछे हटीं और सारी चीज को अपने निश्चित किये हुए रास्ते से चलते रहने के लिये उन्होंने छोड़ दिया; पर वे बराबर ही एक सतर्क दृष्टि बनाये रखती हैं। अध्यक्ष लोग उनकी नीति और आदेशों को कार्यान्वित कर रहे हैं और प्रत्येक चीज की रिपोर्ट उन्हें देते हैं तथा जब वे उचित समझती हैं तब जो कुछ

वे करते हैं उसमें प्रायः ही परिवर्तन करती हैं। अध्यक्षों का कार्य पूर्ण नहीं है, क्योंकि वे स्वयं भी अभीतक पूर्ण नहीं हैं और कौर्यकर्ताओं तथा साधकों का अहंकार उनके मार्ग में रोड़ा भी अटकाता है। तबतक कुछ भी पूर्ण नहीं हो सकता जबतक साधक और कार्यकर्ता यह नहीं अनुभव करने लगते कि वे अपने अहंकार के लिये, अपने प्राण की आत्मतुष्टि के लिये तथा शरीर की मांगों के लिये यहां नहीं हैं, बल्कि एक उच्च और अत्यधिक कठोर योग के लिये हैं जिसका पहला उद्देश्य है कामना का नाश करना तथा उसके स्थान पर भागवत सत्य और भागवत संकल्प को स्थापित करना।

९-१-१९३६

*

अपने पत्र में मैंने जो लिखा था उसका अभिप्राय यह था कि साधारणतया माताजी इन वस्तुओं के बारे में स्वयं नहीं सोचतीं, कार्य का सूत्रपात स्वयं नहीं करतीं, प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक प्रसंग में यह निर्देश नहीं देतीं कि उसे क्या या कैसे करना चाहिये, जबतक कि ऐसा करने के लिये कोई विशेष अवसर ही न आये। वास्तव में, वे कार्य के किसी भी विभाग में ऐसा नहीं करतीं। वे सामान्य रूप से कार्य पर अपनी दृष्टि रखती हैं, अनुमति देती हैं या उसमें संशोधन करती हैं या फिर अनुमति देने से इनकार कर देती हैं, जब वे आवश्यक समझती हैं तो अन्तःक्षेप भी करती हैं। ऐसे विषय तो बहुत थोड़े-से ही हैं जिनमें वे कार्य का उपक्रम करती हैं, योजना और रूप-रेखा बनाती हैं, विशेष और ब्योरेवार आदेश देती हैं। कसीदाकारी के विषय में कुछ पूछना आवश्यक हो तो 'क्ष' माताजी से पूछ लेती है अथवा जब कोई कार्यकर्त्री कोई काम हाथ में लेती है तो वह माताजी को सूचना देती है कि वह उनके लिये कुछ बनाना चाहती है, रूमाल, पेशबंद, छादन या साड़ी। जो चीज सुझायी जाती है उसे माताजी या तो स्वीकार कर लेती हैं या अस्वीकार कर देती हैं अथवा वे स्वयं कोई चीज सुझाती हैं या जिस चीज का प्रस्ताव किया गया है उसमें कुछ परिवर्तन कर देती हैं। इस प्रकार से किया गया काम भी उतना ही माताजी की इच्छा के अनुसार किया गया काम है जितना कि कोई ऐसा काम जिसका उपक्रम, विचार और आयोजन समूचे रूप में और हर ब्योरे में केवल उन्हींके द्वारा किया जाता है। मैं पूरी तरह से नहीं समझ पाता कि क्यों तुम्हें यह समझना चाहिये कि काम के इस ढंग का अर्थ है माताजी की इच्छा के साथ एकता का या तुम्हारी ओर से समर्पण का अभाव। महत्त्वपूर्ण वस्तु है

तुम्हारे भीतर आत्म-निवेदन का भाव और वही समय आने पर समर्पण की समग्र सम्पूर्णता ले आता है।

१७-९-१९३६

*

तुम किस चीज के लिये अनुमति चाहती हो यह मैं पूरी तरह से नहीं समझ पाया। यदि यह कसीदाकारी के विषय में है तो मैं तुमसे कह ही चुका हूं कि वर्तमान व्यवस्था के अनुसार चलना, अर्थात् जब सिलाई-कढ़ाई का कोई काम करने की इच्छा या अनुप्रेरणा तुम्हें हो तो उसे माताजी के सामने रखना और उनकी अनुमति ले लेना या उनके निर्णय के लिये प्रार्थना करना, माताजी की इच्छा के अनुसार कार्य करने के लिये बिलकुल ठीक तरीका है। यह समर्पण-भाव के साथ तनिक भी असंगत नहीं। परंतु यदि तुम हर चीज माताजी पर छोड़ना और अपने-आप कोई भी सुझाव या प्रस्ताव न रखना अधिक पसंद करती हो तो तुम वैसा कर सकती हो।

माताजी ने मुझसे केवल यह कहा था कि मैं तुम्हें यह लिख दूं कि यहां सामान्यतया ये चीजें किस ढंग से की जाती हैं। क्योंकि वे इन चीजों के बारे में स्वयं सोचने की आदी नहीं हैं, इसलिये कोई चीज स्मृति में लाना या सोचकर बताना उनके लिये उतना सरल नहीं जितना अपने सामने रखे गये सुझावों पर निर्णय करना।

१८-९-१९३६

अधीनता और सहकारिता सीखने की आवश्यकता

माताजी के निर्णयों के लिये उनके अपने खास कारण होते हैं। उन्हें केवल एक विभाग का या शाखामात्र का ख्याल न करके समूचे कार्य और व्यवस्था की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए सम्पूर्ण रूप से कार्य पर दृष्टि रखनी पड़ती है। यहां जो कोई कार्य किया जाता है उसमें मनुष्य को सदा अधीनता में रहना सीखना होता है या काम से संबंधित वस्तुओं के विषय में अपनी निजी भावनाओं और पसंदगियों को अलग रखना होता है तथा माताजी द्वारा निर्धारित शर्तों और निर्णयों के अनुसार उत्तम-से-उत्तम रूप में कार्य करना होता है। सारे आश्रम में यही मुख्य कठिनाई है, कारण कार्यकर्ता अपनी निजी भावनाओं के अनुसार, जिस तरीके को वह ठीक या सुविधाजनक समझता है,

उसीके अनुसार कार्य करना चाहता है और उसी के लिये अनुमति पाने की आशा करता है। यही कार्य के अंदर आनेवाली कठिनाई, संघर्ष या गोलमाल का प्रधान कारण है और स्वयं कार्यकर्ताओं के बीच, कार्यकर्ताओं और विभागों के अध्यक्षों के बीच, साधकों की भावना और माताजी की इच्छा के बीच विरोध उत्पन्न करता है। सामंजस्य केवल तभी रह सकता है जब सब लोग बिना ननुनच और व्यक्तिगत प्रतिक्रिया के माताजी की इच्छा को स्वीकार कर लें।

आश्रम में 'स्वतंत्र कार्य' नहीं है। सब कुछ सुसंगठित और परस्पर-सम्बद्ध है, और न तो विभागों के अध्यक्ष और न कार्यकर्ता ही स्वतंत्र हैं। समस्त सामूहिक कार्य के लिये अधीनता और सहकारिता को सीखना आवश्यक है; इसके बिना बस अस्तव्यस्तता ही आयेगी।

१०-३-१९३६

*

व्यक्तिगत विचारों के अनुसार कार्य की व्यवस्था करना माताजी के लिये असंभव है क्योंकि उस स्थिति में सारा कार्य ही असंभव हो जायेगा।

२५-७-१९३४

समुचित भाव के साथ कार्य करने के लिये महत्त्वपूर्ण बातें

अगर 'अ' को अपनी उदासी और बेचैनी से छुटकारा पाना हो तथा प्रसन्न और निश्चिंत होना हो तो उसे अपने मन में कुछ बातों को अवश्य बैठा लेना चाहिये। मैं यहां जो कुछ लिख रहा हूं उसे तुम स्पष्ट रूप में उसको समझा देना।

१. वह यहां, 'ब' के भतीजे के रूप में नहीं है, बल्कि माताजी के बच्चे के रूप में है।

२. वह यहां 'ब' की देखरेख, संरक्षण और अधीनता में नहीं है, बल्कि माताजी की अधीनता और देख-रेख में है और उसे केवल उन्हीं के प्रति वफादार होना चाहिये।

३. भंडार (Stores) में जो काम उसे दिया गया है वह माताजी का ही काम है और 'ब' का नहीं है; इसी भावना के साथ, माताजी के कार्य के रूप में, और दूसरे किसीके कार्य के रूप में नहीं, उसे वह काम करना चाहिये।

४. 'ब' भांडार, बगीचे और अन्नागार का अध्यक्ष है और वह माताजी से अपने लिये आदेश ग्रहण करता है अथवा स्वीकृति के लिये अपनी व्यवस्था की रिपोर्ट उनके पास भेजता है—ठीक वैसे ही जैसे कि 'स' 'बी. डी.' (गृह-निर्माण विभाग) में या 'द' भोजनगृह में या 'ई' अथवा 'फ' अपने विभागों में करते हैं। इन विभागों में काम करनेवाले अन्य लोगों के विषय में ऐसा समझा जाता है कि वे अध्यक्ष से अपने लिये आदेश ग्रहण करेंगे और उसीके अनुसार काम करेंगे। परंतु इसका कारण यह है कि कार्य में अनुशासन और सुव्यवस्था बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है; इसका यह अर्थ नहीं है कि वह काम 'ब' का है या गृहनिर्माण का कार्य 'स' का है अथवा भोजनगृह का कार्य 'द' का है—सब माताजी का कार्य है और प्रत्येक आदमी के द्वारा, जैसे अध्यक्ष के द्वारा वैसे ही अन्य लोगों के द्वारा, वह उन्हींके लिये किया जाना चाहिये। यदि प्रत्येक कार्यकर्ता स्वतंत्र होने और सीधे माताजी के प्रति उत्तरदायी होने या अपने निजी ढंग से कार्य करने का आग्रह करे तो काम कराना संभव नहीं होगा; यह मनोभाव बहुत फैला हुआ है और यही अधिकांश गोलमाल और अव्यवस्था का कारण है। माताजी समस्त कार्य को स्वयं भौतिक रूप से नहीं देख सकतीं और न प्रत्येक कार्यकर्ता को सीधे हुक्म दे सकती हैं, अतएव जो व्यवस्था की गयी है वह अनिवार्य है। दूसरी ओर यह भी माना जाता है कि विभाग का अध्यक्ष माताजी के निर्देशों के अनुसार—अथवा जब वह स्वतंत्र छोड़ दिया गया हो तब उन्हीं के भावों के अनुसार—कार्य करेगा, अन्यथा नहीं। अगर वह महज अपने ख्याल के अनुसार कार्य करता है या अपनी निजी व्यक्तिगत पसंदगियों और नापसंदगियों का अनुसरण करता है अथवा अपनी व्यक्तिगत संतुष्टि या सुविधा के लिये अपने दायित्व का दुरुपयोग करता है तो उसके फलस्वरूप कार्य में जो असफलता आयेगी या अनुचित मनोभाव उत्पन्न होगा या संघर्ष होगा या अस्तव्यस्तता या मिथ्या वातावरण उत्पन्न होगा उसके लिये वह उत्तरदायी होगा।

५. व्यक्तिगत रूप से 'ब' के लिये या अन्य किसी के लिये (आश्रम के लिये नहीं) जो कार्य किया गया है वह माताजी के कार्य का अंग नहीं है और उसके साथ माताजी का कोई संबंध नहीं है। यदि ऐसा कार्य करने को कहा जाये, तो 'अ' यदि वह चाहे तो, उसे करे या यदि उसे अनुचित समझे तो न करे।

६. 'अ' को कम-से-कम एक कार्य सीधे माताजी ने दिया है—वह है रसोईघर के बर्तन धोना। वह उसे माताजी के निर्देशों के अनुसार और खूब

सावधानी तथा पूर्णता के साथ करे; उसके लिये यह दिखलाने का यह एक सुअवसर होगा कि वह क्या कर सकता है और बाकी चीजें उसके बाद देखी जायेंगी।

७. वह 'ग' और 'ब' से भोजन या उपहार आदि स्वीकार करने के लिये बाध्य नहीं है; यदि उसे यह पसंद नहीं है तो वह इन चीजों को क्यों लेता है? वह अस्वीकार करने के लिये पूर्ण रूप से स्वतंत्र है। उसका यहां रहना तथा अन्य सभी बातें 'ब' पर निर्भर नहीं करतीं, बल्कि एकमात्र माताजी पर निर्भर करती हैं—अतएव उसे डरने का कोई कारण नहीं।

८. अंत में, उसे अपने प्राण को अशांति तथा कामनाओं से खाली कर देना चाहिये—क्योंकि उसमें, प्रत्येक मनुष्य की तरह ही, वही उदासी का मूल कारण है और, यदि वह कहीं अन्यत्र और कहीं अन्य परिस्थितियों में होता तो भी उदासी अवश्य आती क्योंकि मूल कारण तब भी वहां होता। यहांपर यदि वह संपूर्ण रूप से माताजी की ओर मुड़ जाये, उनकी ओर खुले और उन्हीं की ओर मुड़े हुए कार्य करे और रहे तो वह छुटकारा और प्रसन्नता पा लेगा और ज्योति और शांति में वर्धित होगा तथा अपनी समस्त सत्ता में भगवान् का बच्चा बन जायेगा।

१९-३-१९३२

*

तुमने यह बहुत अच्छा किया कि सब बातों को कहकर साफ कर लिया है। निश्चय ही, यह सर्वथा सत्य है कि आन्तर सत्ता को माताजी की ओर और केवल उन्हीं की ओर मोड़ना चाहिये।

जहांतक कार्य का संबंध है, अन्तर्विकास—चैत्य और आध्यात्मिक विकास—निश्चित ही, प्रथम महत्त्व की वस्तु है और निरे काम के रूप में काम एक सर्वथा गौण वस्तु है। परंतु माताजी के प्रति अर्पण के रूप में किया गया काम अपने-आपमें साधना का एक भाग और अन्तर्विकास का एक साधन एवं अंग बन जाता है। जैसे ही तुम्हारे अंदर चैत्य का विकास होगा तुम इस बात को अधिक देख पाओगे। इसके अतिरिक्त कार्य इसलिये भी महत्त्वपूर्ण है कि वह आश्रम के यथावत् चलते रहने के लिये आवश्यक है, जो (आश्रम) यहां माताजी के कार्य का बाहरी ढांचा है।

'अ' जो व्यक्तियों को महत्त्व देता है उसमें वह गलती पर नहीं है। यह बिलकुल ठीक है कि इस समय जिन व्यक्तियों के हाथ में कार्य का भार है वे

यदि न रहें और उनके स्थान पर दूसरे हों तो भी काम चलता रहेगा, पर अधिकतर विभागों में वह बुरे ढंग से चलेगा, या कम-से-कम आज की अपेक्षा खराब, और इस बात का कोई भरोसा नहीं होगा कि वे दूसरे अध्यक्ष माताजी की इच्छा के सक्षम यंत्र ही होंगे। उदाहरणार्थ, 'क', 'ख', 'ग' जैसे व्यक्ति विभागों के दायित्व का जो कार्य कर रहे हैं उसके लिये इन गुणों का संयोग आवश्यक है—विशिष्ट क्षमता, व्यक्तित्व, नियंत्रण की शक्ति जिसे संगठन कहा जाता है और सबसे बढ़कर विश्वासपात्रता तथा माताजी की इच्छा का अनुवर्तन, उनकी प्रत्यक्ष अनुभूतियों में श्रद्धा तथा उन्हें कार्यान्वित करने की इच्छा। आश्रम में ऐसे लोग बहुत नहीं जिनमें इन गुणों का संयोग है। आजकल आश्रम-भोजनालय (Aroumé) और धान्यागार (granaries) में जो कार्य होता है उसे माताजी ने जब 'क' के द्वारा सीधे अपने हाथ में लिया उससे पहले वहां गड़बड़घोटाला, अव्यवस्था, अपव्यय, असंयम, माताजी की इच्छा की अवहेलना—बस यही कुछ था। अब, यद्यपि अवस्था पूर्णतया निर्दोष होने से कहीं दूर है क्योंकि कार्यकर्ताओं में पूर्णता बिलकुल ही नहीं है, तथापि वह सब स्थिति परिवर्तित हो चुकी है। इस परिवर्तन में, पाकशाला में तुम्हारी और धान्यागार में 'द' की उपस्थिति ने बहुत महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया है। माताजी कार्य की जैसी व्यवस्था चाहती थीं उसे क्रियान्वित करना वहां तुम्हारी उपस्थिति के बिना कहीं अधिक कठिन होता और कार्य के इन दो भागों में तो वह असंभव तक होता। 'भागवत इच्छा' वहां अवश्य विद्यमान है पर वह व्यक्तियों के द्वारा ही कार्य करती है और एक तथा दूसरे यंत्र में बहुत अंतर होता है—यही कारण है कि व्यक्ति का इतना अधिक महत्त्व हो सकता है।

*

निश्चय ही, मैं नहीं कह सकता कि इस पत्र में तुमने जो विचार प्रस्तुत किये हैं वे सत्य हैं। वे उस भौतिक मन की भ्रांतियां हैं जो वस्तुओं-संबंधी वास्तविक सत्य को कदाचित् ही पकड़ पाता है। यह तथ्य नहीं कि जब-जब तुमने माताजी को 'अ' के बारे में लिखा तब-तब हर बार माताजी तुमसे नाराज या गुस्सा हुईं। इस प्रकार की बात साधक माताजी के संबंध में सदा ही सोचते और कहते रहते हैं, कि वे अमुक कारण से उनपर नाराज होकर गुस्सा हो रही हैं या अमुक कारण से उन्हें मुस्कान दे रही हैं। और अपने इस विचार या कथन के जो कारण वे लोग बताते हैं वे उनके अपने भौतिक मन के सुझाये होते हैं, पर माताजी की चेतना की किसी वस्तु से उनका कुछ भी संबंध नहीं होता,

क्योंकि उनकी चेतना में निरंतर खुशी और नाराजगी के बुलबुले नहीं उठते रहते। यह बात साधकों को समझाने के लिये मैंने बारंबार यत्न किया है, पर उन्हें यह मानना पसंद है कि उनके अपने मन निर्भ्रांत हैं और जो मैं कहता हूं वह असत्य है। इसलिये मैं यही कहूंगा कि तुम्हारा विचार अशुद्ध है।

यह भी तथ्य नहीं कि तुम साधना नहीं कर सकते, क्योंकि कुछ समय तक तो तुम इसे कर ही रहे थे और अच्छी तरह कर रहे थे। परंतु तुम्हारा स्थूल मन आड़े आया और वह तुम्हें भीतर जाने और रहने देने के स्थान पर बाहर ले गया और बाहर ही रखने का यत्न कर रहा है। यही कारण है कि मैं तुम्हें इस बात के लिये प्रेरित करने का यत्न करता आ रहा हूं कि तुम भीतर जाओ और भौतिक सत्ता के इन बाहरी विचारों और प्रतिक्रियाओं में निवास मत करो जो साधना को रोककर केवल कष्ट ही देते हैं।

यह सच नहीं कि माताजी चाहती हैं कि तुम 'अ' की कठपुतली बनो। जहांतक काम का प्रश्न है, यह बात जरा भी स्पष्ट नहीं कि जो कुछ तुम सोचते हो वह सब ठीक है और जो कुछ 'अ' करता है वह सब गलत। तुम अपने व्यक्तित्व की बात करते हो और यह कहते प्रतीत होते हो कि 'अ' काम में अपने व्यक्तित्व को दूसरों पर लादने की चेष्टा कर रहा है और तुम उसके विरुद्ध अपने व्यक्तित्व को ख्यापित करना चाहते हो और माताजी को चाहिये था कि वे तुम्हारा समर्थन करतीं, पर वे तुम्हारे व्यक्तित्व का तनिक भी ख्याल न करके उसे 'अ' के व्यक्तित्व के अधीन कर देने पर आग्रह करती हैं। परंतु माताजी इस विषय पर जरा भी इस दृष्टिकोण से नजर नहीं डालतीं, न वे किसी के व्यक्तित्व का ही ख्याल करती हैं। उनकी दृष्टि में तो, लोगों के व्यक्तित्वों का, अर्थात् उनके अहंकार का काम में कोई स्थान नहीं होना चाहिये। वह तुम्हारा काम नहीं या 'अ' का काम नहीं, बल्कि भगवान् का काम है, माताजी का काम है, और उसे तुम्हारे विचारों या भावों से या 'अ' के विचारों या भावों से या 'ब' या 'स' या 'द' के या किसी और के विचारों या भावों से नहीं, बल्कि माताजी की उस दिव्य दृष्टि, अनुभूति एवं इच्छाशक्ति से शासित एवं परिचालित होना चाहिये जो किसी मानवीय व्यक्तित्व को प्रकट नहीं करती (यदि वह करती तो इस आश्रम के अस्तित्व का औचित्य ही न होता), वरन् एक अधिक गहरी चेतना से उद्भूत होती है। लगभग प्रत्येक व्यक्ति में अपने निजी व्यक्तित्व की, अपने ही विचारों, भावों आदि की यह धारणा रही है और उसने उनपर ही आग्रह करने की थोड़ी-बहुत चेष्टा की है, और यह बात हमारे काम की पूरी सफलता और समरसता में भारी बाधक बनी है, यही अधिकतर

कठिनाइयों का और समस्त असामंजस्य एवं कलह का कारण रही है। हम चाहते हैं कि यह सब बंद हो जाये; क्योंकि जब यह पूर्ण रूप से बंद हो जायेगा तभी मतभेदों और उपद्रवों के बंद होने की कुछ संभावना होगी और यहां का कार्य उस प्रयोजन को अधिक अच्छी तरह पूरा करेगा जिसके लिये माताजी ने इसकी सृष्टि की थी। इसी कारण मैं तुम्हें अपने व्यक्तित्व को गौण स्थान देने, भगवान् के लिये कर्म करने, अपने निजी व्यक्तित्व एवं अहंकार को तथा अपने विचारों एवं भावों को महत्त्वपूर्ण वस्तु मानकर उनपर आग्रह न करने की आवश्यकता समझाने का यत्न करता आ रहा हूं। अब रहा यह प्रश्न कि काम में 'अ' के और तुम्हारे बीच क्या संबंध हो—यह मैं दूसरे पत्र में लिखूंगा क्योंकि आज इससे अधिक समय नहीं है।

४-७-१९३७

पुनश्च—जब मैं यह कहता हूं कि तुम गलती पर हो या जब मैं तुमसे सहमत नहीं होता, तब तुम यह सोचते प्रतीत होते हो कि मेरे पत्र नाराजगी प्रकट करते हैं और कि मेरी तुमसे असहमति का अर्थ यह है कि तुम जो मुझे अपने विचार लिखते रहते हो उसके कारण मैं तुमसे तंग आ गया हूं; पर बात ऐसी नहीं है। यदि मैं तुम्हारी लिखी बातों का उत्तर देता हूं तो अवश्य ही वह तुम्हें यह बताने के लिये होता है कि चीजों को देखने और काम करने का वह कौन-सा ढंग है जो मुझे और माताजी को ठीक प्रतीत होता है। वह किसी प्रकार की नाराजगी को सूचित नहीं करता।

*

मैं नहीं समझता कि मैंने कहीं यह कहा था कि तुमने अपने काम में 'अ' के निर्देशों के विपरीत कोई चीज की है। मैं तो, उसके काम करने के ढंग की आलोचना में तुमने जो लिखा था उसीके बारे में कुछ कह रहा था, और विशेषकर मैं तुम्हारा यह विचार दूर करना चाहता था कि उसके निर्देशों के अधीन काम करने की आवश्यकता का अर्थ है तुम्हारे व्यक्तित्व की अवहेलना या माताजी की तुम्हें 'अ' की कठपुतली बनाने की इच्छा। जहां कोई बड़ा काम होता है जिसमें अनेकों आदमी मिलकर किसी ऐसे उद्देश्य के लिये कार्य कर रहे होते हैं जो सबका साझा होता है और किसी का व्यक्तिगत नहीं, वहां वह काम तबतक नहीं किया जा सकता जबतक कोई ऐसी नियत व्यवस्था न हो जिसके अंदर प्रत्येक कार्यकर्ता में अधीनता और अनुशासन की वृत्ति भी

समाविष्ट हो। यह बात केवल यहीं नहीं सभी जगह ऐसी ही है। 'अ' को माताजी के अधीन कार्य करना, उनके निर्देशों पर चलना, उनके दिये हुए विचारों के अनुसार कार्य करना होता है। उन्होंने वे कार्य-सरणियां निर्धारित कर दी हैं जिनके अनुसार उसे कार्य करना होगा, और वह जो कुछ भी करे वह सब अवश्यमेव उन्हीं सरणियों पर आधारित होना चाहिये। वह उन्हें बदलने के लिये या उसे दिये गये विचारों के विपरीत कुछ करने के लिये स्वतंत्र नहीं। जहां वह काम के ब्योरों के बारे में कुछ एक निर्णय करे वहां वे इन सरणियों और विचारों के साथ संगत होने चाहियें। उसे सभी मामलों में माताजी को सूचना देनी एवं उनकी अनुमति लेनी होती है और उनके निर्णयों को स्वीकार करना होता है। यदि माताजी के निर्णय उसके प्रस्तावों के विपरीत हों अथवा क्या करना चाहिये इस विषय में उसके अपने विचारों के विरुद्ध हों तो भी उसे उन्हें स्वीकार कर कार्यान्वित करना होता है। यह धारणा गलत है कि भोजनालय का काम माताजी के नहीं वरन् उसके विचारों के अनुसार चलता है। परंतु यह सब केवल काम की आवश्यकता के वश ही ऐसा किया जाता है, यह 'अ' के व्यक्तित्व की अवहेलना नहीं। इसी प्रकार तुम्हें भी 'अ' के निर्देशों के अनुसार चलना होगा क्योंकि माताजी ने उसे इस काम का भार सौंपा है और उसे यह अधिकार दिया है। भोजनालय के सभी कार्यकर्ताओं का दर्जा एकसमान है और ऐसा समझा जाता है कि वे उसके निर्देशों का पालन करेंगे तथा अपने कार्य के विषय में उसे सूचना देते रहेंगे, क्योंकि वह हर चीज के लिये माताजी के प्रति सीधे जिम्मेवार है और जबतक उसे यह अधिकार न हो, वह अपना दायित्व नहीं निभा सकता। इसी प्रकार पाकशाला में 'ब' को तुम्हारे निर्देशों के अनुसार कार्य करने के लिये कहा गया है क्योंकि तुम पाकशाला के अध्यक्ष हो। यह सब तुम्हारे व्यक्तित्व या 'ब' के व्यक्तित्व की अवहेलना या 'अ' के व्यक्तित्व की संस्थापना नहीं—यह तो केवल कार्य की एक अनिवार्य व्यवस्था है जो इस व्यवस्था के अभाव में निर्विघ्न सम्पन्न नहीं हो सकता। यही वह बात है जिसे, मैं चाहता था कि तुम समझ लो ताकि तुम यह देख सको कि क्यों माताजी यह चाहती थीं कि तुम ऐसा करो, किसी और कारण से नहीं बल्कि कार्य की आवश्यकता के वश और इसलिये भी कि वह निर्विघ्न संपन्न हो सके।

दूसरी ओर, क्योंकि तुम एक कार्य के अध्यक्ष हो और उसका क्रियात्मक संचालन तुम्हारे हाथों में है, अतः तुम्हें हर प्रकार का अधिकार है कि उसमें जो कोई भी कठिनाइयां आयें उन्हें 'अ' के सामने रखकर उनका हल पूछो।

उधर, उसे बहुधा तुमसे सूचना पाने की आवश्यकता होगी और यह जानने की आवश्यकता भी हो सकती है कि तुम्हारी समझ में क्या किया जाना चाहिये। किन्तु यदि यह सब जानने के बाद भी वह, क्या करना चाहिये इस विषय में तुम्हारे नहीं अपने विचार पर चलना ठीक समझे तो तुम्हें उसका कुछ ख्याल नहीं करना चाहिये। जिम्मेवारी उसी की है और उसे, माताजी की अनुमति के अधीन, अपने ही ज्ञानालोकों के अनुसार कार्य करना होगा। जब तुम उसे सूचना दे देते और अपना विचार बता देते हो तो तुम्हारी जिम्मेवारी समाप्त हो जाती है। यदि उसका निर्णय गलत हो तो उसे बदलना माताजी का काम है।

मैं आशा करता हूं कि मैंने सारी स्थिति स्पष्ट कर दी है। 'अ' के विचारों से सहमत होना तुम्हारे लिये आवश्यक नहीं, न ही इस कार्य के क्षेत्र से बाहर तुम उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करने के लिये किसी प्रकार से बाध्य हो। वहां तुम सर्वथा स्वतंत्र हो। केवल इस कार्य में ही यह एक व्यवहारगत आवश्यकता है—और यह है इस कार्य की ही खातिर।

मैंने इतना अधिक इसलिये लिखा है कि तुम जानना चाहते थे कि माताजी तुमसे क्या करने की आशा करती हैं। इसका प्रयोजन तुमपर दबाव डालना नहीं, वरन् केवल कुछ चीजों की व्याख्या करना है और तुम्हें वह ढंग और कारण बताना है जिससे कि उन्हें करना आवश्यक है।

५-७-१९३७

*

जहांतक साधना का प्रश्न है, यह बात ठीक नहीं कि कुछ लोग यहां केवल इसलिये हैं कि वे धन देते हैं और दूसरे इसलिये कि वे केवल काम करनेवाले हैं। सच बात यह है कि ऐसे बहुत-से लोग हैं जो अपने-आपको केवल कार्य के द्वारा ही तैयार कर सकते हैं, उनकी चेतना अभी अधिक प्रगाढ़ ढंग के ध्यान के लिये तैयार नहीं होती। परंतु जो लोग शुरू से ही तीव्र ध्यान कर सकते हैं उनके लिये भी कर्म के द्वारा साधना इस योग में आवश्यक है। व्यक्ति केवल ध्यान से ही इसके लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकता। जहांतक तुम्हारी अपनी क्षमता का प्रश्न है, वह प्रत्यक्ष ही थी जब काफी लम्बे समय तक तुम्हारे अंदर सक्रिय साधना चल रही थी। तथापि प्रत्येक मनुष्य की क्षमता सीमित ही होती है—व्यक्ति की केवल अपनी सामर्थ्य से तो बहुत ही कम किया जा सकता है। भागवत शक्ति पर, माताजी की शक्ति और ज्योति पर निर्भरता और उसकी ओर उद्घाटन ही वास्तविक क्षमता है। यह तुम्हारे अंदर कुछ समय तक थी,

पर जैसा कि दूसरे बहुत-से लोगों के साथ हुआ, यह भौतिक प्रकृति के, पूरे बल के साथ, उभर आने के कारण आच्छादित हो गयी। इस प्रकार की आच्छन्नता साधना के इस सोपान में प्रायः हर एक व्यक्ति में आती है, पर वह स्थायी हो यह जरूरी नहीं। यदि भौतिक चेतना अपने-आपको खोलने का दृढ़ निश्चय कर ले तो साधना में प्रगति के लिये और किसी चीज की जरूरत नहीं।

१०-७-१९३७

*

यदि तुम इसे पूरी तरह से माताजी पर छोड़ दो तो वे तुमसे यही चाहेंगी कि तुमने अपने पत्रों में जो चीजें गिनायी हैं उनसे अपने को क्षुब्ध या विचलित होने दिये बिना और अपने ही विचारों या प्राणिक भावों पर आग्रह किये बिना तुम अपना काम जितना अधिक-से-अधिक अच्छी तरह कर सकते हो, करते चले जाओ। निःसन्देह यही वह नियम है जिसका अनुसरण सभी को करना चाहिये, अर्थात् यहां अपने काम को अपना नहीं, माताजी का काम मानकर करना; कार्यकर्ता को यह आग्रह नहीं करना होगा कि काम उसके विचारों के अनुसार किया जाये; क्योंकि उसका अर्थ होगा काम को माताजी का नहीं अपना काम समझना। यदि कठिनाइयां और असुविधाएं हो, काम उस ढंग से न किये जाते हों जो उसे पसंद है, तो भी उन परिस्थितियों के बीच वह अपना काम जितना अधिक-से-अधिक अच्छी तरह कर सकता है, उसे करते ही जाना चाहिये। यही है साधना का नियम, बाहरी परिस्थितियों की बिलकुल परवाह न करना और व्यक्ति को जो कुछ करना होता है तथा जो कुछ वह कर सकता है वह सब शांत भाव से करना और शेष सब कुछ माताजी पर छोड़ देना। यह मानते हुए भी कि जिसे वह ठीक समझता है वही सर्वोत्तम है, इसी क्षण हर वस्तु को निर्दोष रूप से पूर्ण बना लेना संभव नहीं। आश्रम में तथा काम में ऐसा बहुत कुछ है जो वैसा पूर्ण नहीं जैसा माताजी उसे बनाना चाहेंगी, परंतु वे यह भी जानती हैं कि जिस पूर्णता को वे पसंद करेंगी वह परिस्थितियों के कारण तथा उनके यंत्रों की त्रुटि के कारण अभी संभव नहीं। इस समय जो संभव है उसके अनुसार वे सब चीजों की व्यवस्था अधिक-से-अधिक भले के लिये करती हैं। कार्यकर्ताओं को अपना काम माताजी के प्रबंध एवं व्यवस्था के अनुसार इसी भावना से करना चाहिये और उसे अपने काम का उपयोग माताजी के प्रति भक्ति, आज्ञाकारिता और आत्मोत्सर्ग के भाव में आध्यात्मिक

दृष्टि से विकसित होने के साधन के रूप में करना चाहिये तथा अपने-आपे पर, अपने विचारों, भाव-भावनाओं और पसंदगियों पर आग्रह नहीं करना चाहिये। ऐसा करने में समर्थ होना चेतना को अंतरानुभव के लिये तथा साधना में प्रगति के लिये तैयार कर देता है।

माताजी क्या चाहती हैं और वैसा क्यों चाहती हैं यह समझाने का मैंने यत्न किया है। वे चाहती हैं कि तुम उनका काम शांत भाव से करो, सभी असुविधाओं, त्रुटियों और कठिनाइयों को शांत भाव से देखो, और अपना काम भरसक यत्न से करो; 'क्ष' जो कुछ करता या जो व्यवस्था करता है उससे तुम्हें क्षुब्ध नहीं होना चाहिये—यदि वह भूलें करता है तो उनके लिये माताजी के प्रति उत्तरदायी है और तब क्या करना चाहिये यह देखना माताजी का काम है। बस, माताजी तुमसे यही चाहती हैं—यदि तुम ऐसा कर सको तो सब काम अधिक निर्विघ्न रूप से चलेगा और वे उसे अधिक आसानी से अपनी अभीष्ट दिशा में ले जा सकेंगी। जैसा कि मैंने तुम्हें समझाने की चेष्टा की है, यह तुम्हारी अपनी साधना के लिये भी सर्वोत्तम बात है।

५-७-१९३७

*

तुम्हें याद ही होगा कि मैंने तुम्हें पहले लिखा था कि माताजी चाहती हैं कि तुम शांत रहो और इन चीजों से अपने को विक्षुब्ध होने दिये बिना, वर्तमान परिस्थितियों में जितनी अच्छी तरह से काम कर सकते हो करो। आश्रम में जीवन और कर्म की अवस्थाओं में किसी भी प्रकार का सुधार इसपर निर्भर करता है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रगति के लिये तथा भीतर सच्ची चेतना की ओर खुलने के लिये यत्न करे, भीतर आध्यात्मिक तौर पर विकास करे तथा दूसरों के दोषों या आचार-व्यवहार पर ध्यान न दे। बाहरी उपायों से किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता; इसी कारण साधकों के पारस्परिक संघर्षों और मतभेदों में बाहरी तौर पर हस्तक्षेप करना माताजी ने दीर्घकाल से बंद कर दिया है। हरएक को अंदर से उन्नति करने दो और ऐसा होने पर ही बाहरी कठिनाइयां या तो मिट जायेंगी या फिर नगण्य रह जायेंगी।

२१-४-१९३८

*

यह बिलकुल असंभव है कि तुम्हें रसोईघर से हटा दिया जाये और तुम्हारे

स्थान पर कार्य करने के लिये तुम्हारे दूसरे सहकारियों को वहीं रहने दिया जाये। ऐसा हल तुम्हारे लिये बहुत खराब होगा; क्योंकि इसका अर्थ होगा कि तुम उस काम को खो बैठोगे जिसमें दीर्घकाल से माताजी की शक्ति तुम्हारे साथ रही है, और तुम अपने कमरे में अपने विचारों को अपने साथ लिये बैठे रहोगे जो तुम्हारे लिये सहायक नहीं होगा, न तुम्हारी क्रियाशील प्रकृति के ही अनुकूल होगा। यह रसोईघर के लिये भी बहुत बुरा होगा; तुम्हारे स्थान की पूर्ति वहां काम करनेवाले और किसी भी व्यक्ति से नहीं हो सकती, वे व्यक्ति अपनी सीमाओं में कितनी भी अच्छी तरह से काम क्यों न करें—माताजी ने तुम्हें जो उत्तरदायित्व सौंप रखा है वह उनमें से किसी के भी सुपुर्द नहीं किया जा सकता।

तुम्हें जो कठिनाइयां हैं वे वही हैं जो आश्रम के प्रत्येक विभाग और कार्यालय में हमारे सामने आती हैं। उनका कारण होता है साधकों की त्रुटियां, उनकी प्राणिक प्रकृति। तुम्हारा यह सोचना गलत है कि वे वहां तुम्हारी उपस्थिति के कारण पैदा होती हैं और कि यदि तुम वहां से हट जाओ तो सब काम बिना विघ्न के चलने लगेगा। उनके अपने बीच भी वही-की-वही स्थिति चलती रहेगी, वही मतभेद, कलह, ईर्ष्या-द्वेष, कठोर शब्द, एक दूसरे की कर्कश आलोचनाएं। 'अ' की या किसी और की तुम्हारे विरुद्ध शिकायतों का कारण यह है कि तुम अपनी व्यवस्था में दृढ़ और सावधान हो; 'ब' तथा अन्य जो साधक माताजी द्वारा सौंपे काम को अति सूक्ष्मता एवं सावधानता के साथ और सम्यक्तया संपादित करते हैं उनके विरुद्ध भी यही या ऐसी शिकायतें हैं। उनके विरुद्ध भी वही शिकायतें और ईर्ष्या-द्वेष देखने में आते हैं जिनका लक्ष्य रसोईघर में तुम्हें बनाया जाता है और इनका कारण है उनकी पद-प्रतिष्ठा और उनके द्वारा उसका प्रयोग। 'ब' या दूसरे लोगों के लिये, जिनपर माताजी को विश्वास है, यह कोई समाधान नहीं होगा कि वे काम से पीछे हटकर अपना स्थान उनके लिये छोड़ दें जो अपना कर्तव्य कम बारीकी और सावधानी से तथा कम अच्छी तरह करेंगे। तुम्हारे संबंध में तथा रसोईघर के काम के बारे में भी यही बात है; यह कोई हल नहीं। हल तो केवल साधकों के आचरण में साधना की प्रक्रिया द्वारा लाये गये परिवर्तन से ही हो सकता है। तबतक तुम्हें समझदारी के साथ धीरज रखना चाहिये तथा दूसरों के अशुद्ध व्यवहार से अपने को क्षुब्ध नहीं होने देना चाहिये, बल्कि 'ब' और माताजी ने तुम पर भरोसा रखकर तुम्हें जो सहारा दिया है उससे अपने को संभाले रखकर अपना काम शांत भाव से, भरसक अच्छे-से-अच्छे ढंग से करते रहना चाहिये। यह

माताजी का काम है और इसे करने में तुम्हें सहायता देने के लिये माताजी वहां विद्यमान ही हैं; उसपर भरोसा रखो और शेष किसी भी वस्तु को अपने ऊपर प्रभाव न डालने दो।

१४-७-१९३५

*

तुम्हारे प्रति घृणा का भाव दर्शानेवाले लोगों का तुमने जो वर्णन किया है उससे मुझे विशेष रूप से आश्चर्य हुआ है। 'अ' को जिसका यहां कोई प्रसंग ही नहीं, यदि छोड़ दिया जाये तो तुम्हारे साथ काम करनेवाला एक भी आदमी ऐसा नहीं जो साधना में बहुत आगे बढ़ा हुआ हो या जिसे माताजी दूसरों की अपेक्षा अधिक विशेष रूप में अपना समझती हों। निःसंदेह तुम उतने ही उनके अपने हो जितना पाकशाला में काम करनेवाला और कोई भी व्यक्ति; उन्होंने सदैव तुम्हें अपना बच्चा और नन्हां सितारा माना है और इससे अधिक कोई क्या हो सकता है? इसलिये मुझे इस बात का कोई कारण नहीं दीखता कि यदि कोई आदमी तुम्हारे साथ ठीक से व्यवहार नहीं कर रहा तो तुम्हें इसका इतना ख्याल क्यों करना चाहिये। मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूं कि आश्रम में लोग अपनी बाह्य सत्ता में अहंकार और अयुक्त विचारों एवं अयुक्त चेष्टाओं से अभी मुक्त नहीं हुए और यह बात उन लोगों के बारे में भी सत्य है जिन्हें आंतरिक अनुभूतियां होती हैं और जो कुछ खुले हुए हैं। किंतु इस बात से दुःखी या उदास होने का कोई लाभ नहीं। तुम्हारे लिये आवश्यक कर्तव्य यह है कि तुम केवल माताजी की ओर मुड़े रहो और उनपर भरोसा रखते हुए अपने काम और साधना में शांतभाव से आगे बढ़ते जाओ जबतक साधक इतने काफी जागरित और परिवर्तित नहीं हो जाते कि एक-दूसरे के साथ कहीं अधिक समस्वरता और एकता की आवश्यकता अनुभव करने लगें। तुम्हारे लिये केवल तुम्हारे आध्यात्मिक परिवर्तन और प्रगति का ही महत्त्व होना चाहिये और इसके लिये माताजी की शक्ति एवं उनकी कृपा में, जो तुम्हारे संग है, पूर्णरूप से विश्वास रखो—अपने-आपको वस्तुओं या व्यक्तियों से चलायमान मत होने दो,—क्योंकि माताजी की चेतना की पूर्ण ज्योति की और अन्तःस्थित सत्य की तुलना में इन वस्तुओं का कोई महत्त्व नहीं।

६-१२-१९३५

*

मुझे नहीं मालूम क्यों तुम यह कल्पना करते हो कि माताजी तुम्हारे पत्र के

कारण तुमसे रुष्ट हैं। मैं समझता हूं कि मेरा उत्तर काफी कृपापूर्ण था और उसमें अप्रसन्नता की जरा भी गंध नहीं थी। तुमने जो लिखा था उसमें से अधिकांश के बारे में मैं मौन ही रहा, क्योंकि जब इस प्रकार के पत्र आते हैं तो मैं उन्हें इस रूप में लेता हूं कि वे मन को हल्का करने के लिये लिखे गये हैं और जहांतक वे दूसरे लोगों से संबंध रखते हैं वहांतक मैं या तो सदा ही मौन रहता हूं या फिर यह कहता हूं कि साधकों के दोषों, त्रुटियों और भूलों से छुटकारा पाने के लिये हमें आंतरिक चेतना के विकास पर भरोसा रखना होगा। मौन का अर्थ यह नहीं कि उनमें ये दोष और भूलें हैं ही नहीं। बल्कि सभी में नाना रूपों में दोष विद्यमान हैं तथा सभी भूलें करते हैं और श्रेष्ठ साधक भी उनसे मुक्त नहीं। मानवीय तरीका है भूल करनेवाले पर गुस्सा होना, उसे डांटना-फटकारना तथा उसकी निंदा करना और यदि माताजी वैसा नहीं करतीं तथा उसके प्रति कठोर नहीं होतीं तो यह सोचना कि वे अन्याय या पक्षपात करती हैं या अपने प्यारों के दोष नहीं देखतीं या उनके प्रति जानबूझ कर आंख मूंदती हैं। परंतु माताजी उनके प्रति अंध नहीं; वे सभी साधकों का स्वभाव अच्छी तरह जानती हैं, उनके गुणों की तरह ही उनके दोष भी, वे यह भी जानती हैं कि मानव की प्रकृति कैसी है और ये चीजें कैसे आती हैं और इनके साथ निपटने का मानवीय ढंग ठीक ढंग नहीं और उससे कुछ भी अंतर नहीं आता। यही कारण है कि उनमें केवल कुछ-एक साधकों के लिये नहीं बल्कि उन सभी के लिये धैर्य, प्रेम और उदारता है जो अपने काम या साधना में सच्चे हैं।

यह भी विचित्र बात है कि तुम यह परिणाम निकालो कि वे तुम्हारी कोई कीमत नहीं समझतीं। शुरू से ही माताजी की तुमपर विशेष कृपा रही है; उन्होंने इतनी स्थिरतापूर्वक तुम्हारी सराहना और तुम्हारा समर्थन किया है कि लोगों ने उनपर तुम्हारे प्रति अंधे पक्षपात का दोष लगाया है, ठीक वैसे ही जैसे वे 'अ' के संबंध में उनपर दोष लगाते हैं। जब तुम सुझावों और विद्रोहों को लेकर कष्ट और कठिनाई में थे तब वे तुम्हारे लिये मूर्तिमंत प्रेम और धैर्य ही थीं और उन्होंने उस सबके बीच तुम्हें सहायता और सहारा दिया। उसके बाद जब से तुम्हारी साधना खुलकर चलने लगी तबसे हम उत्सुकता-पूर्वक उसकी देख-रेख करते आ रहे हैं,—मैं तुम्हारे पत्रों के उत्तर लिखने के लिये, तुम्हें जो जानना चाहिये उसका ज्ञान तुम्हें देने के लिये, प्रेम और सतर्कता के साथ तुम्हें आगे ले चलने का यत्न करने के लिये प्रतिदिन समय लगाता रहा हूं। यह सब किया ही क्यों जाता यदि हमें तुम्हारी कोई कदर न होती?

तुम ये बातें जानते हो परंतु तुम्हारा स्थूल मन अतीव सक्रिय हो उठा है और उसने कुछ समय के लिये तुम्हारे बोध को आच्छादित कर दिया है। तुम्हें उससे पीछे हटकर अपनी अन्तःस्थ आत्मा में लौट आना होगा।

३०-८-१९३६

*

मैंने लिखा था कि तुम्हारा पत्र तुमपर पुरानी चेतना के आक्रमण को दर्शाता है क्योंकि उसमें यह स्वर गूंज रहा है, "मैं इन चीजों को नहीं सहने का—मेरे लिये यहां से चले जाना ही अच्छा है इत्यादि।" ये पुराने सुझाव हैं, न कि तुम्हारी आंतरिक सत्ता की अन्तर्वृत्ति जो यह थी—अपने-आपको दे देना और सब कुछ माताजी पर छोड़ देना, तुम्हारी अन्तःसत्ता की वृत्ति को विस्तृत होकर इन बाह्य वस्तुओं के प्रति तुम्हारी वृत्ति में भी व्याप्त हो जाना होगा—यह जानते हुए कि जो कोई भी त्रुटियां हैं उन्हें प्रत्येक व्यक्ति को अपने अंदर क्रिया करके वहां-से दूर करना होगा, ठीक वैसे ही जैसे तुम्हें अपनी न्यूनताएं माताजी की सहायता से और तुम्हारे भीतर उनकी क्रिया से अपने अंदर से दूर करनी हैं।

यह सब तो रहा तुम्हारे पिछले पत्र के संबंध में। अब इस नये पत्र के विषय में—जो कुछ तुम देखते हो उसे कह देना तो बिलकुल ठीक है पर तुमने जो लिखा है उसमें तुमने एक निर्णय भी दिया है जो तुमने अपने देखे हुए के आधार पर किया है। ये निर्णय तुमने उन तथ्यों के वर्णन में प्रकट किये हैं जिन्हें तुम 'क्ष' के अशुद्ध प्रेरक भाव, कार्य और भूलें समझते हो। तुमने अपने ये वक्तव्य और निर्णय माताजी के सामने रखे हैं—पर किसलिये? इसलिये न कि वे कुछ कार्रवाई कर सकें? किंतु उसके लिये तो उन्हें अपने-आप निर्णय करना होगा, और ऐसा वे बिना तथ्यों के, बिना ठीक-ठीक तथ्यों के नहीं कर सकतीं—किसी के द्वारा दिये गये सामान्य वक्तव्य के आधार पर वे कोई कार्रवाई नहीं कर सकतीं। जिस व्यक्ति पर 'क्ष' अंधवत् विश्वास करता है उसका नाम यदि बता दिया जाये तभी वे इस बारे में निर्णय कर सकती हैं कि 'क्ष' उसपर विश्वास करने में गलती पर है या नहीं। यदि वह (क्ष) कुछ लोगों की बात पर तो ध्यान देता है और दूसरों की बात पर नहीं, तो माताजी को यह अवश्य पता लगना चाहिये कि ये लोग कौन हैं और वे परिस्थितियां क्या हैं जिनमें उसने ऐसा किया; केवल तभी वे निर्णय कर सकती हैं कि वह ऐसा करने में ठीक है या गलत। हर मामले में यही बात लागू होती है। 'क्ष' के

विरुद्ध दूसरों ने भी अनेकों सामान्य वक्तव्य दिये हैं, पर जब कभी विवाद में विशेष ब्योरों की बात उठी है तो माताजी ने देखा है कि उन्हें उसके निर्णय को केवल कभी-कभार ब्योरों में ही बदलने की जरूरत पड़ी, उसका किया हुआ सामान्य प्रबंध तो उन सरणियों के अनुसार ही था जिन्हें श्रीमां ने उसके लिये अनुसरणार्थ निर्धारित किया था। बात कहने के ढंग, चरित्र के दोष, ब्योरों के बारे में निर्णय की भूलें—ये अलग विषय हैं। ये हर एक में होते हैं और, जैसा कि मैं बहुधा कह चुका हूं, इन्हें अंदर से बदलना होगा; पर मैं बाहरी वस्तुओं, अमुक-अमुक कार्यों, काम करने के किन्हीं विशेष तरीकों के बारे में कह रहा हूं। इन विषयों में उसके कार्य में जिस बात की शिकायत हो वह माताजी को ठीक-ठीक तथ्यों के साथ बतानी आवश्यक है। यदि तुम भोजनालय और रसोई-घर (Auroumé) के काम के बारे में सामान्य शिकायत नहीं कर रहे, बल्कि विशेष रूप में अपने संबंध में तथा अपने काम के बारे में शिकायत कर रहे हो तो वहां भी, उसने क्या किया है या उसके काम में क्या चूक हुई है, इसके सुनिश्चित तथ्य तुम्हें पहले प्रस्तुत करने होंगे, उसके बाद ही माताजी निर्णय कर सकती या कुछ कह या कर सकती हैं। तुम्हारे काम के या तुम्हारे बारे में वह कौन-सी बात है जो उसने माताजी को सूचित नहीं की या गलत रूप में बतायी है? वे क्या सुविधाएं हैं जो उसने तुम्हें नहीं दीं।

यह सब मैंने इसलिये लिखा है कि तुम माताजी से यह आशा करते दीखते हो कि वे कुछ करेंगी। पर उनके लिये यह जानना आवश्यक है कि वह चीज क्या है, उसका आधार क्या है और क्या वे कार्य को लाभ पहुंचाती हुई उसे कर सकती हैं या नहीं। भोजनालय और पाकशाला में अहं के झगड़े और उसकी टक्करें भरपूर रही हैं, पर उस सबको तो वे अपनी कार्रवाई के आधार के रूप में स्वीकार नहीं कर सकतीं; इन चीजों में वे किसी एक का पक्ष नहीं लेतीं, न किसी दूसरे का विरोध ही करती हैं। उन्हें तो इस बात का विचार करना होता है कि काम के लिये क्या उचित या आवश्यक है।

३-१०-१९३६

*

तुम्हारे और 'क्ष' के बीच जो घटनाएं घटी हैं उनका तुमने जैसा वर्णन किया है उसके अनुसार वे सभी तुच्छ बातें हैं और दोनों ओर से थोड़ी-सी सद्भावना एवं सदिच्छा उन्हें महत्त्व से वञ्चित कर देने के लिये और उनसे पैदा हो सकनेवाले किसी प्रकार के तनिक क्षोभ पर विजय पाने के लिये पर्याप्त होनी

चाहिये। झगड़े इस कारण हुआ करते हैं और बने रहते हैं कि प्रत्येक पक्ष यह सोचता है कि दूसरा गलती पर है और उसने दुर्व्यवहार किया है; किन्तु प्राणिक कलह में कोई भी पक्ष ठीक नहीं हो सकता। इस प्रकार से झगड़ने की बात ही दोनों को गलत सिद्ध कर देती है। और फिर, यह ठीक नहीं कि व्यक्ति दूसरे से शासित या नियंत्रित होने के बारे में इतना संवेदनशील हो। विशेषकर काम में मनुष्य को ऐसे किसी भी व्यक्ति का नियंत्रण स्वीकार करना ही होगा जिसे माताजी कार्य-भार सौंपती हैं,—पर केवल वहींतक जहांतक उस काम का संबंध है। दूसरे विषयों में वह, संबंधों को तोड़े बिना या किसी प्रकार का झगड़ा किये बिना, अपनी उचित स्वतंत्रता बनाये रख सकता है।

तुम्हारा काम या तुम्हारा निवासस्थान बदल देना, चाहे यह वर्तमान परिस्थितियों में संभव हो तो भी, कतई लाभदायक नहीं होगा। जिसे ठीक रखने की जरूरत है वह है अन्तर्वृत्ति, सामञ्जस्य के लिये संकल्प पूर्ण रूप से स्थापित करना होगा। कार्य का परिवर्तन यथार्थ उपाय नहीं। घर में अच्छे वायुमंडल या बुरे वायुमंडल का विचार भी एक ऐसी चीज है जिसे प्रश्रय नहीं देना चाहिये। मनुष्य को अपना निजी वायुमंडल बनाना होगा जिसमें दूसरे प्रभाव प्रवेश ही न पा सकें और माताजी के साथ अन्तर्मिलन एवं घनिष्ठता के द्वारा वह ऐसा सदा ही कर सकता है।

२-१०-१९३५

*

तुमने जो लिखा है वह निःसंदेह ठीक है। कार्यकर्ताओं के मन में ये बहुत ही गलत विचार हैं, यह मनोवृत्ति बिलकुल ठीक नहीं। परंतु हमें काम साधकों की संतुष्टि के लिये नहीं करना वरन् असल में इसलिये करना है कि वह माताजी का काम है, भगवान् का काम है, और अतएव उसे अच्छी तरह तथा ठीक ढंग से करना है। यदि कार्यकर्ता तथा दूसरे लोग संतुष्ट नहीं होते तो भी उसे अच्छी तरह और ठीक ढंग से करना है। जब उनकी प्रकृति बदलेगी और वे अपनी भूल देख पायेंगे तब वे सत्य को पहचान कर अपनी मनोवृत्ति बदल लेंगे। कुछ लोगों में सदिच्छा है और उन्हें केवल अधिक साफ-साफ देखना सीखना है और अपने मानसिक मिथ्या-निर्णयों से मुक्त होना है। दूसरे लोग अधिक तमोग्रस्त तथा अहंपूर्ण हैं और उन्हें ठीक संतुलन प्राप्त करने में अधिक समय लगेगा। जबतक वैसा नहीं हो जाता तबतक हमें शांत दृढ़ता, दृढ़ निश्चय और महान् धैर्य के साथ आगे बढ़ते जाना होगा।

आश्रम का कार्य और माताजी का कार्य

अगर यह माताजी का कार्य नहीं है तो और किसका है? जो कुछ तुम करते हो उस सबको तुम्हें माताजी के कार्य के रूप में ही करना चाहिये। आश्रम में होनेवाले सभी कार्य माताजी के हैं।

वे सभी कार्य, ध्यान, "वार्तालाप"[१] का पढ़ना, अंग्रेजी सीखना इत्यादि अच्छे हैं। तुम उनमें से किसी कार्य को उसे माताजी को उत्सर्ग करके कर सकते हो।

ध्यान का अर्थ है अपने-आपको माताजी की ओर खोलना, अपनी अभीप्सा के ऊपर एकाग्र होना तथा क्रिया करने और अपने को रूपांतरित करने के लिये अपने अंदर माताजी की शक्ति का आह्वान करना।

१८-९-१९३२

माताजी के द्वारा कार्य की अनुमति देने के कारण

हां, यह ठीक है। माताजी स्वयं भोजन के रूप में भोजन की परवाह नहीं करतीं; परंतु 'अ' को भेंट की सामग्री के रूप में उसे तैयार करने देती हैं। काम के बारे में भी यही बात है—यद्यपि कर्म का अपना निजी महत्त्व है। 'य' और 'ज' को कोई शारीरिक या व्यावहारिक बाहरी कार्य नहीं दिया गया है क्योंकि उस दिशा में उनकी शक्ति नहीं प्रवाहित हो सकती और न वे उसे कर सकेंगे—इस कारण नहीं कि सबके लिये स्थूल और व्यावहारिक कार्य की शिक्षा देना अच्छा नहीं है। आदर्श परिस्थितियों में सत्ता की बहुमुखी प्रवृत्ति ही सबसे उत्तम अवस्था होगी—परंतु अभी भी यह सर्वदा व्यवहार्य नहीं है।

२६-९-१९३३

'कर्तव्यं कर्म' और माताजी द्वारा स्वीकृत कार्य

क्या यह कहा जा सकता है कि माताजी द्वारा स्वीकृत सभी कार्य "कर्तव्यं कर्म" हैं?

[१] Conversation with the Mother, जिसका हिन्दी अनुवाद 'मातृवाणी', प्रथम भाग है।—अनुवादक

यदि साधक का प्रबल आग्रह हो या प्रबल इच्छा हो तो माताजी 'हां' या 'जैसा चाहो करो' कह सकती हैं अथवा जिस चीज की प्रार्थना या मांग की जाये उसे अपनी मंजूरी दे सकती हैं। परंतु इससे वह चीज "कर्तव्यं कर्म" नहीं बन जाती, बल्कि महज एक ऐसी चीज होती है जिसे साधक कर सकता है। फिर, अगर कोई कार्य स्वार्थशून्य हो या आपत्तिजनक न हो और कोई व्यक्ति माताजी से पूछे कि वह उसे कर सकता है या नहीं, और वे अनुमति दे दें तो भी वह उसे "कर्तव्यं कर्म" के पद पर नहीं उठा ले जाता।

३१-७-१९३७

*

अबतक मेरा विश्वास यही था कि माताजी द्वारा स्वीकृत सभी कार्य माताजी के कार्य हैं और उनके लिये किया हुआ कार्य हमारा "कर्तव्यं कर्म" है। क्या ऐसा नहीं है? यदि कोई व्यक्ति अपने परिवार, देश और समाज के प्रति अपने सभी कर्तव्यों को छोड़ दे और सच्चाई के साथ केवल भगवान् के लिये, माताजी की पूजा के रूप में कार्य करे तो क्या वह माताजी के लिये कार्य नहीं कर रहा है और क्या वह उसका "कर्तव्यं कर्म" नहीं है? बाहर इस बात का निर्णय करना कठिन हो सकता है, पर यहां, माताजी की जीवंत उपस्थिति में, क्या यह एक सुनिश्चित तथ्य नहीं है? यदि नहीं, तो फिर "कर्तव्यं कर्म" का वास्तव में क्या तात्पर्य है?

मुझसे पूछा गया था कि हमारे द्वारा किया हुआ ऐसा प्रत्येक कार्य, जिसके लिये माताजी की आज्ञा हो, 'कर्तव्यं कर्म' है या नहीं। लोग विभिन्न कारणों से प्रेरित होकर अनगिनत चीजों के लिये आज्ञा मांगते हैं—इसका मतलब यह नहीं है कि माताजी इन सभी चीजों के लिये स्वयं अपनी इच्छा के अनुसार आज्ञा देती हैं। जो कार्य माताजी का दिया हुआ है वह उनका कार्य है—यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि जो कोई कार्य सच्चाई के साथ माताजी की भेंट के रूप में किया गया है वह भी उनका कार्य है। परंतु 'कर्म' के अंदर सभी प्रकार की क्रियाएं आ जाती हैं, केवल कार्य ही नहीं।

३१-७-१९३७

माताजी के लिये प्रचार-कार्य

माताजी प्रचार को बहुत मूल्य नहीं देतीं, पर फिर भी उस तरह का कार्य उनका कार्य हो सकता है। केवल उसे आना चाहिये उनकी प्रेरणा से, किया जाना चाहिये शांति के साथ, नाप-तौल करके, जिस तरह वे चाहती हैं उस तरह। यह कार्य माताजी के संकल्प के साथ युक्त होकर आंतर सत्ता के द्वारा किया जाना चाहिये, प्राणगत मन के उत्सुक आवेग के द्वारा नहीं। साधक की पहली आवश्यकता है अपनी निजी आध्यात्मिक उन्नति और अनुभूति के लिये सबसे अधिक एकाग्र होना—दूसरों को सहायता करने के लिये उत्सुक होने से मनुष्य आंतरिक कार्य से अलग हट जाता है। स्वयं आत्मा में वर्द्धित होना ही सबसे बड़ी सहायता है जो मनुष्य दूसरों को दे सकता है, क्योंकि उस अवस्था में कोई चीज अपने-आप ही आसपास के लोगों की ओर प्रवाहित होती है और उनकी सहायता करती है।

९-४-१९३७

माताजी की स्वीकृति और सफलता की संभावनाएं

स्वीकृति या आज्ञा! लोगों के दिमाग में यह घुस जाता है कि उन्हें गाना-बजाना चाहिये क्योंकि यह एक फैशन है अथवा उन्हें यह बहुत अधिक पसंद है। और शायद माताजी भी इसकी अनुमति दे दें और वे कहें "बहुत अच्छा, कोशिश करो।" इसका यह मतलब नहीं है कि संगीतज्ञ—अथवा प्रसंग के अनुसार कवि या चित्रकार—होना उनके भाग्य में लिखा है अथवा उनकी नियति है। संभवतः जो लोग प्रयत्न करते हैं उनमें एक खिल उठे और दूसरे झड़ जायें। 'अ' चित्रकारी आरंभ करता है और आरंभ में केवल काल्पनिक उत्साह दिखाता है, कुछ समय बाद वह अद्‍भुत कार्य कर दिखाता है। 'य' चतुरतापूर्ण सुगम चीजें करता है; एक दिन वह गहराई में उतरने लगता है और एक घड़े जाते हुए भावी चित्रकार की रूपरेखा दिखाई देने लगती है; दूसरे—खैर, वे प्रगति नहीं करते। परंतु वे कोशिश कर सकते हैं—कम-से-कम वे चित्रकला के विषय में कुछ बातें तो सीख ही जायेंगे।

मई, १९३५

कार्य में भूलों के प्रति माताजी का मनोभाव

कल माताजी ने जो कुछ कहा उससे प्रतीत होता है कि काम में होनेवाली अपनी भूलों को हमें कोई महत्त्व नहीं देना चाहिये और दूसरों की भूलों की ओर न तो ध्यान देना चाहिये न उन्हें सुधारना चाहिये। फिर, चूंकि भौतिक जगत् कई जगतों में से केवल एक जगत् है, संपूर्ण अभिव्यक्ति का केवल एक छोटा-सा भाग है, इसलिये क्या हमें भौतिक चीजों, भौतिक कार्य तथा उसके ब्योरों को बहुत ही कम महत्त्व नहीं देना चाहिये?

माताजी का यह कहना था कि कार्य में होनेवाली भूलों को वे पूरी तरह जानती हैं, परंतु उन सब चीजों की ओर, बाहरी बुद्धि से नहीं बल्कि एक आंतरिक दृष्टि से देखते हुए उनके अंदर एक विशिष्ट 'शक्ति' को उन्हें कार्यान्वित करना है और इसलिये वे प्रायः ही अपूर्णताओं और भूलों की उपेक्षा करना आवश्यक समझती हैं। पर इसका यह अर्थ हर्गिज नहीं है कि साधक-कार्यकर्ता जहां जिम्मेदार हो वहां वह इस बात की परवाह ही न करे कि उसके कार्य में भूलें हैं या नहीं। अगर दूसरे साधक भूलें करें तो उसके लिये वे जिम्मेदार हैं, हम उन्हें देख सकते और स्वयं वैसी भूलों से बच सकते हैं, मगर एक साधक दूसरे की भूलों को तबतक नहीं सुधार सकता जबतक वह उसकी जिम्मेदारी न हो—प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं अपने-आपको, अपने दोषों और भूलों को सुधारना चाहिये।

हम यहां इस भौतिक जगत् में हैं, दूसरे जगतों में नहीं हैं, सिर्फ उनके साथ हमारा एक आंतरिक संबंध है। हमारा जीवन और कार्य भी यहीं हैं, इसलिये भौतिक जगत् और चीजों की उपेक्षा करने से काम नहीं चल सकता, यद्यपि हमें आसक्ति और वासना के द्वारा उनसे चिपकना और बंधना नहीं चाहिये। हमें दूसरे जगतों (लोकों) की प्रकृति और शक्तियों का, जहांतक इस जगत् के साथ वे लोक संबंधित हैं, ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और हम यहां के कार्य में सहायता करने और उसे ऊंचा उठाने में उनका उपयोग भी कर सकते हैं। फिर भी कार्य का क्षेत्र यहीं है, कहीं और नहीं।

२१-८-१९३६

बाहरी संगठन और भीतरी सामंजस्य

भूलें उन लोगों के कारण आती हैं जो कार्य के अंदर अपने अहंकार, अपने व्यक्तिगत भाव (पसंदगी और नापसंदगी), अपनी प्रतिष्ठा अथवा अपनी सुविधा के बोध, गर्व, अधिकार करने की भावना आदि को ले आते हैं। ठीक पथ है यह अनुभव करना कि कर्म श्रीमां का है—केवल तुम्हारा नहीं, बल्कि दूसरों का काम भी—और उसे ऐसे भाव के साथ संपन्न करना कि वहां एक साधारण सामंजस्य बना रहे। सामंजस्य केवल बाहरी संगठन के द्वारा ही नहीं लाया जा सकता; यद्यपि क्रमशः पूर्ण करनेवाले एक बाहरी संगठन की भी आवश्यकता है; भीतरी सामंजस्य तो होना ही चाहिये अन्यथा संघर्ष और अव्यवस्था बराबर ही बनी रहेंगी।

*

आपने लिखा है, "सामंजस्य केवल बाहरी संगठन के द्वारा ही नहीं लाया जा सकता... भीतरी सामंजस्य तो होना ही चाहिये अन्यथा संघर्ष और अव्यवस्था बराबर ही बनी रहेंगी।" वह भीतरी सामंजस्य क्या है?

माताजी के अंदर एकत्व।

२१-४-१९३३

*

माताजी की विजय मूलतः प्रत्येक साधक की अपने ऊपर विजय है। केवल उस दशा में ही कार्य का कोई बाहरी रूप सामंजस्यपूर्ण परिपूर्णता तक पहुंच सकता है।

१२-११-१९३७

*

इन चीजों का उपाय है माताजी का अधिकाधिक चिंतन करना और, माताजी से पृथक् रूप में, दूसरों के तुम्हारे साथ संबंधों के बारे में कम-से-कम सोचना। जिस प्रकार 'क्ष' यत्न कर रहा है उसी प्रकार तुम्हें भी दूसरों से माताजी के भीतर, माताजी के साथ अपनी एकता की चेतना के भीतर ही मिलने का यत्न करना चाहिये, न कि किसी पृथक् व्यक्तिगत संबंध में। ऐसा करने पर कठिनाइयां लुप्त हो जाती हैं और सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है—क्योंकि तब

दूसरों से मिलने का यत्न करके उन्हें प्रसन्न करने की आवश्यकता नहीं रहती —बल्कि दोनों या सभी माताजी के लिये अपने प्रेम में और उनके लिये अपने काम में मिलते हैं।

सबसे अधिक आवश्यक चीज

इस साधना के लिये सबसे अधिक आवश्यक चीज है शांति, स्थिरता, विशेषकर प्राण के अंदर—एक ऐसी शांति जो परिस्थितियों या पारिपार्श्विक अवस्थाओं के ऊपर निर्भर नहीं करती बल्कि एक उच्चतर चेतना के साथ,—जो कि भगवान् की, श्रीमां की चेतना है—आंतर संस्पर्श बनाये रखने पर निर्भर करती है। जिन लोगों में वह नहीं है अथवा जो उसे पाने की अभीप्सा नहीं करते, वे यहां आ सकते हैं और आश्रम में दस या बीस वर्षों तक रह सकते हैं और फिर भी वे सदा की भांति बेचैनी और संघर्षों से भरे रह सकते हैं—जो लोग अपने मन और प्राण को श्रीमां की शक्ति और शांति की ओर खोलते हैं वे अत्यंत कठिन और दुःखदायी कार्य तथा अत्यंत बुरी परिस्थितियों में भी उसे प्राप्त करते हैं।

अक्तूबर, १९३३

साधारण संग-साथ और नयी चेतना के अंदर एकता

आश्रम के सदस्यों के बीच साधारण कोटि का मानवीय संग-साथ हो, इस बात पर माताजी ने जोर नहीं डाला है (यद्यपि सद्‌भाव, परस्पर सम्मान और शिष्टता बराबर ही रहनी चाहिये), क्योंकि वह हमारा उद्देश्य नहीं है; हमारा उद्देश्य है एक नयी चेतना में एकत्व प्राप्त करना, और उसके लिये सबसे पहली चीज यह है कि प्रत्येक व्यक्ति उस नयी चेतना में पहुंचने तथा उसमें एकता अनुभव करने के लिये साधना करे।

३१-१०-१९३५

योग में प्राणिक संबंधों के लिये कोई स्थान नहीं

इस योग का सारा मूलतत्त्व है अपने-आपको संपूर्ण रूप से केवल भगवान् को ही दे देना, किसी और व्यक्ति एवं वस्तु को नहीं, और भगवती मातृशक्ति के

साथ एकत्व के द्वारा अपने अंदर विज्ञानमय भगवान् की समस्त विश्वातीत ज्योति, शक्ति, विशालता, शांति, पवित्रता, सत्य-चेतना और आनंद को उतार लाना। अतएव इस योग में दूसरों के साथ प्राणिक संबंधों या आदान-प्रदानों के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता; ऐसा कोई भी संबंध या आदान-प्रदान अंतरात्मा को तुरंत ही निम्नतर चेतना और उसकी निम्नतर प्रकृति के साथ बांध देता है; भगवान् के साथ सच्चे और पूर्ण एकत्व में बाधा पहुंचाता है और अतिमानसिक सत्य-चेतना की ओर आरोहण तथा अतिमानसिक ईश्वरी शक्ति का अवरोहण इन दोनों में रुकावट डालता है।

*

माताजी इसके लिये दबाव डाल रही हैं कि कामवासना की कठिनाई साधकों में से दूर हो जाये—क्योंकि वह बड़ी भारी बाधा है। इसलिये उसे हटना ही होगा।

२९-१०-१९३४

अंदर रहना सीखना

अपने अंदर माताजी के साथ रहना, उनकी चेतना के साथ संपर्क में रहना और दूसरों से केवल अपनी बाहरी स्थूल सत्ता के द्वारा ही मिलना तुम्हें सीखना होगा।

*

यदि ऐसा है तो बहुत संभवतः उसका कारण यह है कि तुम अपनी अंतःसत्ता से बाहर रह रहे हो, अपने को बाहरी संपर्कों से विचलित होने दे रहे हो। मनुष्य स्थायी ढंग का सुख तबतक नहीं प्राप्त कर सकता जबतक वह भीतर न रहने लगे। अपने-आपका, अपनी धारणाओं, पसंदगियों, वेदनों और रुचियों-अरुचियों का कुछ भी विचार किये बिना कर्म और क्रिया-चेष्टा को माताजी के अर्पण करना होगा, केवल उन्हींके लिये करना होगा। यदि व्यक्ति की आंखें इन पूर्वोक्त चीजों पर गड़ी हों तो पग-पग पर वह मन या प्राण में कुछ रगड़ अनुभव करेगा अथवा यदि वे अपेक्षाकृत शांत हों तो शरीर एवं स्नायुओं में। शांति और आनंद तो केवल तभी स्थायी हो सकते हैं यदि वह भीतर माताजी के साथ रहे।

२-१-१९३७

*

यह बिलकुल ठीक है। किंतु मैंने जो लिखा था वह केवल तुम्हारे लिये ही एक नियम के रूप में नहीं नियत किया गया था। वह एक ऐसा नियम है जिसका पालन हर एक को करना चाहिये, 'क्ष' तथा अन्य प्रत्येक व्यक्ति को भी। क्योंकि जब कर्म और क्रिया-चेष्टा इस प्रकार से, अपने व्यक्तिगत विचारों और व्यक्तिगत हृद्भावों पर आग्रह किये बिना, अपने-आपका विचार किये बिना केवल भगवान् के लिये किये जाते हैं तभी कर्म पूर्ण रूप से साधना बन पाता है और आंतर तथा बाह्य प्रकृति सामंजस्य प्राप्त कर सकती हैं। इससे आंतर सत्ता के लिये यह अधिक संभव हो जाता है कि वह बाहरी कार्य को अपने हाथ में लेकर आलोकित करे और अपने पीछे स्थित माताजी की शक्ति से सचेतन हो जाये जो उसे उसके कार्यों में मार्ग दिखा रही हैं।

३-१-१९३७

*

समय-विभाग निश्चित करना संभव या वांछनीय नहीं—तुम्हें अपनी दिनचर्या अपने-आप इस ढंग से व्यवस्थित करनी होगी कि दिन का अच्छे-से-अच्छा उपयोग हो और फिर माताजी को सूचना दे देनी होगी कि तुम इसे कैसे करते हो।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है आंतरिक तौर पर माताजी की ओर और केवल उन्हीं की ओर मुड़े रहना, बहुत सारे बाहरी संपर्कों से बचना इस कार्य में सहायता के लिये ही आवश्यक है—किंतु लोगों के साथ संपर्कमात्र से बचना न तो आवश्यक है न वांछनीय। आवश्यक है इन संपर्कों को ठीक मनोवृत्ति और ठीक चेतना के साथ ग्रहण करना, अपने-आपको बाहर नहीं फेंकना—उन्हें ऊपरी सतह की चीजें समझना, उनमें किसी प्रकार से भी आसक्त या अतिग्रस्त न होना।

हां, निःसन्देह, वह एक आंतरिक एकाग्रतापूर्ण अवस्था थी जिसमें तुम माताजी के साथ संपर्क में आ सके। फूल सदा ही चेतना के किसी भाग में उद्घाटन (सामान्यतया चैत्य उद्घाटन) को सूचित करते हैं।

२८-१०-१९३३

पूर्ण एकान्तवास के लिये माताजी की अस्वीकृति

माताजी पूर्ण एकान्तवास की भावना को एकदम मंजूर नहीं करतीं। इससे संयम नहीं प्राप्त होता; केवल संयम का भ्रम होता है क्योंकि कुछ समय के

लिये ही असुविधा उत्पन्न करनेवाले कारण दूर होते हैं। बाहरी वस्तुओं के संस्पर्श में रहते हुए जो संयम स्थापित किया जाता है केवल वही सच्चा होता है। तुम्हें एक सुदृढ़ संकल्प और अभ्यास के द्वारा अंदर से उसी संयम को स्थापित करना चाहिये। अत्यधिक मिलने-जुलने और अत्यधिक बातचीत से बचना चाहिये, पर पूर्ण एकान्तवास आवश्यक चीज नहीं है। इससे अबतक किसी भी आदमी को अपेक्षित फल नहीं प्राप्त हुआ है।

२७-११-१९३६

साधकों के साथ व्यवहार करने के माताजी के तरीकों में भेद

तुमने अपने गाने की बात लिखी है। तुम अच्छी तरह जानते हो कि हम लोग उसे मंजूर करते हैं, और मैंने बराबर जोर दिया है कि तुम्हारे लिये उसकी और साथ ही तुम्हारी कविता की भी आवश्यकता है। परंतु माताजी ने 'अ' को गाने की एकदम मनाही कर दी है। अतएव तुम देखते हो कि संगीत के विषय में कुछ लोगों के लिये तो वे उदासीन हैं या उन्हें निरुत्साहित भी करती हैं, दूसरों के लिये, जैसे 'ब', 'स' तथा अन्य लोगों को उसकी अनुमति देती हैं। कुछ दिनों तक उन्होंने सामूहिक वाद्यों (Concerts) को प्रोत्साहित किया, फिर पीछे उन्होंने उन्हें बंद कर दिया। तुमने 'स' के लिये की गयी मनाही और सामूहिक वाद्यों को बंद कर देने से यह सिद्धांत निकाला है कि माताजी को संगीत पसंद नहीं है अथवा भारतीय संगीत पसंद नहीं है अथवा उनके विचार में संगीत साधना के लिये बुरा है, तथा उसी ढंग की अन्यान्य नाना प्रकार की अद्‌भुत मानसिक प्रतिक्रियाएं व्यक्त की हैं। माताजी ने 'अ' को इस कारण मना किया कि जहां संगीत तुम्हारे लिये अच्छा था वहां वह 'अ' के लिये आध्यात्मिक विष था—ज्यों ही उसने संगीत तथा श्रोताओं का विचार करना शुरू किया त्यों ही उसकी प्रकृति का सब प्रकार का भद्दापन और अनाध्यात्मिकता (अध्यात्मविरोधी भावना) ऊपर उठ आयी। तुम देख सकते हो कि वह अब उसके द्वारा क्या कर रहा है। फिर वही बात, यद्यपि थोड़े परिवर्तन के साथ, सामूहिक वाद्यों की है। उन्होंने उन्हें इस कारण बंद कर दिया कि उन्होंने देखा कि विरोधी शक्तियां वातावरण में आ रही हैं, जिनका स्वयं संगीत से कोई संबंध नहीं है, इसमें उनका उद्देश्य मानसिक नहीं था। ऐसे ही कारणों से वे 'द' की तरह के बड़े सार्वजनिक प्रदर्शनों से अलग हो गयीं। दूसरी ओर उन्होंने टाउन हॉल में चित्रों की प्रदर्शनी का समर्थन किया और स्वयं उसकी योजना

बनायी। अतएव तुम देखोगे कि यहां कोई मानसिक नियम नहीं है, बल्कि प्रत्येक प्रसंग में पथप्रदर्शन आध्यात्मिक कारणों से निर्धारित होता है जो कठोर नहीं है। इसमें दूसरा कोई विचार नहीं, कोई नियम नहीं; संगीत, चित्रकला, कविता और दूसरी बहुत-सी प्रवृत्तियां, जो मन और प्राण की हैं, आध्यात्मिक विकास या कार्य के अंग के रूप में और आध्यात्मिक उद्देश्य के लिये व्यवहृत हो सकती हैं : "यह उस मनोभाव पर निर्भर करता है जिसके साथ ये चीजें की जाती हैं।"

यह बात स्थापित हो जाने पर, ये चीजें व्यक्ति के मनोभाव, उसकी प्रकृति, उसकी प्रकृति की आवश्यकताओं, अवस्थाओं और परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं।

*

माताजी हमारे अंदर दिव्य सत्य के अनुसार और प्रत्येक स्वभाव की और प्रकृति के प्रत्येक स्तर की आवश्यकता के अनुसार साधना करती हैं। यह कोई सुनिश्चित पद्धति नहीं है।

१३-९-१९३३

*

बस, अपनी निजी उन्नति की ही बात सोचो और उस विषय में माताजी तुम्हें जो पथ दिखाती हैं उसीका अनुसरण करो। दूसरों को भी बस वैसा ही करने दो; श्रीमां उनकी आवश्यकता और उनकी प्रकृति के अनुसार उन्हें पथ दिखाने और सहायता करने के लिये मौजूद हैं। माताजी दूसरों के साथ जो तरीका अपनाती हैं वह यदि तुम्हारे साथ अपनाये हुए तरीके से भिन्न या उलटा प्रतीत हो तो इससे कुछ भी नहीं आता-जाता। उसके लिये वही ठीक तरीका है जैसे कि यह तुम्हारे लिये ठीक है।

२५-१०-१९३२

*

माताजी बहुत अधिक तेज और चुभते हुए शब्दों में उन्हीं लोगों को कुछ कहती या लिखती हैं जिन्हें वे तेजी से योगमार्ग में आगे बढ़ाना चाहती हैं, क्योंकि वे इसके योग्य होते हैं, और वे दबाव और स्पष्टता के कारण न तो नाराज होते हैं न दुःखी, बल्कि प्रसन्न होते हैं, क्योंकि वे अनुभव से यह जानते हैं कि इससे

उन्हें अपनी बाधाओं को देखने और उनमें परिवर्तन ले आने में सहायता मिलती है। यदि तुम तेजी से उन्नति करना चाहो तो तुम्हें अभिमान, दुःख, आहत भाव, आत्मख्यापन के लिये तर्क की खोज, मुक्त करने के लिये दिये गये स्पर्श के विरुद्ध चिल्लाहट आदि की इस प्राणगत प्रतिक्रिया से छुटकारा पाना होगा—कारण, जबतक ये सब चीजें तुम्हारे अंदर हैं तबतक प्राण-प्रकृति द्वारा पैदा की हुई बाधाओं के ऊपर स्पष्ट और दृढ़ रूप में कार्य करना हमारे लिये कठिन है।

तुम्हारे और 'अ' के बीच के भेद के विषय में: माताजी ने जो तुम्हें चेतावनी दी थी कि अत्यधिक बातचीत करना, अनाप-शनाप बातें और गप्पें हांकना, सामाजिक बातों में अपने-आपको बिखेर देना अच्छा नहीं, वह चेतावनी पूरा मायने रखती थी और अब भी ठीक है; जब तुम इन सब चीजों में संलग्न होते हो तब तुम अपने-आपको एक बहुत तुच्छ और अज्ञानपूर्ण चेतना में फेंक देते हो जिसमें तुम्हारे प्राणगत दोष खुले रूप में कार्य करते हैं और इस कारण अपनी आंतर चेतना में तुमने जो कुछ विकसित किया है उसमें से तुम्हारे बाहर निकल आने की संभावना हो जाती है। इसी कारण हमने कहा था कि 'अ' के घर जाने पर तुमने यदि इन चीजों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया अनुभव की थी तो वह तुम्हारे अंदर—तुम्हारी प्राणिक और स्नायविक सत्ता में चैत्य वेदनशीलता के आने का चिह्न थी, और हमारा मतलब था कि वह सब अच्छे के लिये था। परंतु दूसरों के साथ व्यवहार करते समय, इन चीजों से अलग होने के समय तुम्हें किसी श्रेष्ठता की भावना को अपने अंदर नहीं घुसने देना चाहिये, न अपने व्यवहार या भाव के द्वारा उनके ऊपर अस्वीकृति या दोषारोपण का भाव लादना चाहिये और न बदलने के लिये उनपर दबाव ही डालना चाहिये। इन चीजों से जो तुम पीछे हटते हो यह तुम्हारी अपनी व्यक्तिगत आंतरिक आवश्यकता के लिये है, बस इतना ही। जहांतक उनका प्रश्न है, इन विषयों में वे जो कुछ, सही या गलत, करते हैं वह या तो उनका अपना मामला है, या हमारा। हम उस समय उनके लिये जो आवश्यक और संभव समझते हैं उसी के अनुसार उनके साथ व्यवहार करेंगे, और इस उद्देश्य के लिये हम केवल विभिन्न लोगों के साथ विभिन्न रूपों में ही व्यवहार नहीं करते, न सिर्फ यह कि एक को वह काम करने देते हैं जिसे दूसरों के लिये मना किया करते हैं, बल्कि उसी मनुष्य के साथ विभिन्न समयों पर विभिन्न रूपों में भी व्यवहार कर सकते हैं, आज वह चीज करने देंगे या उसके लिये उत्साहित भी करेंगे जिसके लिये कल मनाही कर देंगे...। मानव प्राणी और प्रकृति के

साथ ऐसे मानसिक नियमों के द्वारा व्यवहार नहीं किया जा सकता जो प्रत्येक व्यक्ति के लिये एक समान लागू हों। अगर ऐसा होता तो फिर गुरु की आवश्यकता ही न होती, प्रत्येक आदमी सैंडो (Sandow) के व्यायाम के नियमों की तरह अपने सामने यौगिक नियमों का अपना चार्ट (chart) रख लेता और जबतक पूर्ण सिद्ध नहीं हो जाता तबतक उनका अनुसरण करता रहता!

२५-१०-१९३२

*

माताजी उन लोगों से मुंह मोड़ती नहीं दिखाई देतीं जो सच्चे नहीं हैं। बहुधा ही वे उन्हें उनकी इच्छानुसार कार्य करने देती हैं।

यह माताजी का कार्य है। केवल वही कह सकती हैं कि लोगों के साथ व्यवहार करने का कौन-सा तरीका ठीक है। यदि उन्हें मनुष्यों के दोषों के अनुसार उनके साथ व्यवहार करना पड़े तो आश्रम में मुश्किल से आधा दर्जन लोग रह जायेंगे।

२६-३-१९३३

*

माताजी जो कुछ करती हैं वह साधक की भलाई और साधना की उन्नति के लिये होता है।

९-१२-१९३५

*

प्राणिक सत्ता को हम यह कैसे समझा सकते हैं कि माताजी कभी पक्ष-पात नहीं करतीं?

एक उपाय है माताजी में पूर्ण श्रद्धा रखना—दूसरा है यह विश्वास रखना कि वे तुमसे अधिक ज्ञानी हैं और जो कुछ भी वे करती हैं उसके लिये उनके पास ऐसे कारण अवश्य होंगे जो तुम्हारे मन के निर्णयों से अच्छे हों।

२२-३-१९३४

*

मेरा विश्वास है कि माताजी जो कुछ भी करती हैं उसका कुछ कारण होता है, और जो वे करती हैं वह हर एक की आवश्यकता के अनुसार होता है, किंतु प्राण इसपर विश्वास नहीं करता और, मन में भी यह बात अभी अच्छी तरह से नहीं जम पायी। मन में यह कैसे दृढ़तापूर्वक जम सकती है जिससे वह किसी भी प्रलोभन के आगे झुके नहीं?

यह उसमें जमनी चाहिये—बस इतना ही। जबतक प्राण और मन अपने को माताजी से अधिक बुद्धिमान् तथा उनके विषय में निर्णय करने के योग्य समझते हैं तबतक तुम इन मूर्खताओं के लुप्त होने की कैसे आशा कर सकते हो?

२२-३-१९३४

*

क्या भौतिक मन माताजी के व्यवहारों को ठीक-ठीक समझ सकता है?

तबतक नहीं समझ सकता जबतक वह सच्ची चेतना और ऊपर से आनेवाले ज्ञान से आलोकित न हो जाये।

४-७-१९३६

माताजी द्वारा महाकाली की पद्धति का प्रयोग

ये सभी चीजें निर्भर करती हैं व्यक्ति, अवस्था और परिस्थितियों के ऊपर। तुमने जिस पद्धति की बात लिखी है उसका अर्थात् महाकाली की पद्धति का उपयोग माताजी करती हैं—

१. उन लोगों के लिये जिनमें उन्नति करने की महान् उत्सुकता होती है और जिनके प्राणतक में, कहीं-न-कहीं मूलगत सच्चाई होती है;

२. उन लोगों के लिये जिनके साथ वे घनिष्ठतापूर्वक मिलती हैं और जो, वे जानती हैं कि, उनकी कठोरता से असंतुष्ट नहीं होंगे या उसका गलत अर्थ नहीं समझेंगे अथवा यह नहीं मान बैठेंगे कि माताजी ने उनकी ओर से अपनी दयालुता या कृपा हटा ली है, बल्कि उसे सच्ची कृपा और अपनी साधना के लिये एक सहायता के रूप में स्वीकार करेंगे।

फिर दूसरे लोग हैं जो इस पद्धति को बर्दाश्त नहीं कर सकते—अगर उसे जारी रखा जाये तो वे गलतफहमी के अंदर हजारों मील दूर जा गिरेंगे, विद्रोह

करेंगे और निराश हो जायेंगे। माताजी लोगों के लिये बस यही चाहती हैं कि उन्हें अपने अन्तरात्मा के लिये पूरा-पूरा सुयोग प्राप्त हो, फिर पद्धति चाहे छोटी और तेज हो या लम्बी और टेढ़ी-मेढ़ी। प्रत्येक मनुष्य के साथ उन्हें उसके स्वभाव के अनुसार ही व्यवहार करना पड़ता है।

९-५-१९३३

*

यदि तुम माताजी की डांट-डपट से डरते हो तो तुम उन्नति कैसे करोगे? जो लोग शीघ्र उन्नति करना चाहते हैं वे महाकाली की मार तक का स्वागत करते हैं, क्योंकि वह उन्हें अधिक तेजी के साथ योगमार्ग पर धकेल ले जाती है।

*

क्या माताजी के साथ ऐसा संबंध रखना संभव है जिसमें वे, मेरी भाव-भावनाओं का किसी भी प्रकार का विचार किये बिना, मेरी गलती सुधारने और मुझे यह बताने में अपने को स्वतंत्र अनुभव करें कि मुझे क्या करना चाहिये और क्या नहीं?

निश्चय ही, जब भागवत चेतना पूर्णतया उपलब्ध हो जायेगी तब माताजी की और साधक की इच्छा में कोई भेद नहीं रहेगा।

एक ऐसे संबंध के स्थापित होने के लिये जिसमें माताजी वैसा कर सकें जैसा तुमने कहा है, साधक को उनके महाकाली-रूप से भयभीत नहीं होना होगा और केवल मधुरता की ही मांग नहीं करनी होगी। उसे महाकाली के प्रहारों को आशीर्वाद के रूप में ग्रहण करने में समर्थ होना होगा। उसे उनकी दिव्य दृष्टि, उनके निर्णय और वाणी में भी विश्वास करना होगा अन्यथा जब वे उसके अहं को अप्रिय लगनेवाली कोई बात कहेंगी या करेंगी तो उसका अहं रूठ जायेगा, अपना समर्थन करेगा और उन्हें गाली देगा इत्यादि, जैसी कि आश्रम में बहुतों की आदत है, जब माताजी उनकी पसंद के अनुसार नहीं करतीं तो वे ऐसा ही करते हैं। ऐसे लोग यहां बहुत ही कम हैं जो इस वृत्ति को, अपूर्ण रूप में ही सही, अपना सकें, परंतु उन्हींके साथ ही माताजी का ऐसा संबंध होता है। दूसरों के साथ, जिनकी प्रकृति इससे भिन्न है वे भिन्न रूप में व्यवहार करने के सिवा और कर ही क्या सकती हैं—क्योंकि उन्हें हर एक के साथ उसकी प्रकृति के अनुसार ही व्यवहार करना होता है।

श्रीमां की कार्यविधि

तुमने यह मांग पेश की है कि माताजी को प्रत्येक चीज के विषय में योजना बनाकर तुम्हारे लिये एक कार्यक्रम निश्चित कर देना चाहिये जिसका तुम अवश्यमेव पालन करो; पर उस मांग को पूरा करने में कठिनाई यह है कि अधिकतर विषयों में श्रीमां का कार्य करने का तरीका इसके एकदम विरुद्ध है। अत्यंत भौतिक विषयों में तुम्हें एक कार्यक्रम बनाना होता है जिसमें समय का ठीक-ठीक उपयोग किया जा सके, नहीं तो सब कुछ गोलमाल और अनिश्चयता का एक सागर बन जाता है। भौतिक वस्तुओं की व्यवस्था के लिये भी बंधे-बंधाये नियम बनाने पड़ते हैं जबतक कि लोग इतनी काफी मात्रा में विकसित न हो जायें कि बिना नियम के ही वे ठीक-ठीक ढंग से उनके साथ व्यवहार कर सकें। परंतु जिन सब चीजों के विषय में तुमने लिखा है वे एकदम भिन्न हैं; उनका संबंध तुम्हारे अपने आंतर विकास से, तुम्हारी निजी साधना से है। सच पूछा जाये तो बाहरी चीजों के विषय में भी श्रीमाताजी अपने मन के द्वारा कोई योजना नहीं बनातीं और जो कुछ करना है उसका कोई मानसिक नक्शा और नियम नहीं बनातीं; वे बस यह देखती हैं कि प्रत्येक मनुष्य के लिये क्या करना उचित है और फिर प्रत्येक मनुष्य के स्वभाव के अनुसार उसे व्यवस्थित और विकसित करती हैं। और आंतरिक विकास और साधना के विषय में तो यह और भी अधिक असंभव है कि पूरे-पूरे ब्योरे के साथ एक सुनिश्चित योजना तैयार कर ली जाये और यह कहा जाये कि "सर्वदा तुम यहां, वहां, इस ढंग से पैर रखना अथवा यही लकीर है और दूसरी कोई नहीं।" तब तो चीजें इतनी अधिक बंध जायेंगी और कठोर हो जायेंगी कि कुछ भी करना संभव नहीं होगा; कोई भी सच्ची और उपयोगी क्रिया नहीं हो सकेगी।

अगर श्रीमां ने तुमसे यह कहा था कि तुम उन्हें प्रत्येक बात बतलाते रहना तो यह इसलिये नहीं कहा था कि वे प्रत्येक ब्योरे के साथ तुम्हें निर्देश देती रहेंगी और तुम्हें उसे मानकर चलना होगा। यह तो इसलिये कहा गया था कि, इससे एक पूर्ण घनिष्ठता उत्पन्न हो सकेगी जिसमें तुम उनकी ओर संपूर्ण रूप से उद्घाटित होओगे और इस तरह वे तुम्हारे अंदर अधिकाधिक और लगातार तथा प्रत्येक मौके पर भागवत शक्ति ढाल सकेंगी जो तुम्हारे अंदर ज्योति बढ़ायेगी, तुम्हारे कार्य को पूर्ण बनायेगी, तुम्हारी प्रकृति को मुक्त और विकसित करेगी। बस यही बात महत्त्वपूर्ण है; अन्य सब चीजें गौण हैं; केवल उतने ही अंश में महत्त्वपूर्ण हैं जितने अंश में वे इस बात में सहायता करती अथवा

बाधा डालती हैं। इसके अतिरिक्त, यह बात उन्हें इस विषय में सहायता करेगी कि जहां कहीं आवश्यकता हो वहां वह आवश्यक निर्देश, आवश्यक सहायता या चेतावनी दे सकें, अवश्य ही बराबर शब्दों के द्वारा नहीं, बल्कि अधिकांश में मौन हस्तक्षेप और दबाव के द्वारा। यही उन लोगों के साथ उनका कार्य करने का तरीका है जो उनकी ओर खुले हुए हैं; यह कोई जरूरी नहीं है कि प्रत्येक मुहूर्त और प्रत्येक ब्योरे में साफ-साफ हुक्म दिया जाये। विशेषकर, अगर चैत्य-चेतना उद्‌घाटित हो और साधक पूरी तरह उसमें निवास करता हो तो वह तुरंत सूचनाएं पकड़ लेती, चीजों को स्पष्ट रूप में देखती और सहायता, हस्तक्षेप, आवश्यक निर्देश या चेतावनी को ग्रहण करती है। वास्तव में यही बहुत अधिक मात्रा में उस समय हो रहा था जब कि तुम्हारी चैत्य-चेतना खूब सक्रिय थी, परंतु तुम्हारे प्राण का एक भाग ऐसा था जिसमें तुम खुले हुए नहीं थे और जो बार-बार ऊपर उठ आता था, और बस इसी ने गोलमाल और उपद्रव उत्पन्न किया है।

प्रत्येक चीज आंतरिक अवस्था पर निर्भर करती है, और बाहरी क्रिया आंतरिक अवस्था को प्रकट या पुष्ट करने और उसे सक्रिय और फलदायी बनाने के लिये केवल एक साधन और सहायता के रूप में ही उपयोगी होती है। अगर तुम कोई चीज ऊर्ध्वतम चैत्य-चेतना से अथवा ठीक-ठीक आंतरिक स्पर्श बनाये रखकर करो या कहो तो वह फलोत्पादक होगी; अगर तुम उसी चीज को अपने मन से या प्राण से या किसी अनुचित या मिश्रित वातावरण में करो या कहो तो वह बिलकुल बेकार हो सकती है। किसी उचित कार्य को प्रत्येक अवस्था और प्रत्येक मुहूर्त में उचित ढंग से करने के लिये मनुष्य को यथार्थ चेतना में रहना होगा—उसे कोई ऐसे कठोर मानसिक नियम का अनुसरण करके नहीं कर सकता जो किसी परिस्थिति में तो ठीक निकले और दूसरी परिस्थिति में एकदम बेकार साबित हो। एक साधारण सिद्धांत निश्चित किया जा सकता है अगर वह सत्य के साथ मेल खाता हो, पर उसके व्यवहार का निर्णय तो आंतर चेतना के द्वारा पग-पग पर यह देखते हुए ही करना होगा कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। अगर चैत्य पुरुष सबसे ऊपर हो, अगर पूरी सत्ता संपूर्ण रूप से श्रीमां की ओर मुड़ी हो और चैत्य पुरुष का अनुसरण करती हो तो फिर अधिकाधिक मात्रा में ऐसा किया जा सकता है।

अतएव सब कुछ साधना में अनुसरण करने योग्य किसी मानसिक नियम पर निर्भर नहीं करता, बल्कि चैत्य चेतना को फिर से प्राप्त करने और उसकी ज्योति को इस प्राणमय भाग पर डालने और उस भाग को पूर्णतः श्रीमां की

ओर मोड़ देने पर आश्रित है। बात यह नहीं है कि 'अ' के पास तुम्हारे बहुत अधिक जाने का प्रश्न कोई महत्त्व नहीं रखता—वह काफी महत्त्वपूर्ण है—पर संपर्क सीमित करना केवल तभी उपयोगी है जब कि पुरानी गतिविधियों की इस दासता से दूर हटने में तुम अपने इस प्राण-भाग को सहायता देने का उसे एक साधन बनाओ। यह एक ही बात सर्वत्र लागू होती है।

जिस प्रकार की बाहरी आज्ञाकारिता पर तुम जोर देते हो और प्रत्येक ब्योरे में एक निर्देश चाहते हो—वह सब आत्मसमर्पण का मूल स्वरूप नहीं है, यद्यपि आज्ञाकारिता आत्मसमर्पण का स्वाभाविक फल और बाहरी शरीर है। आत्मसमर्पण भीतर से होता है और उसके लिये मन, प्राण और शरीर को, सबको माताजी की ओर खोल देना और उन्हीं को दे देना होता है ताकि वे उन्हें अपनी निजी वस्तु के रूप में ग्रहण करें और उन्हें उनके उस सच्चे स्वरूप में फिर से गढ़ सकें जो कि भगवान् का एक अंश है; बाकी सब चीजें इसके परिणामस्वरूप आती हैं। उस समय प्रत्येक ब्योरे में उनसे कोई बाहरी संदेश या आज्ञा मांगने की आवश्यकता न होगी, सारी सत्ता ही उनकी इच्छा के अनुसार अनुभव करेगी और कार्य करेगी; उनकी अनुमति उस समय बस उस आंतर एकत्व के ऊपर, उनकी इच्छा की ग्रहणशीलता और आज्ञाकारिता के ऊपर मुहर-छाप के रूप में ही मांगी जायेगी।

११-६-१९३२

सत्य के प्रति माताजी का आदरभाव

यह बात माताजी के कानों में पहुंची थी कि 'क्ष' ने उनके कमरे में तुम्हारे काम करने के विषय में आपत्ति की थी, परंतु उन्होंने उसे यह कहकर टाल दिया कि उसका कोई महत्त्व नहीं हो सकता। उस आपत्ति का माताजी के निर्णय के साथ कोई संबंध नहीं; वह निर्णय तो उससे एकदम स्वतंत्र अन्य कारणों से किया गया था।

झूठ झूठ ही है उसे चाहे जो भी बोले। अन्य लोग जो कुछ समझते या कहते हैं उसे यदि तुम मूल्य देने लगो और माताजी की किसी क्रिया के बारे में उन लोगों के बताये हुए उद्देश्य को तो सच मानो और अपने उद्देश्य के विषय में कही हुई माताजी की बात को असत्य मानो और किसी दूसरे की बात को, जो सच को जान ही नहीं सकता, पक्का और सच्चा समझो और उसके आधार पर माताजी पर स्पष्टवादिता के अभाव का दोषारोपण करो तो

क्या उससे उत्पन्न कठिनाई के लिये हम दोषी हैं? यह प्रश्न वक्तव्यों या साधकों की व्याख्याओं, या अपने मन की जल्दबाजी-भरी मान्यताओं या अनुमानों, या आवश्यक सूचना प्राप्त किये बिना अपने प्राण-पुरुष के वेदनों पर विश्वास रखने की अपेक्षा कहीं अधिक माताजी पर विश्वास रखने का है। यदि तुम इस स्वभाव से छुट्टी पा जाते तो सारी बातें बहुत अधिक आसान हो जातीं।

१५-५-१९३६

*

भला आपकी यह सूक्ति "झूठ झूठ ही है" सब पर कैसे लागू हो सकती है? यह केवल उन्हीं पर लागू हो सकती है जो नैतिक तथा सामाजिक विधि-विधानों से बंधे हैं, अथवा एक सिद्धांत के रूप में यह तभी लागू हो सकती है यदि झूठ बोलने का उद्देश्य ही बुरा हो। यदि कोई उच्चतर उद्देश्य किसी चीज को छुपाने या शब्दों द्वारा गलत रूप में प्रस्तुत करने की मांग करता है तो मैं उसे शायद ही झूठ कहूं। उद्देश्य और आधार पूर्ण रूप से अतिमानवीय हैं और वे उपर्युक्त श्रेणी में नहीं आ सकते। मैं समझता हूं श्रीकृष्ण सदा ठीक-ठीक सत्य बात नहीं कहा करते थे और उनकी आधी झूठी बातें उनकी कहानियां सुननेवाले सभी लोगों में सदा समझदारी की मुस्कुराहट पैदा करती हैं।

यदि माताजी कोई काम एक कारण से करें और उससे एकदम भिन्न कारण से, जो सचमुच उनका कारण नहीं था, उसे किया हुआ बतलावें तो मैं यह नहीं समझ पाता कि यह बात मिथ्यापन के अतिरिक्त और दूसरी चीज कैसे हो सकती है। कोई अतिमानवोचित उद्देश्य मिथ्यापन का मिथ्यापन होना दूर नहीं कर सकता। और फिर, यदि तुम सचमुच यह विश्वास करो कि भगवान् जो बात सत्य नहीं है उसे, उसके झूठ हुए बिना, कह सकते हैं और ऐसा करना भगवत्ता का एक अंग है, तो फिर जब तुम यह समझते हो कि माताजी ने ऐसा किया है तब भला तुम नाराज क्यों हो जाते हो, जिसे तुम अपने प्रति किया गया उनका अन्याय और कपटपूर्ण व्यवहार समझते हो उसके लिये तुम दुःखी और क्रुद्ध क्यों होते हो और यह रोना क्यों रोते हो कि उन्हें साफ-साफ कहना चाहिये था आदि-आदि? बल्कि उसके बदले तुम्हें यह समझना चाहिये था कि वे अतिमानवोचित उद्देश्यों से ऐसा कर रही हैं और जो कुछ वे करें उसे प्रसन्नता से स्वीकार करना चाहिये था। कम-से-कम ऐसी अवस्था में यही

न्यायसंगत बात मालूम होती है। तुमने स्पष्ट ही इस बात को अपना आधार बनाया है कि भागवत चेतना अच्छाई और बुराई से ऊपर है। परंतु इसका मतलब यह नहीं है कि वह तटस्थ रहकर बुरा और भला किया करती है। इसका बस यही अर्थ हो सकता है कि वह एक ज्योति के द्वारा कार्य करती है और वह ज्योति मानव चेतना के उस स्तर के परे होती है जो इन चीजों के विषय में मानवीय मानदण्ड निश्चित करता है। मनुष्य जिस बाहरी अच्छाई का अनुसरण करता है उससे कहीं महान् अच्छाई के लिये और उसके द्वारा वह कार्य करती है। फिर मनुष्य जिस सत्य की कल्पना करते हैं उससे कहीं अधिक महान् सत्य के अनुसार वह कार्य करती है। यही कारण है कि मनुष्य का मन भागवत कर्म और उसके उद्देश्यों को नहीं समझ सकता—उसे सबसे पहले एक उच्चतर चेतना में ऊपर उठना चाहिये और भगवान् के साथ आध्यात्मिक सम्पर्क या एकत्व प्राप्त करना चाहिये। परंतु इस बात को यदि कोई स्वीकार करे तो फिर वह अपने मानवीय मन द्वारा और अपने मानवीय दृष्टिकोण से भागवत कार्य का विचार नहीं कर सकता। ये दोनों बातें एकदम असंगत होंगी।

परंतु यह किसी ऐसी व्याख्या के अधीन नहीं आता। झूठे उद्देश्य का दोषारोपण करना किसी महत्तर सत्य और चेतना का कार्य नहीं हो सकता। मौन रहना और अपने उद्देश्य को प्रकट न करना एक बात है—यह कहना कि मैंने उस उद्देश्य से काम नहीं किया जब कि वास्तव में मैंने वैसा ही किया, मौन नहीं है। वह मिथ्यापन है। यह विषय नैतिक दृष्टि से नहीं वरन् आध्यात्मिक दृष्टि से महत्त्व रखता है। माताजी सत्य का पूरा ख्याल रखती हैं और उन्होंने बराबर ही यह कहा है कि असत्य-भाषण और मिथ्याचार सिद्धि के मार्ग में भीषण बाधा उत्पन्न करते हैं। फिर भला वे स्वयं ऐसा कैसे कर सकती हैं?

कृष्ण की कहीं कोई असत्य या अर्द्ध-सत्य बात मुझे याद नहीं, इसलिये उस विषय पर मैं कुछ नहीं कह सकता। परंतु महाभारत या भागवत के अनुसार उन्होंने ऐसा किया भी हो तो हम लोग न तो उस लेख से और न उस आदर्श से ही बंधे हुए हैं। मैं समझता हूं राम और बुद्ध ने कोई झूठ बात नहीं कही।

१७-५-१९३६

*

यदि इस बंधन से तुमने अपने को मुक्त कर लिया है तो यह अच्छा ही है। सत्य के प्रति प्रेम होना दिव्य गुण है, परंतु इस तरह का सत्य बहुत मिलावटी

माल होता है और उसके साथ कठोरता या भीषण क्रोध लगा होता है। सत्य उच्चरित शब्द के साथ अंधभाव से दृढ़ बने रहने पर आग्रह नहीं करता—उदाहरणार्थ, एक आदमी को यह धारणा हो जाती है कि दूसरे आदमी ने उसके प्रति घोर अपराध किया है और वह दूसरे से कहता है कि वह उसे मार डालेगा और पीछे जब वह जान लेता है कि दूसरा निर्दोष है और उसने कोई अपराध नहीं किया तो भी वह अपने वचन को कार्यान्वित करता है। यदि कहे हुए शब्द पर अक्षरशः दृढ़ बने रहने को सिद्धांत के रूप में ठीक-ठीक ग्रहण किया जाये तो उसका यही मतलब होगा। परंतु सत्य, इसके विपरीत, यह मांग करता है कि मनुष्य केवल वस्तुओं में विद्यमान सत्य के तत्त्व से ही चिपका रहे, और, ऊपर के उदाहरण में, सत्य के तत्त्व की मांग यह होगी कि उसे अपना प्रण तोड़ देना चाहिये, उसे पूरा नहीं करना चाहिये। यदि कोई मनुष्य ऐसी किसी चीज की प्रतिज्ञा करे जो प्रेम और करुणा के तत्त्व के विरुद्ध हो, या भगवान् के प्रति आज्ञाकारिता और समर्पण के भाव के विरुद्ध हो तो उस प्रतिज्ञा का पालन करना सत्य नहीं है—क्योंकि वह तो मिथ्यात्व का अनुसरण करने की प्रतिज्ञा होगी—और भला सत्य को मिथ्यापन का भक्त कैसे बनाया जा सकता है? वह तो दिव्य नहीं बल्कि आसुरिक सत्यवादिता होगी।

माताजी का जहांतक प्रश्न है, उनके अंदर एक बार बनायी हुई व्यवस्था के प्रति इस प्रकार की अंधी आसक्ति नहीं पायी जाती। उदाहरणार्थ, यदि उन्होंने किसी को कहा कि दूसरी बार यदि तुम किसी भी रूप में काम-वासना के शिकार हुए तो तुम्हें आश्रम छोड़कर चले जाना पड़ेगा, और यदि वह आदमी शिकार हो गया पर उसने पश्चात्ताप किया तो हो सकता है कि वे भी नर्म हो जायें और अपनी धमकी के अनुसार कार्य करने का आग्रह न करें। लोगों से मिलने की जो बातें हैं वे कोई प्रतिज्ञाएं, शर्तनामे या निश्चित कार्यक्रम नहीं हैं,—वे केवल व्यवस्थाएं हैं और बदली जा सकती हैं। यदि उन्होंने आधे घंटे के लिये व्यवस्था की है तो वे उसे तीन-चौथाई घंटा भी दे सकती हैं—अथवा उसे घटाकर बीस मिनट का भी कर सकती हैं। समय की गति में एक प्रकार की नमनीयता की आवश्यकता है और जीवन का अभ्यास उसका अपनी गति में कठोर होना नहीं सहन कर सकता, अन्यथा जीवन या तो महज एक यंत्र में परिणत हो जायेगा या टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा। परंतु इस प्रसंग में कोई इरादा नहीं था; वह विशुद्ध आकस्मिक घटना थी; किसी प्रमादवश तुम्हारा नाम सवेरे की लिस्ट में नहीं लिखा गया और लिस्ट के आदमी जब खतम हो गये तो माताजी दरवाजे पर चली आयीं। वे फिर वापस नहीं जा सकीं, क्योंकि

बहुत अधिक देर हो चुकी थी और वह बड़ा लंबा तथा थकानेवाला प्रातःकाल था जो विरोधी शक्तियों के साथ निरंतर संघर्ष करने में बीता था और उन्हें भीतर आना था, जो कुछ अभी करना बाकी था उसे करना था तथा मेरे पास आकर जो कुछ हुआ था उसकी रिपोर्ट मुझे देनी थी।

परंतु तुम्हारे लिये अज्ञात किसी कारणवश उन्होंने जान-बूझकर भी वैसा किया हो तो भी तुम्हारी प्रतिक्रिया समुचित नहीं थी। क्योंकि अपने योग के लिये तुमने जो आधार ग्रहण किया है वह है दिव्य इच्छा का अनुसरण करना, वह चाहे कुछ भी क्यों न हो। ये चीजें—ऊपर से आकस्मिक मालूम होने पर भी—तभी घटती हैं जब वे पहले से ही निर्धारित होती हैं और वे प्राण-सत्ता के किसी भाग के लिये, जिसे इस दुःखदायी प्रक्रिया के द्वारा परिवर्तन स्वीकार करना होता है, एक अग्निपरीक्षा के रूप में आती हैं।

२८-९-१९३३

मन के द्वारा माताजी के कार्यों को परखने की निरर्थकता

स्पष्ट ही है। न तो प्रकृति न भवितव्यता और न भगवान् ही मानसिक तरीके से या मन के नियम या उसके मानदंडों के अनुसार काम करते हैं—यही कारण है कि वैज्ञानिक और दार्शनिक को भी प्रकृति, नियति, भगवान् की पद्धति, इस सबमें एक रहस्य-सा प्रतीत होता है। माताजी मन के द्वारा कार्य नहीं करतीं, अतएव मन के द्वारा उनके कार्य का विचार करना निरर्थक है।

५-५-१९३६

*

श्रीमाताजी अपने शिष्यों के साथ इन सब मानसिक समस्याओं पर बहस नहीं करतीं। बुद्धि के साथ इन सब बातों का मेल बैठाने की चेष्टा करना बिलकुल व्यर्थ है। क्योंकि, यहां दो बातें हैं, एक तो है अज्ञान जिससे संघर्ष और असामंजस्य उत्पन्न होते हैं और दूसरी है गुप्त ज्योति, एकता, आनंद और सामंजस्य। बुद्धि अज्ञान की चीज है। केवल एक अधिक अच्छी चेतना में प्रवेश करने पर ही कोई ज्योति, आनन्द और एकत्व में निवास कर सकता है और बाहरी असामंजस्य और संघर्ष से अछूता रह सकता है। अतएव चेतना का वह परिवर्तन ही एकमात्र चीज है जो मूल्य रखती है, बुद्धि के साथ मेल बैठाने से कुछ भी अंतर नहीं पड़ेगा।

माताजी के शब्दों को गलत रूप में पेश करना

केवल 'अ' ही नहीं, बल्कि बहुतेरे या अधिकतर लोग ऐसे हैं जो इस तरह (माताजी द्वारा कही हुई) बातों को बदल देते हैं—यह मानव-प्रकृति की प्रायः विश्वव्यापी प्रवृत्ति है। बेईमानी के कारण वह या अन्य लोग ऐसा नहीं करते—बल्कि इसलिये करते हैं कि जब वे सुनते हैं तब उनका मन शांत नहीं होता, बल्कि सक्रिय होता है और उनके मन का विचार उनकी सुनी हुई बात के साथ मिल जाता है और वह उसे दूसरा ही मोड़ या आकार या रंग दे देता है। बहुत बार प्राण भी हस्तक्षेप करता है और अपनी कामना या सुविधा के अनुसार उसे अतिरंजित करता या नये रूप में ढाल देता है। ऐसा बहुत अधिक अंश में सचेतन की अपेक्षा अचेतन रूप में ही होता है।

वर्तमान प्रसंग में, माताजी ने बिलकुल साधारण रूप में ही बात की थी, न तो 'य' के विषय में कुछ कहा था न 'ज' के विषय में घटित बात के विषय में। उनके कहने का मतलब यह था कि जो कुछ याद रहना चाहिये वह याद नहीं रहता, क्योंकि कोई प्रबल तात्कालिक कामना स्मृति-शक्ति को तबतक पीछे धकेल रखती है जबतक कि वह पूरी नहीं हो जाती, और, स्मृति यदि आये तो, वह केवल उसके बाद ही आती है। स्पष्ट ही 'अ' ने अपने विचारों को जोड़.दिया, विशेषकर उसने 'य' के कार्य के ऊपर उसे प्रयुक्त किया और सोचा कि माताजी ने यह कहा है कि वैसा जान-बूझकर किया गया था—उसीको 'य' ने याद रखा और फिर अपनी कामना को पूरी करने के लिये वह सत्यसम्बन्धी अपने सचेतन बोध के विरुद्ध चली गयी। माताजी ने वह बात नहीं कही थी और न उनके साधारण कथन का वह अर्थ ही था।

३०-३-१९३३

*

जब माताजी सीधे तुमसे कुछ कहें तभी तुम कह सकते हो "माताजी ने कहा है।"

९-७-१९३३

"सब कुछ माताजी से आने" के सिद्धांत के खतरे

तुमने जो कुछ लिखा है वह अपने-आपमें निरपवाद रूप में सच है—आरंभ में साधकों के सामने यह प्रस्ताव रखा भी गया था—किंतु कठिनाई भी निश्चित

रूप से यहीं है, प्रकृति के अंदर पूर्ण सच्चाई होने में ही। थोड़े-से लोग इस अवस्था तक ऊपर उठने में समर्थ हुए हैं और कुछ लोगों ने केवल सुदूर निकटता (यदि यह वर्णन स्वीकार किया जा सके) प्राप्त की है। अपूर्ण सच्चाई के अलावा भी एक कठिनाई यह है कि अहंभाव और कामना के द्वारा मस्तिष्क आच्छादित हो जाता है तथा यह कल्पना करने लगता है कि वह ठीक वही चीज कर रहा है जब कि वह कोई दूसरी ही चीज करता होता है। यही कारण है कि मैंने "सब कुछ माताजी के यहां से आने" के सिद्धांत के खतरे की बात कही थी। ऐसे लोग हैं जिन्होंने इस बात को इस प्रकार लिया है कि जो कुछ अहंकार या प्राण से आता है वह सब माताजी के यहां से आता है, उन्हीं की अंतःप्रेरणा होता है या उन्हीं का दिया हुआ होता है। फिर कुछ दूसरे लोग ऐसे हैं जिन्होंने स्वतंत्र रूप में उसी पुरानी लीक पर चलने के लिये इसे एक बहाने के रूप में ग्रहण किया है और जो यह कहते हैं कि जब माताजी चाहेंगी तब सारी बातें बदल जायेंगी। कुछ ऐसे लोग भी थे जिन्होंने इसी आधार पर अपने अंदर एक आंतरिक माताजी का निर्माण कर लिया, उसके आदेशों तथा अहंकार और कामना के बढ़ावे को यहांपर विद्यमान माताजी के विरोधी आदेशों के मुकाबले रखा तथा यह समझने लगे कि ये बाहरी माताजी आखिरकार नयी हैं, सच्ची चीज तो वे भीतरी मां ही हैं अथवा यह मानने लगे कि माताजी आंतरिक आदेशों का विरोध करके हमारी अग्निपरीक्षा ले रही हैं और यह देख रही हैं कि हम क्या करते हैं। सत्य तो सत्य ही रहता है, परंतु मन और प्रकृति को विकृत करनेवाली इस शक्ति को भी दृष्टि में रखना चाहिये।

१७-१०-१९३६

माताजी का काम और समय

बात यह नहीं है कि तुम्हारी फ्रेंच भूलों से भरी होने के कारण माताजी उसे शुद्ध नहीं करतीं, बल्कि इस कारण नहीं करती कि मैं, जहांतक संभव हो, उन्हें अपने ऊपर अधिक कार्य नहीं लेने देता। अब भी रात को पूरा विश्राम करने के लिये उनके पास समय नहीं है और प्रायः सारी रात उन्हें कापियों, रिपोर्टों और चिट्ठियों को लेकर, जो ढेर-की-ढेर उनके पास आया करती हैं, काम करना पड़ता है। फिर भी वे उन्हें सवेरे समय पर खतम नहीं कर पातीं। अगर उन सभी लोगों की, जिन्होंने अभी-अभी फ्रेंच में लिखना आरंभ किया है तथा अन्यान्य लोगों की भी, सभी चिट्ठियों को उन्हें शुद्ध करना पड़े तो इसका

अर्थ होगा घंटा-दो-घंटा और काम करना—फिर वे सवेरे ९ बजे तक ही कार्य समाप्त कर सकेंगी और साढ़े दस बजे नीचे उतरेंगी। अतएव मैं इसे बंद करने की चेष्टा कर रहा हूं।

*

माताजी समय के अभाव के कारण कभी चिट्ठियां खोलने या किसी दूसरे काम से नहीं कतरातीं; जब वे अस्वस्थ होती हैं या आराम करने के लिये उनके पास समय नहीं होता तो भी उनके पास जो भी काम आते हैं सबको पूरा करती हैं।

१५-२-१९३६

*

माताजी चाहती हैं कि जब वे छत पर घूमें तब लोग उनकी ओर न देखें, क्योंकि थोड़ी ताजी हवा खाने तथा शरीर के स्वास्थ्य के लिये थोड़ी हरकत करने की आवश्यकता के अतिरिक्त—केवल वही समय होता है जब वे स्वयं अपने ऊपर थोड़ी-सी एकाग्रता कर सकती हैं। अगर उन्हें उतने अधिक लोगों की पुकार का प्रत्युत्तर देना पड़े तो फिर वह एकाग्रता नहीं हो सकती। बातचीत के लिये वे तुम्हें जो समय देती हैं वह एकदम दूसरी बात है; वे स्वयं उसकी व्यवस्था करती हैं और वह उनके कार्य का ही एक अंग है; अतएव उसे बदलने की कोई जरूरत नहीं। जो बात कही गयी थी वह केवल छत पर टहलने के विषय में थी।

*

लोगों से मुलाकात करने के लिये माताजी के पास बहुत थोड़ा समय है—उन्हें कितना काम करना पड़ता है! अतएव जब कोई प्रबल आवश्यकता आ पड़ती है केवल तभी वे मुलाकात करती हैं—जिन लोगों को उनके साथ काम करना होता है, उनकी बात अलग है।

१९३३

माताजी से मिलने का ठीक तरीका

जब माताजी किसी के साथ मुलाकात करती हैं तब उनके पास जाने के लिये समुचित मनोभाव है अपनी सत्ता को पूर्ण रूप से शांत-स्थिर बनाये रखना

और मन की किसी क्रिया या प्राण की किसी कामना के बिना, केवल समर्पण-भाव तथा जो कुछ दिया जाये उसे स्वीकार करने के लिये चैत्यपुरुषोचित तत्परता के साथ ग्रहण करने के लिये खुले रहना।

२३-२-१९३२

*

जब कोई माताजी के पास आता है तब उसे इन सब चीजों को मन में लेकर नहीं आना चाहिये—बल्कि स्थिरता और ज्योति में एकमात्र उस चीज को उनसे लेने के लिये आना चाहिये जिसे कि वह आत्मसात् कर सके।

१०-४-१९३४

*

जो लोग माताजी के पास भेंट-वार्ता के लिये आते हैं उनके साथ वे साधारणतया उनके शुरू करने से पहले बात नहीं करतीं। यदि उन्हें बात करनी पड़े तो वे बहुतों को मुलाकात बिलकुल ही न दें; क्योंकि तब उनके पास समय ही नहीं होगा। और फिर, माताजी साधकों की चेतना पर अपना कार्य वाणी या उपदेश के द्वारा या प्रश्नों के उत्तर देकर नहीं करतीं बल्कि एक ऐसे नीरव प्रभाव के द्वारा करती हैं जिसकी ओर अपने को खोलना उन्हें सीखना होता है।

जहांतक आश्रम-जीवन के लिये तुम्हारी तैयारी का प्रश्न है, यह तो तुम्हें अपनी प्रतिक्रियाओं से, विशेषकर अपने परिवार के विषय में प्रतिक्रियाओं से, प्रत्यक्ष हो जाना चाहिये कि तुम तैयार नहीं हो—इन वेदनों के द्वारा तुम दूर खींच ले जाये जाते और वह तुम्हारे लिये भीषण पतन होता। अपने विषय में सच्ची बात का बताया जाना और बिना प्रार्थना किये मार्गदर्शन प्राप्त करना—यह एक कृपा है जिसे साधक प्रसन्नता से स्वीकार करते हैं—रोना-धोना और आघात अनुभव करना प्राण की प्रतिक्रिया है जिसपर विजय पानी होगी। चैत्य रुदन, अंदर गहराई में स्थित अंतरात्मा से फूटनेवाला रुदन, अंतरात्मा की तीव्र चाह के आंसू, प्रकृति के प्रतिरोध के लिये शोक के और आनंद या प्रेम या भक्ति के अश्रु पतन का कारण नहीं होते, वे तो सहायक हो सकते हैं और आंतर आत्मा को खोलकर उसके पर्दों के भीतर से ऊपर ला सकते हैं; किंतु इस रुदन में कोई आयास या कष्ट नहीं होता, यह तो कोई बहुत गहरी और शांत वस्तु होता है और अपने साथ पवित्रीकरण एवं मुक्ति की अनुभूति लाता है। जो रोदन प्राण से आता है और ठेस या अभिमान या निराशा से उत्पन्न

होता है अथवा प्रकृति को झकझोरता या विचलित कर देता है उसमें यह बात नहीं होती।

१६-३-१९३७

*

कल माताजी से मिलने से पहले ही मैं निम्नतर शक्तियों को निश्चित रूप से झाड़ फेंकना चाहता हूं। यदि मैं ऐसा न कर सका तो मैं उन्हें अपना मुंह नहीं दिखाना चाहता।

यह निम्नतर शक्तियों का सुझाव है। वे तुम्हारे इस प्रकार अलग-थलग रहने के लिये एक बहाना गढ़ना चाहती हैं।

*

ऐसा प्रतीत होता है कि कल, अपने जन्मदिन पर, जब कि माताजी ने मुझे भेंट-वार्ता का सुयोग दिया था, मैंने अपने विषय में बहुत कुछ सीखा। वह संभवतः उनकी शक्ति की सहायता से प्राप्त हुआ एक प्रकार का अनुभवाश्रित ज्ञान हो। अब मैं अपने को पहले की तरह उतना दुर्बल, असहाय या अपने दोषों एवं त्रुटियों का दास नहीं अनुभव करता। बल्कि मेरे अंदर एक बढ़ता हुआ विश्वास है कि मैं अपनी सारी निम्नतर प्रकृति से छुटकारा पा सकूंगा।

यह वही चीज है जिसे हम 'सचेतन होना' कहते हैं—एक ऐसी अनुभूति है जिसका आधार चैत्यपुरुष ही होता है, भले ही यह मन में हो अथवा प्राण या भौतिक सत्ता में। इसमें संदेह नहीं कि जिस शक्ति ने इसे जगाया वह माताजी से आयी थी।

९-९-१९३७

*

पहले से ही तुम यह निश्चय क्यों कर लेते हो कि तुम्हारा जन्मदिवस निरर्थक हो गया। तुम्हें बस इन बुरी भावनाओं और बोधों को दूर फेंक देना चाहिये जो बाहरी सत्ता के अभी अपूर्ण रूप से शुद्ध हुए अंश से आते हैं तथा तुम्हें वही उचित मनोभाव ग्रहण करना चाहिये जो तुम माताजी के पास आते समय

बराबर बनाये रखते हो। दूसरे क्या भाव रखते या नहीं रखते हैं इस विषय का कोई विचार नहीं आना चाहिये—तुम्हारा संबंध माताजी और तुम्हारे बीच का संबंध है और उसका दूसरों के साथ कोई मतलब नहीं। स्वयं अपने और भगवान् के सिवा और किसी चीज का अस्तित्व तुम्हारे लिये नहीं रहना चाहिये —तुम अपने अंदर प्रवाहित होनेवाली उनकी शक्ति को बस ग्रहण करते रहो।

इस अवस्था को अधिक अच्छे रूप में प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि जो समय तुम्हारे हाथ में है उसे तुम बातचीत में खर्च मत करो— विशेषकर यदि अवसाद की कोई चीज तुम्हारे अंदर हो तो वह तर्क-वितर्क करने में समय नष्ट करेगी और उससे सच्ची चेतना को प्राधान्य प्राप्त करने में सहायता नहीं मिल सकती। एकाग्र होओ, अपने को उद्घाटित करो और अपने-आपको फिर से चैत्य अवस्था में माताजी को ले आने दो जिस अवस्था के द्वारा वह ध्यान और नीरवता में तुम्हारे अंदर अपनी शक्ति ढालेंगी।

१६-५-१९३३

जन्मदिवस की मुलाकात का तात्पर्य

माताजी जो साधकों से उनके जन्मदिवस पर मुलाकात करती हैं उसका कोई विशेष मतलब है?

जन्मदिवस के विषय में! जागतिक शक्तियों की क्रिया के अंदर एक (बहुतों में से एक) छन्द होता है जो सूर्य और ग्रहों के साथ संबंधित होता है। वह छन्द साधक की सत्ता के अधिक नमनीय होने की संभावना होने पर जन्मदिवस को संभवनीय नवरूपान्तर का दिवस बना देता है। इसी कारण माताजी लोगों से उनके जन्मदिवस पर मुलाकात करती हैं।

१८-५-१९३४

*

आपने एक बार लिखा था कि अन्य दिनों की अपेक्षा जन्मदिवस पर साधकों की भौतिक सत्ता माताजी की ओर अधिक खुली हुई और ग्रहणशील होती है। क्या इसी कारण माताजी हम लोगों को जन्मदिवस के अवसर पर विशेष रूप से आशीर्वाद देती हैं?

यह भौतिक जन्मदिन या शरीर के जन्मदिन का प्रश्न नहीं है—यह भीतर के

नवजन्म की वृद्धि के साथ-साथ जीवन में एक नये वर्ष के प्रारंभ का अवसर माना जाता है। यही अर्थ है जिस अर्थ में माताजी जन्मदिन को ग्रहण करती हैं।

७-१०-१९३६

स्वप्न में माताजी के साथ मुलाकात

बहुत दिनों से मैं माताजी से मिलने की बात सोचा करता था, परंतु मिलने की आज्ञा मांगने में हिचकिचाता था। गत रात स्वप्न में उनसे मेरी मुलाकात हुई और उनके साथ मेरी बातचीत भी हुई। क्या वे सच्ची मां थीं जिनसे मेरी मुलाकात हुई या वह मेरे स्वप्नाभिभूत मन की गढ़ी हुई कोई आकृति थी?

निस्सन्देह वे माताजी ही थीं जिनसे तुम्हारी भेंट हुई और यह भेंट उनसे मिलने के विषय में तुम्हारे विचार के कारण ही हुई होगी।

९-६-१९३५

*

कृपा कर मुझे बतलाइये कि अतिभौतिक स्तर पर बार-बार माताजी के पास मेरे जाने का क्या मतलब है। क्या मेरा प्राण अपनी शक्ति को फिर से ताजा बनाने के लिये, अपनी शुद्धि आदि के लिये जाता है?

अगर साधक थोड़े सचेतन हों तो सभी इस प्रकार अपनी नींद और स्वप्न में माताजी का पास आने का अनुभव करते हैं। जो लोग साधक नहीं हैं अथवा जो लोग माताजी को जानते नहीं हैं वे लोग भी उनके पास आते हैं, पर वे इस विषय में सचेतन नहीं होते। प्राण-लोक एक अतिभौतिक लोक है। प्राण अपने निजी लोक में इधर-उधर घूमता है और भौतिक मन या उसकी चेतना या अनुभूति से सीमित नहीं होता।

१३-७-१९३७

*

यह (अतिभौतिक लोक में माताजी के पास जाना) किसी भी उद्देश्य के लिये

या बिना किसी विशिष्ट उद्देश्य के भी हो सकता है—ऐसी बातों का कोई खास नियम नहीं है।

१४-७-१९३७

*

मैंने दो बार स्वप्न में देखा कि माताजी मुझे अपने हाथों से 'सूप' (तरकारी का रसा) दे रही हैं और मैं उनके चरणों में प्रणाम कर रहा हूं। मैंने ऐसा क्यों देखा? माताजी जो 'रसा' हमें दिया करती थीं, उसका आध्यात्मिक अर्थ क्या है?

'सूप' का इन्तजाम एक ऐसा साधन स्थापित करने के लिये किया गया था जिससे साधक भौतिक चेतना में किये गये आदान-प्रदान के द्वारा माताजी से कुछ चीज ग्रहण कर सकें। संभवतः उसी पुराने संस्कारवश जब तुम्हारी भौतिक चेतना माताजी से कोई चीज स्वप्न में ग्रहण करती है तब वैसा देखती है।

२७-७-१९३३

ध्यान में माताजी की क्रिया

जब मैंने आश्रम के आंतर मन की बात कही थी तब मैंने संक्षिप्त रूप में 'आश्रम के सदस्यों के मनों' की बात कही थी और तब दल के समष्टिगत मन की ओर मेरा ख्याल नहीं था। परंतु ध्यान के समय श्रीमाताजी का कार्य एक ही साथ समष्टिगत और व्यष्टिगत दोनों होता है। वे आश्रम के वातावरण में यथार्थ चेतना उतार लाने की चेष्टा कर रही हैं—क्योंकि साधकों के मन और प्राण का कार्य एक साधारण वातावरण उत्पन्न करता ही है। उन्होंने सन्ध्या के इस ध्यान को एक ऐसे छोटे-से अवसर के रूप में लिया है जिसमें अवतरण करनेवाली दिव्य शक्ति की एकमात्र सामर्थ्य के अंदर सब लोग एकाग्र हों। साधकों को यह अवश्य समझना चाहिये कि वे केवल एकाग्र होने के लिये, केवल ग्रहण करने के लिये, माताजी की ओर केवल उद्घाटित होने के लिये ही वहां हैं और दूसरी किसी चीज का कोई मूल्य नहीं।

नवम्बर, १९३४

*

अब ध्यान और बैठने की जगह की बात पर आयें। माताजी यह ध्यान केवल इसलिये कराती हैं कि साधकों में वे सच्ची ज्योति और चेतना उतार लायें। वे यह नहीं चाहतीं कि उसे महज एक बाह्याचार में बदल दिया जाये और न वे यह चाहती हैं कि वहां पर कोई व्यक्तिगत प्रश्न ही उठाया जाये। उसे एकमात्र ध्यान और एकाग्रता ही रहने देना चाहिये, वहां व्यक्तिगत या अन्य प्रकार की कामनाओं या मांगों या भावनाओं को नहीं उठने देना चाहिये और उसे श्रीमां के उद्देश्य में बाधक नहीं होने देना चाहिये।

२-११-१९३४

*

भौतिक उपस्थिति के द्वारा नहीं बल्कि ध्यान के समय माताजी जो एकाग्र होती हैं उससे उन लोगों में शांति उतरती है जो उसे ग्रहण करने में समर्थ होते हैं।

६-३-१९३७

*

यहां आदेश केवल माताजी ही दे सकती हैं।

माताजी तुमसे यह चाहेंगी कि तुम अहंभाव, क्रोध और दूसरों के साथ कलह के समस्त भावों को तथा इस या उस वस्तु की मांग को ताक में रखकर, केवल अपनी साधना का ही विचार करते हुए और जो एकमात्र, सचमुच में मूल्यवान् एवं आवश्यक वस्तुएं हैं उन्हें माताजी से ग्रहण करने के लिये अपने को शांत बनाकर ध्यान और प्रणाम में आओ।

२२-९-१९३६

*

जब मैं माताजी की उपस्थिति में ध्यान करने का यत्न करता हूं तो वे क्या उतार ला रही हैं इत्यादि के विषय में विचार पर विचार वेग से आकर सदा ही विघ्न डालते हैं।

यह निरी मन की एक बुरी आदत है, एक अशुद्ध क्रिया है। मन के लिये यह जरा भी लाभदायक नहीं कि वह यह पूछे या निश्चित रूप से जानने की चेष्टा करे कि माताजी की क्या इच्छा है या वे क्या ला रही हैं—इससे केवल विघ्न

ही होता है। उसे बस स्वयं शांत और एकाग्र रहकर शक्ति को काम करने देना होगा।

११-१-१९३४

*

एकाग्रता के समय मेरे अंदर सब प्रकार के निरर्थक विचार और कामनाएं उठती रहती हैं, जिन्हें मैं बाद में भूल जाता हूं। किस प्रकार मैं उन्हें याद कर माताजी की ओर खोलूं?

उसी समय अभीप्सा करो—वे स्वयं माताजी की ओर खुल जायेंगे।

२६-६-१९३३

*

माताजी के साथ सामूहिक ध्यान के समय मेरी चेतना एक पूर्ण-निष्क्रिय अवस्था में ऊपर उठ गयी। मुझे ग्रीवा तक अपने शरीर की कोई सुध नहीं रही।

उसका अर्थ है कि सम्पूर्ण मन कुछ समय के लिये देह-बुद्धि की कैद से मुक्त हो गया और विशालतर आत्मा की निष्क्रियता में मुक्त हो गया।

१६-८-१९३४

*

मैं अनुभव करता हूं कि जब माताजी ध्यानगृह में ध्यान कराने के लिये नीचे उतरती हैं तब ध्यानगृह का वातावरण आश्रम के सभी मकानों में फैल जाता है। क्या मेरा अनुभव ठीक है?

यह स्वाभाविक है कि बात ऐसी ही हो; क्योंकि माताजी को यह अभ्यास हो गया है कि जब वे आंतर कार्य पर एकाग्र होती हैं तब वे अपनी चेतना को सहज भाव से सारे आश्रम के ऊपर फैला देती हैं। सो, जो आदमी अनुभव कर सकता है वह इसे आश्रम में कहीं भी अनुभव करेगा, यद्यपि शाम के ध्यान जैसे अवसरों पर पास के घरों में शायद अधिक तीव्रता के साथ अनुभव कर सकता है।

७-११-१९३४

प्रणाम के समय माताजी की क्रिया

क्या प्रणाम के समय माताजी अधिमानस के स्तर से कार्य करती हैं?

साधारण अधिमानस से नहीं बल्कि उससे ऊपर की शक्ति से। स्वभावतः ही अधिमानस को एक प्रणालिका के रूप में प्रयोग में लाना होता है।

२२-११-१९३३

दर्शन और प्रणाम का ठीक-ठीक उपयोग

दिव्य प्रेम और पूजा की ओर अग्रसर होने के लिये भौतिक साधनों (जैसे दर्शन और प्रणाम के द्वारा स्पर्श) का उपयोग किया जा सकता है और किया जाता भी है; वे मानवीय दुर्बलताओं के लिये महज एक रियायत के रूप में नहीं मंजूर किये गये हैं और न वास्तव में यह बात ही है कि चैत्यपुरुषोचित पद्धति के अंदर ऐसी चीजों के लिये कोई स्थान ही नहीं है। इसके विपरीत, भगवान् के पास पहुंचने, ज्योति को ग्रहण करने और चैत्य संपर्क को भौतिक रूप देने के लिये ये एक साधन हैं और जबतक ये उचित मनोभाव के साथ किये जाते हैं और इनका व्यवहार वास्तविक उद्देश्य के लिये किया जाता है तबतक इनका स्थान है। जब इनका दुरुपयोग किया जाता है अथवा मनुष्य की पहुंच उचित नहीं होती क्योंकि वह उदासीनता और तामसिकता या विद्रोह या शत्रुता या किसी स्थूल कामना से कलुषित होती है, केवल तभी ये अनुपयोगी होते हैं और उलटा फल भी उत्पन्न कर सकते हैं—जैसा कि माताजी ने सर्वदा ही लोगों को सावधान किया है और यह कारण बताया है कि क्यों वे प्रत्येक आदमी के लिये खुली छूट देना पसंद नहीं करतीं।

*

किसी भी आदमी को न तो प्रणाम को कोई बाह्य दैनिक क्रिया मानना चाहिये, न कोई अनिवार्य अनुष्ठान और न ही अपने-आपको यहां आने के लिये बाध्य समझना चाहिये। प्रणाम का उद्देश्य यह नहीं है कि साधक माताजी को एक बाहरी या नियमबद्ध दैनिक सम्मान अर्पित करें, बल्कि उद्देश्य यह है कि साधक माताजी के आशीर्वाद के साथ-साथ उतनी आध्यात्मिक सहायता या प्रभाव ग्रहण कर सकें जितना कि उनकी अवस्था में ग्रहण या आत्मसात् किया जा

सकता है। उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये शांत-स्थिर और आत्म-समाहित वातावरण बनाये रखना आवश्यक है।

*

अगर तुम माताजी के दर्शन को कोई मूल्य देते हो तो अधिक अच्छा यह है कि तुम अन्तर्मुख (recueilli रकई) रहो। यदि उनका आना भोजन की न्याईं दैनिक कार्यक्रम का ही केवल एक व्यापार हो तो निःसंदेह उसका कोई महत्त्व नहीं।

Recueilli (रकई) का अर्थ है अन्तर्मुख, शांत और आत्म-समाहित।

२४-७-१९३३

*

दर्शन करने का सबसे उत्तम तरीका है अपने-आपको खूब एकाग्र और अचंचल बनाये रखना तथा माताजी जो कुछ दें उसे ग्रहण करने के लिये खुला रहना।

१२-२-१९३७

रोगी और विक्षिप्त व्यक्तियों को दर्शन के लिये लाना उचित नहीं

माताजी उस महिला को मुलाकात नहीं दे सकतीं। अधिक-से-अधिक हम इतना ही स्वीकार कर सकते हैं कि उसे प्रस्तावित ढंग से दर्शन के लिये लाया जा सकता है, किंतु उसे बस आशीर्वाद लेते ही चल देना होगा, रुकना कतई नहीं होगा। रोगी या उन्मादी व्यक्तियों को इलाज के लिये दर्शनार्थ लाना भूल है—दर्शन का प्रयोजन यह नहीं। यदि उनके लिये कुछ करना हो या किया जा सकता हो तो वह दूर से ही किया जा सकता है। दर्शन के समय जो शक्ति कार्य करती है वह और ही प्रकार की होती है और विक्षिप्त या दुर्बल मनवाला व्यक्ति उसे ग्रहण अथवा आत्मसात् नहीं कर सकता—यदि वह ग्रहण कर भी ली जाये तो उक्त अशक्तता के कारण विपरीत परिणाम पैदा कर सकती है। यदि हम शक्ति को रोक लें तो दर्शन निरर्थक हो जाता है, और यदि उसे ऐसे लोग ग्रहण कर लें तो वह उनके लिये निरापद नहीं। इस प्रकार के कारण ही उस नियम के प्रेरक हैं जो कच्ची उम्र के बालकों को दर्शन पर लाने की मनाही करता है।

१३-८-१९३७

दूसरों को प्रणाम करने का गलत सुझाव

यह (दूसरों को प्रणाम करने की इच्छा) कहीं दूसरी जगह से आया हुआ एक गलत सुझाव है। यह बड़ा जरूरी है कि दूसरों को प्रणाम करने की वृत्ति को न अपनाया जाये अथवा विचार तक में भी दूसरों को माताजी की बराबरी का या उसके लगभग भी कोई स्थान एकदम न दिया जाये।

२७-७-१९३४

प्रणाम और माताजी का सम्पर्क

माताजी का सम्पर्क तो सारे दिन और सारी रात बना रहता है। यदि कोई सारे दिन अपने भीतर उनके साथ समुचित सम्पर्क बनाये रखे तो फिर प्रणाम अपना ठीक-ठीक फल उत्पन्न करेगा, क्योंकि उस समय तुम ग्रहण करने की ठीक-ठीक अवस्था में होगे। सारे दिन को प्रणाम पर निर्भर रखना, समूचे आंतरिक मनोभाव को बाहरी सम्पर्क के अत्यंत बाह्य स्वरूप पर निर्भर रखना सारी चीज को एकदम उलट-पुलट देना है। यही भौतिक मन और प्राण द्वारा की हुई मौलिक भूल है जो सारी कठिनाई का कारण है।

१६-३-१९३५

*

यदि कोई भौतिक संपर्क की आवश्यकता के बिना माताजी के आंतरिक स्पर्श को अनुभव कर सके तो केवल तभी भौतिक संपर्क का सच्चा मूल्य वास्तव और सक्रिय रूप में प्राप्त हो सकता है। अन्यथा यह खतरा है कि वह महज अस्वाभाविक उत्तेजक वस्तु के जैसा बन जायेगा या स्वयं अपने लाभ के लिये माताजी से प्राणशक्ति आहरण करने का अवसर बन जायेगा।

२-३-१९३७

*

यदि वे भौतिक स्पर्श पर इतना निर्भर करते हैं कि उसके बिना वे कुछ भी अनुभव नहीं कर पाते तो इसका यह मतलब है कि उन्होंने आंतरिक संबंध का विकास करने के लिये उसका बिलकुल ही उपयोग नहीं किया है। यदि उन्होंने किया होता तो इतने वर्षों बाद वह आंतरिक संबंध अवश्य मौजूद होता।

आंतरिक संबंध केवल आंतरिक एकाग्रता और अभीप्सा के द्वारा ही विकसित किया जा सकता है, प्रत्येक दिन के महज बाहरी प्रणाम के द्वारा नहीं। अधिकतर लोग माताजी से महज प्राण-शक्ति आहरण करते हैं और उसी पर जीते हैं— किंतु प्रणाम का उद्देश्य यह नहीं है।

४-३-१९३७

*

हां, परंतु प्राण की परीक्षा बहुत मूर्खतापूर्ण होती है। चाहे तुम माताजी को देखो या न देखो तब भी यदि तुम्हारी साधना चलती रहे तो यह इस बात को सूचित करेगा कि चैत्य संबंध स्थायी रूप से बना हुआ है और सर्वदा कार्य कर रहा है और वह भौतिक संपर्क पर निर्भर नहीं करता। मालूम होता है कि तुम्हारा प्राण यह समझता है कि यदि तुम माताजी को न देखो तो तुम्हारी साधना अवश्य बंद हो जायेगी, परंतु इसका तो केवल यही अर्थ होगा कि प्रेम और भक्ति को भौतिक संपर्क की उत्तेजना की आवश्यकता होती है। किन्तु, उसके विपरीत, प्रेम और भक्ति की सबसे बड़ी पहचान यह है कि उनकी आग लम्बी अनुपस्थिति में भी उतने ही जोर से जलती रहे, जितने जोर से वह उपस्थिति में जलती है। अगर तुम्हारी साधना प्रणामवाले दिनों में और बिना प्रणामवाले दिनों में भी चलती रहे तो फिर यह सिद्ध नहीं होता कि तुममें प्रेम और भक्ति नहीं है, बल्कि यह सिद्ध होता है कि वे इतने प्रबल हैं कि सभी परिस्थितियों में अपने-आप बने रह सकते हैं।

८-६-१९३६

*

यह बड़ी विचित्र बात है कि जब माताजी हमसे मिलती हैं और घनिष्ठता के साथ हमसे बातें करती हैं उस समय की अपेक्षा मैं प्रणाम के समय उन्हें अधिक निकट अनुभव करता हूं। क्या भौतिक मन के किसी दोष के कारण ऐसा होता है?

हां,—अथवा कम-से-कम भौतिक चेतना के किसी भाग की किसी कमी के कारण।

३०-४-१९३४

*

माताजी को प्रणाम करने के ठीक बाद मैंने हृदय में एक अकल्पनीय गहराई का अनुभव किया, साथ ही यह भी कि एक अग्नि फूटी पड़ रही है।

यह निःसन्देह चैत्य गहराई और चैत्य अग्नि है।

५-५-१९३६

*

जब माताजी ने 'क्ष' को आशीर्वाद देने के लिये उसके सिर पर अपना हाथ रखा तो मैंने अपने सिर पर उनका स्पर्श ठोस रूप में अनुभव किया! यह कैसे होता है?

इससे पता चलता है कि तुम्हारी सूक्ष्म भौतिक सत्ता सचेतन बन रही है और उसने माताजी का स्पर्श एवं आशीर्वाद अनुभव किया जो वहां सदा ही विद्यमान है।

२०-३-१९३५

*

प्रणाम के समय माताजी की ओर से एक स्पर्श सदा ही आ रहा होता है, उसे ग्रहण करने के लिये व्यक्ति को सचेतन और उन्मीलित होना होता है।

१४-११-१९३३

*

क्या आश्रम में कुछ दूरी पर माताजी के प्रभाव को उसी प्रकार ग्रहण करना संभव है जिस प्रकार हम प्रणाम के समय ग्रहण करते हैं?

ग्रहण करना संभव तो है, पर उसी प्रकार से नहीं। वहां एक चीज की कमी रहती है, वह है भौतिक चेतना पर स्पर्श।

३०-५-१९३३

*

सायंकाल जब मुझे देर हो जाती है और मैं माताजी के दर्शन से चूक

जाता हूं तो क्या मैं उनका प्रकाश उसी प्रकार ग्रहण करता हूं जिस प्रकार मैं वहां उपस्थित होने पर करता?

तुम उनका प्रकाश सब समय ग्रहण कर सकते हो—यद्यपि भौतिक सान्निध्य की अवस्था की अपेक्षा कम ठोस रूप में।

१-९-१९३३

*

आपने लिखा था : "आंतरिक स्पर्श के बिना आंतर सत्ता कार्य नहीं कर सकती।" मेरी समझ में नहीं आया कि इससे मेरे प्रश्न का समाधान कैसे हुआ। माताजी का जो आंतरिक या सूक्ष्म स्पर्श मैंने पहले अनुभव किया था उसका वही प्रभाव नहीं हुआ जो प्रणाम के समय उनके भौतिक स्पर्श का हुआ। पहला तो आया और क्रियात्मक दृष्टि से कोई भी प्रभाव छोड़े बिना कुछ क्षणों में ही अदृश्य हो गया, जब कि दूसरे की छाप, विषाद और प्रतिरोध के रहते भी, दीर्घकाल तक बनी रही।

ऐसा इसलिये है कि तुम अपनी बाह्य सत्ता में रहते हो, अन्तःसत्ता में नहीं। पर जबतक तुम आन्तरिक स्पर्श की ओर नहीं खुलते तबतक आंतर सत्ता विकसित नहीं हो सकती।

३-२-१९३७

*

आंतर स्पर्श का अर्थ है अन्तःसत्ता में अनुभूत माताजी का प्रभाव।

६-२-१९३६

*

जब मुझे अनुभव और साक्षात्कार हुए तो फिर मुझे आंतर स्पर्श का संवेदन क्यों नहीं हुआ, क्योंकि यह कहा जाता है कि उसके बिना किसी को भी अनुभव (जो अन्तःसत्ता के विकास के ही फल हैं) प्राप्त नहीं हो सकते?

तुम्हें उसका संवेदन इसलिये नहीं हुआ कि अन्तःसत्ता उसकी ओर जागरित

नहीं थी—उसने (अन्तःसत्ता ने) केवल परिणामों को ही अनुभव किया—और ये परिणाम स्वयं अन्तःसत्ता में नहीं बल्कि ऊर्ध्वस्थ आत्मा में अनुभूत हुए।

६-२-१९३७

भीतरी और बाहरी सम्पर्क

माताजी के साथ अपने भीतरी सम्पर्क को बढ़ने दो—यदि वह न हो तो बाहरी सम्पर्क अत्यधिक बढ़ जाने पर सहज ही विकृत होकर दैनिक कार्यक्रम बन जाता है।

*

मेरा मतलब है आंतरिक सम्पर्क जिसमें या तो मनुष्य अपने को उनके साथ एक या उनके सम्पर्क में अनुभव करता है या उनकी उपस्थिति के विषय में सचेतन होता है अथवा कम-से-कम सदा उनकी ओर मुड़ा होता है।

१६-३-१९३५

*

आज मुझे ऊपर माताजी के कमरे में जाने की बड़ी तीव्र इच्छा हुई थी जिससे कि मैं उनके समीप और घनिष्ठ सम्पर्क में पहुंच सकूं।

परंतु माताजी के निकट आना 'भीतरी' कमरों में होना चाहिये, बाहरी क़मरों में नहीं। क्योंकि भीतरी कमरों में मनुष्य सर्वदा प्रवेश कर सकता है और वहां स्थायी रूप से रहने की व्यवस्था भी कर सकता है।

८-३-१९३५

*

यह कैसी बात है कि आपको पत्र लिखते समय उच्चतर वस्तुएं बढ़ जाती और प्रबलतर हो जाती हैं?

मेरी समझ में इसका कारण यह है कि लिखने की क्रिया में या वस्तुतः उसके आरंभ में तुम माताजी के और 'शक्ति' के सम्पर्क में आ जाते हो।

१०-५-१९३६

श्रीमां के देने के दो तरीके

माताजी दोनों तरीकों से देती हैं। आंखों के द्वारा वे चैत्य पुरुष को देती हैं और हाथ के द्वारा स्थूल सत्ता को।

२९-९-१९३२

*

स्पष्ट ही इसके साथ समय का कोई संबंध नहीं है। एक घंटे का स्पर्श हो या एक क्षण का—जितना एक के द्वारा दिया जा सकता है उतना ही दूसरे के द्वारा भी।

१८-४-१९३५

*

माताजी ने तुम्हें जो संक्षिप्त-सा ही आशीर्वाद दिया वह तुम्हारे किसी दोष के कारण नहीं; ऐसा उन्हें उन सभी के लिये करना होता है जो शुरू में आते हैं क्योंकि उन्हें जल्दी से अपने काम पर जाना पड़ता है। यदि तुम्हें देर तक आशीर्वाद चाहिये तो तुम्हें पीछे आना होगा। परंतु जब तुम्हें शुरू में आना पड़े तब भी यदि तुम शांत और खुले रहो तो माताजी के संक्षिप्त-से आशीर्वाद में से भी उतना ही लाभ प्राप्त कर सकते हो।

माताजी के फूल देने का तात्पर्य

प्रतिदिन प्रणाम के समय माताजी जो हमें फूल देती हैं उसका क्या अर्थ है?

उसका अर्थ है उस चीज को उपलब्ध करने में सहायता देना जिसका सूचक वह फूल होता है।

२८-४-१९३३

*

क्या फूल महज प्रतीक ही हैं, उससे अधिक और कुछ नहीं? उदाहरण के लिये, क्या नीरवता का प्रतीक फूल नीरवता की उपलब्धि में सहायता कर सकता है?

जब माताजी फूल के अंदर अपनी शक्ति भर देती हैं तभी वास्तव में वह एक प्रतीक से अधिक कुछ बनता है। उस समय, यदि उसे पानेवाले आदमी में ग्रहणशीलता हो तो, वह बहुत प्रभावशाली हो सकता है।

१९-७-१९३७

*

हम माताजी से वह फूल नहीं पाते जो हमारे मन के मतानुसार हमें मिलना चाहिये।

स्पष्ट ही है कि वैसा नहीं होता—मन अपनी पसंदगी या ख्याल के अनुसार या क्या होना चाहिये इस विषय की किसी मानसिक भावना के अनुसार इच्छा करता है; जो कुछ आवश्यक है उसे संबोधि द्वारा देखकर माताजी निर्णय करती हैं।

९-७-१९३४

माताजी का भौतिक सामीप्य और साधना में उन्नति

यह समझना भूल है कि जो लोग शरीर से माताजी के पास जाते हैं वे उन लोगों की अपेक्षा, जो प्रणाम या ध्यान के सिवा अन्य समय उनसे मुलाकात नहीं करते, पूर्णता के अपने लक्ष्य के कहीं अधिक निकट हैं। सब निर्भर करता है आंतर सत्ता पर और इस बात पर कि वह सत्ता किस प्रकार उनसे मिलती, उनकी शक्ति को ग्रहण करती और उससे लाभ उठाती है। निःसन्देह, यदि लोग अपने चैत्य पुरुष को प्रमुख स्थान में रखकर उनसे मिलें, और केवल बाहरी चेतना में ही न मिलें, तो बात दूसरी ही होगी, पर...।

२९-७-१९३६

*

बहुत-से लोग ऐसा विश्वास करते हैं कि जिन लोगों को माताजी बार-बार मिलने के लिये मौका देती हैं और प्रायः ही चीजें भेजती हैं वे उनके बहुत समीप हैं तथा तेजी से उन्नति कर रहे हैं; परंतु जिन लोगों से वे अक्सर नहीं मिलतीं या जिनके पास चीजें नहीं भेजतीं, उन्हें अपनी साधना करने का केवल एक मौका ही दिया गया है। क्या यह विश्वास ठीक है?

यह सब निरर्थक बात है। जिन लोगों को माताजी बहुत कम या कभी नहीं बुलातीं और जिन्हें कुछ नहीं भेजतीं उन लोगों में भी कुछ लोग अत्यंत ऊंचे साधक हैं। वे लोग इसकी आशा भी नहीं करते—वे निरंतर माताजी को अपने साथ अनुभव करते और संतुष्ट रहते हैं तथा और कोई चीज नहीं मांगते।

२७-७-१९३३

*

आपने कहा है कि जो लोग आश्रम से बाहर साधना करते हैं वे लोग इसे पूरी तरह नहीं कर सकते, क्योंकि आश्रम में माताजी के भौतिक सामीप्य में रहना ही रूपांतर की संभावना उत्पन्न कर सकता है। इस बात को थोड़ा और आगे खींच ले जाने पर स्वभावतः ही यह सिद्धांत निकलता है कि आश्रम में भी जो लोग शरीर से माताजी के अधिक निकट निवास करते हैं और उनसे अधिक बार मिलते हैं वे भीतरी दल के लोग हैं, बाहरी रूप में भी अधिक घनिष्ठ हैं, और इसलिये रूपांतर के अधिक निकट हैं। यह ठीक है न?

आश्रम में रहना एक बात है और माताजी के साथ एक छोटी-सी चौहद्दी के अंदर रहना दूसरी बात। तुम्हारा प्रतिपाद्य विषय बहुतेरे मानसिक तर्कों की तरह जीवन के वास्तविक तथ्यों के द्वारा खण्डित होता है। उस आधार पर यह तर्क किया जा सकता है कि माताजी के साथ एक ही मकान में रहनेवाला 'अ' बाहर रहनेवाले 'ब' की अपेक्षा पूर्णता के अधिक निकट तथा 'स' या 'द' की अपेक्षा और भी अधिक निकट है। 'ई' प्रणाम के समय तथा अपने जन्मदिन को छोड़कर माताजी के साथ कभी मुलाकात नहीं करती, इसलिये वह निश्चय ही एकदम पिछड़ी हुई साधिका होगी और 'फ' माताजी से रोज पांच, दस, पन्द्रह या बीस मिनट तक बातें करता है इसलिये वह 'ई' से बहुत आगे बढ़ा हुआ होगा, पूर्णता की ओर काफी आगे होगा। परंतु ये बातें ठीक ऐसी नहीं हैं। इसलिये यह तर्क किसी बात में नहीं ठहरता। साधना में उन्नति करना या उच्च योग्यता का होना माताजी के निकट होने या अधिक बार उनसे मुलाकात करने पर नहीं निर्भर करता।

३०-७-१९३६

*

जो लोग बहुधा माताजी के पास जाते हैं वे बड़े ही सौभाग्यशाली होंगे। क्या यह ठीक नहीं?

अगर किसी के अंदर कामना या मांग हो तो वह सब प्रकार के दावे, क्रोध, ईर्ष्या, निराशा, विद्रोह आदि को ले आती है जो साधना को नष्ट कर देते हैं और उसमें कोई सहायता नहीं पहुंचाते। कुछ दूसरों के लिये माताजी का सामीप्य एक मिली-जुली चीज बन जाता है।

*

कुछ वर्ष पूर्व माताजी खुले तौर पर लोगों को अपना भौतिक सम्पर्क प्रदान करती थीं। अगर साधकों में समुचित प्रतिक्रिया हुई होती तो क्या तुम समझते हो कि वे पीछे हट जातीं और उसे घटाकर कम-से-कम कर देतीं? निःसंदेह, अगर मनुष्य यह जानें कि किस भाव में उनसे चीजें ग्रहण करनी चाहियें तो भौतिक स्पर्श एक बहुत बड़ी चीज है—परंतु उसके लिये निरंतर शरीर से निकट रहना आवश्यक नहीं है। बल्कि उससे बहुत जोर से दबाव पड़ता है और उसे कितने आदमी सह सकते हैं?

२२-४-१९३३

*

यह अहं ही है जो यह चाहता है कि सबसे पहला या विशेष रूप से चुना हुआ एकमात्र अकेला व्यक्ति होने से जो तुष्टि होती है वह मुझे प्राप्त हो। इस अहंमय प्राणिक मांग और इससे उत्पन्न सभी परिणामों और उपद्रवों के कारण माताजी के लिये यह आवश्यक हो गया कि वे समीपता की भौतिक अभिव्यक्ति को कम-से-कम कर दें।

१७-४-१९३५

*

बस, एक ही प्रधान बात है भीतरी मनोभाव को बनाये रखना तथा सभी बाहरी परिस्थितियों से स्वतंत्र रूप में माताजी के साथ भीतरी संबंध स्थापित करना। यही वह चीज है जो सभी आवश्यक चीजों को ले आती है। जो लोग योग में अत्यंत गहराई तक पहुंचे हुए हैं वे वे लोग नहीं हैं जो भौतिक रूप में माताजी से सबसे अधिक मिलते-जुलते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो निरन्तर उनके

सान्निध्य या एकत्व में निवास करते हैं पर जो प्रणाम या शाम के ध्यान के अतिरिक्त साल में केवल एक बार ही उनके पास जाते हैं।

१३-११-१९३४

*

वर्तमान अवस्था में शरीर से माताजी के पास आने की अपेक्षा उनकी ओर अपने को खोलकर अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है। कुछ लोग तो, जो यह आग्रह करते हैं कि माताजी उन्हें बुलायें, आगे बढ़ने की अपेक्षा पीछे हटते हैं—क्योंकि वे इसका आग्रह करते हैं और इस तरह वे प्राणिक मांग का एक आधार स्थापित करते हैं जो माताजी के साथ के संबंधों के लिये एक बालू की भीत का काम करता है।

*

क्या यह सच नहीं है कि जो माताजी को बहुत अधिक बार देखता और उनसे बातचीत करता है वह उनकी उपस्थिति में रहने के कारण अधिक प्रकाश ग्रहण करता है?

नहीं। यह संपूर्ण रूप से निर्भर करता है व्यक्ति की अवस्था और उसके मनोभाव के ऊपर। विशेषकर, अगर वे माताजी को देखने का अथवा जब वे यह चाहें कि वे चले जायें तब रहने का हठ करें या उनका मनोभाव खराब हो और वे उसे माताजी पर फेंकें तो माताजी से मिलना उनके लिये बहुत हानिकारक होगा। माताजी उन्हें जो कुछ देती हैं उसीसे उनमें से प्रत्येक व्यक्ति को संतुष्ट रहना चाहिये, क्योंकि एकमात्र वही यह समझती हैं कि वे क्या ग्रहण कर सकते हैं और क्या नहीं। इस प्रकार की मानसिक रचनाएं और प्राणिक मांगें बराबर ही मिथ्या होती हैं।

३-४-१९३३

*

यहांपर जरा गोलमाल है। माताजी की कृपा एक चीज है, परिवर्तन के लिये पुकार दूसरी, और उनके सामीप्य का दबाव तो और भी भिन्न चीज है। जो लोग शरीर से उनके निकट हैं वे किसी विशेष कृपा या प्रेम के कारण नहीं, बल्कि अपने काम की आवश्यकता के कारण निकट हैं—इसी बात को यहां

प्रत्येक व्यक्ति समझने या विश्वास करने से इनकार करता है, पर यही यथार्थ बात है कि सामीप्य अपने-आप एक दबाव के रूप में काम करता है, दूसरी किसी चीज के लिये न भी हो तो, इसलिये कि वे अपनी चेतना को माताजी की चेतना के अनुकूल बनायें और इसका अर्थ है परिवर्तन; परंतु ऐसा करना उनके लिये कठिन होता है, क्योंकि उन दोनों चेतनाओं के बीच का अंतर, विशेषकर भौतिक स्तर पर, बहुत बड़ा है और वे काम के लिये इस भौतिक स्तर पर ही उनसे मिलते हैं।

२७-४-१९४४

*

क्या यह सच नहीं है कि जो लोग शरीर से माताजी के अत्यंत समीप हैं वे वही व्यक्ति हैं जो उनकी ओर खुले हुए हैं, उनके संकल्प के साथ 'एक' बने हुए हैं और अपनी आंतर सत्ता में उनके समीप हैं? क्या यह भी ठीक बात नहीं है कि शरीर से माताजी के पास रहने से विशेष लाभ प्राप्त होते हैं?

माताजी के "संकल्प के साथ एक" होना या पूर्ण रूप से खुल जाना इतना आसान नहीं है। शरीर से नजदीक रहने से आगे बढ़ने के लिये, पूर्ण होने के लिये निरंतर दबाव पड़ता रहता है जिसका प्रत्युत्तर देने में आजतक कोई समर्थ नहीं हुआ है। इस विषय में लोगों ने मानसिक विचार बना लिये हैं और वे सही नहीं हैं।

'अ' की मांग थी कि उसे भीतर रहने दिया जाये या सब समय (माताजी के कमरे में) उसे आने-जाने की स्वतंत्रता दी जाये (जो किसी भी आदमी को, न तो 'ब' को, न 'स' को, न और ही किसी को दी गयी है) और जो लोग वहां आते-जाते हैं उनके साथ उसे बराबरी का या उनसे ऊंचा स्थान दिया जाये। ऐसी मांग यह सूचित करती है कि जिन कारणों से (इसमें किसी पर विशेष कृपा या प्रेम करने की कोई बात नहीं है) इस बात की आज्ञा दी जाती है, उनके और साथ ही वस्तुओं की उपयुक्तता के विषय में भी उसमें पूरी नासमझी है। अगर उसे इसकी आज्ञा दे दी गयी होती तो वह उसे थोड़े दिनों तक भी सहन न कर पाती। 'ब' और 'स' की बात भिन्न है—उनको वहां विशेष काम करना होता है और उसी कारण उनका माताजी के पास आना या उनसे बार-बार मुलाकात करना आवश्यक होता है। साधना की दृष्टि से बड़े

होने के साथ इसका बिलकुल ही कोई संबंध नहीं है, जिसकी ओर स्वयं तुमने भी 'द' आदि के उदाहरण देकर संकेत किया है।

७-३-१९३५

*

मेरा मतलब यह नहीं था कि शरीर के समीप रहना महत्त्वपूर्ण है बल्कि यह था कि इसे आसानी से नहीं सहन किया जा सकता। प्रणाम के समय स्पर्श प्राप्त करना और शरीर से समीप रहना दोनों का अर्थ एक नहीं है। शरीर से समीप रहने का मेरा मतलब था माताजी के साथ रहना या उनके साथ बार-बार भौतिक संपर्क में आना...। समीपता को सहन करने का जहांतक संबंध है, अधिकांश लोग यथासंभव दबाव की ओर से अपने को बंद करके ही साधारणतया उसे सहन करते हैं—जब वे वैसा नहीं कर पाते तब वे उससे घबरा जाते हैं। इस विषय की सारी बात बस यही है।

५-८-१९३५

*

मेरा ख्याल है कि ये सब मानसिक रचनाएं हैं। तुम अपने मन में यह गढ़ रहे हो कि 'क' को क्या अनुभव करना चाहिये। परंतु सच पूछा जाये तो न तो 'क' की, न और किसी की कठिनाइयां माताजी के पास आने या उनके साथ एक, दो या तीन घंटे तक बैठे रहने से दूर होती हैं। बहुत लोगों ने ऐसा किया है और जैसे वे आये वैसे ही दुःखी, निराश और विद्रोही बनकर चले गये। जो लोग माताजी से भेंट किया करते हैं उनमें से कुछ लोगों के सामने उतनी ही बुरी और उतनी ही अधिक कठिनाइयां हैं जितनी तुम्हारे सामने। यह भी सच नहीं है कि जिन लोगों ने माताजी के साथ अधिक बातचीत (मकानों, मरम्मतों, नौकरों आदि के विषय में) की है उन्होंने माताजी को अधिक अच्छा समझा है। आरंभ के दिनों में लोग दूसरे ढंग से माताजी के साथ बहुत अधिक मुलाकात किया करते थे, वे उनके साथ सब प्रकार के विषयों पर बातें किया करते थे—पर उन लोगों ने भी वास्तव में माताजी को नहीं समझा था। मैं फिर कहता हूं कि यह सब मन की सृष्टि और गढ़ी-गढ़ाई कल्पना है तथा यथार्थ बातों के साथ इसका कोई मेल नहीं। जब कोई भीतर से माताजी की ओर खुला होता है केवल तभी उनके 'संपर्क' से, भौतिक नहीं वरन् आध्यात्मिक या आंतर संपर्क से लाभ उठाता है, और फिर उनके विषय का महज एक

विचार ही किसी भी गलत चीज को सुधार सकता है। उस समय भौतिक संपर्क भी सहायता कर सकता है, पर वह अनिवार्य नहीं है। रही उनको समझने की बात, सो कोई उन्हें केवल आध्यात्मिक चेतना में प्रवेश करने पर ही समझ सकता है, अथवा यदि मन में न समझे तो कम-से-कम एक बढ़ते हुए एकत्व के द्वारा यह अनुभव कर सकता है कि वे क्या हैं और उसके अनुरूप कार्य कर सकता है।

४-८-१९३५

*

इस अर्थहीन भ्रांत विश्वास को वापस बुलाना या इसे आंतरिक शांति को भंग करने देना एक बड़ी मूर्खता है,—क्योंकि दूसरी कोई बात वास्तविक और व्यावहारिक सत्य से उतनी अधिक दूर नहीं हो सकती जितनी यह मान्यता कि जो लोग शरीर से माताजी के निकट रहते हैं या बार-बार उनके पास जाते हैं वे दूसरों की अपेक्षा अधिक सुखी या अधिक संतुष्ट हैं—यह जरा भी सत्य नहीं है। अगर तुम केवल इस भ्रम से छुटकारा पा जाओ तो कोई भी चीज दिव्य शांति की वृद्धि को रोक नहीं सकती और न उस आंतरिक सामीप्य में ही बाधा पहुंचा सकती है जो इस आश्रम में लोगों को दिव्य प्रसन्नता देनेवाली एकमात्र वस्तु है। प्रसन्नता अंतरात्मा की संतुष्टि से प्राप्त होती है, प्राण की या शरीर की संतुष्टि से नहीं। प्राण कभी संतुष्ट नहीं होता; शरीर भी जो कुछ आसानी से या बराबर पाता है उससे आकर्षित होना शीघ्र ही बंद कर देता है। एकमात्र चैत्यपुरुष ही सच्ची प्रसन्नता और आनंद ले आता है।

८-९-१९३४

'बिलकुल ठीक'। किसी को भी किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या करने की जरूरत नहीं, क्योंकि हर एक का (माताजी के साथ) संपर्क का अपना एक विशेष बिंदु होता है जो दूसरे किसी भी व्यक्ति का नहीं होता—वह उस बिंदु से अलग होता है जो सबमें होता है।

४-९-१९३४

प्रणाम के समय की माताजी की मुस्कान और स्पर्श के विषय में भ्रांत धारणाएं

माताजी प्रत्येक आदमी के साथ अलग-अलग तरीके से, उसकी आवश्यकता और उसके स्वभाव के अनुसार बर्ताव करती हैं, किसी कठोर मानसिक नियम के अनुसार नहीं करतीं। यह बात उनके लिये बिलकुल निरर्थक है कि वे प्रत्येक आदमी के साथ बस एक ही जैसा व्यवहार करें मानों सब लोग मशीन हों और उन्हें एक तरह से ही छूना और चलाना जरूरी हो। इसका बिलकुल ही यह मतलब नहीं है कि वे एक आदमी को दूसरे से अधिक प्यार करती हैं अथवा जिन्हें वह एक खास ढंग से छूती हैं वे अधिक अच्छे या कम अच्छे साधक हैं। साधक इस ढंग से विचार करते हैं क्योंकि वे अज्ञान और अहंकार से भरे हैं। सच पूछा जाये तो उन्हें यह नहीं सोचना चाहिये कि माताजी एक पर अधिक कृपा करती हैं या दूसरे पर कम और न उन्हें जो कुछ वे करती हैं उसमें मुकाबला करना और उसका निरीक्षण करना चाहिये, बल्कि उसके बदले उन्हें प्रणाम के समय बस इसी बात से संबंध रखना चाहिये कि माताजी के प्रभाव के प्रति स्वयं उनमें कितनी आध्यात्मिक ग्रहणशीलता है। प्रणाम इसीलिये है, अन्य चीजों के लिये नहीं जिनका साधना के साथ कोई संबंध नहीं।

ईर्ष्या और स्पर्द्धा मानव स्वभाव की सामान्य चीजें हैं, पर ये ठीक वही चीजें हैं जिन्हें एक साधक को अपने अंदर से अवश्य निकाल फेंकना चाहिये। नहीं तो वह भला साधक ही किसलिये है? उसके यहां रहने का उद्देश्य ही यह माना जाता है कि वह भगवान् की खोज करेगा—परंतु भगवान् की खोज के अंदर ईर्ष्या, स्पर्द्धा, क्रोध आदि के लिये कोई स्थान नहीं। ये सब अहंकार की क्रियाएं हैं और भगवान् के साथ एकत्व प्राप्त करने में केवल बाधाएं ही उत्पन्न कर सकती हैं।

बहुत अच्छा हो यदि मनुष्य यह याद रखे कि वह भगवान् की खोज कर रहा है और उसे ही अपने जीवन की संपूर्ण नियामक भावना और लक्ष्य बना ले। यही चीज माताजी को दूसरी किसी चीज से कहीं अधिक प्रसन्न करती है; ये ईर्ष्या-द्वेष और स्पर्द्धा और उनकी कृपा पाने की प्रतियोगिता आदि चीजें उन्हें केवल अप्रसन्न और दुःखी ही बना सकती हैं।

३१-१०-१९३५

*

प्रणाम के समारोह के समय मैं माताजी की क्रिया के रहस्य की थाह नहीं ले पाता : वे क्या देती हैं और कैसे मैं उसे ग्रहण करता हूं। मेरे सिर पर उनके स्पर्श का या मेरी आंखों में उनके दृष्टि डालने का आंतरिक अर्थ क्या है?

पहले तुम्हें आंतरिक अन्तर्ज्ञानमयी प्रतिक्रिया का विकास करना होगा—अर्थात् सोचने और देखने की क्रिया मन से कम और अन्तश्चेतना से अधिक करनी होगी। अधिकतर लोग सब कुछ मन से करते हैं, किंतु मन भला कैसे जान सकता है? मन तो अपने ज्ञान के लिये इन्द्रियों पर निर्भर करता है।

१०-७-१९३६

*

माताजी की दृष्टि और आशीर्वाद देते हुए उनके हाथ के विषय में आश्रम में जो विचार फैला हुआ है वह पूर्ण रूप से अयुक्तिसंगत, मिथ्या और मूर्खतापूर्ण भी है। मैंने सैकड़ों बार लोगों को लिखा है कि यह सारी बात ही गलत है और उपद्रव खड़ा करने की दृष्टि से किये गये विरोधी शक्तियों के मिथ्या सुझाव पर अवलम्बित है। माताजी अपनी नाराजगी दिखाने के लिये या साधक के किसी कृत्य के कारण मुस्कुराना बंद नहीं करतीं या अपनी मुस्कुराहट या आशीर्वाद देने का ढंग नहीं बदलतीं। वह, जैसा कि कुछ लोग नाराजगी के साथ विश्वास करते हैं, इस ढंग से अपनी हंसी या आशीर्वाद की मात्रा ठीक नहीं करतीं जिससे प्रत्येक साधक के लिये उसके अच्छे या बुरे आचरण के अनुसार नम्बर प्राप्त हो जायें। इन परिवर्तनों का उद्देश्य, एक ही श्रेणी के छात्रों की तरह, प्रत्येक साधक के लिये प्रतिद्वन्द्विता में प्राप्त स्थान निश्चित करना नहीं है। ये सब विचार एकदम युक्तिविरुद्ध, नगण्य और अनाध्यात्मिक हैं। आश्रम कोई विद्यार्थियों की कक्षा नहीं है और न योग ही प्रतियोगितात्मक परीक्षा, (Competitive Examination) है। यह सब संकीर्ण भौतिक मन और प्राणगत अहंकार तथा कामना-वासना की सृष्टि है। यदि साधक सच्चा आधार पाना चाहें और सच्ची उन्नति करना चाहें तो उन्हें इन विचारों को एकदम अपने मन से निकाल डालना चाहिये। परंतु उनके मन को यह मिथ्यापन इतना प्रिय है कि जो कुछ मैं लिख सकता हूं वह सब लिखने पर भी वे इससे हठपूर्वक चिपके रहते हैं। तुम्हें इससे पूरी तरह छुटकारा पा लेना चाहिये। प्रणाम के समय माताजी साधक की सहायता करने के लिये अपनी शक्ति देती हैं—साधक का यह

कर्तव्य है कि वह उसे चुपचाप और सरल भाव से ग्रहण करे, इन मूर्खतापूर्ण विचारों के द्वारा तथा यह सब देखने में ही उस अवसर को न खो दे कि कौन उनका हाथ और उनकी मुस्कुराहट अधिक पाता है और कौन कम। यह सब अवश्य दूर होना चाहिये।

८-१२-१९३६

*

प्रणाम के समय माताजी अपने विशेष हाव-भाव से हमें क्या दिखाना चाहती हैं? क्या उनका हाव-भाव सम्बद्ध व्यक्तियों के किसी कार्य को उनके पसंद करने या न करने को प्रकट करता है?

वे तुम्हें कुछ भी नहीं दिखाना चाहतीं; माताजी का हाव-भाव साधकों के कार्यों या गलत कार्यों से कोई संबंध नहीं रखता। प्रणाम का प्रयोजन यह नहीं कि व्यक्ति माताजी के हाव-भाव को ध्यान से देखे या यह देखे कि अमुक-अमुक व्यक्ति के साथ वे क्या करती हैं या किस प्रकार मुस्कुराती हैं अथवा अपने हाथ के कितने भाग से आशीर्वाद देती हैं—साधकों का इन चीजों में लगे रहना मूर्खतापूर्ण है और अधिकांश में यह भ्रांत अनुमानों एवं कल्पनाओं से और बहुधा कौतूहल, गपशप की इच्छा, आलोचना आदि से भरा होता है। मन की ऐसी अवस्था साधना में बाधक ही होती है, सहायक नहीं। ठीक मनोभाव है आत्मोत्सर्ग का भाव और माताजी जो कुछ देना चाहती हैं उसके प्रति सीधी-सादी और सरल ग्रहणशीलता का तथा सत्ता में उनकी क्रिया के प्रति क्षोभरहित तथा अक्षोभजनक उद्‌घाटन का भाव।

*

यह एकबारगी समझ लो कि माताजी प्रणाम का उपयोग अपनी प्रसन्नता और अप्रसन्नता प्रकट करने के लिये नहीं कर रहीं; वह इस प्रयोजन के लिये अभिप्रेत नहीं। वह एकमात्र अवस्था, जिसमें प्रणाम के समय माताजी का मनोभाव साधक के कार्यों से प्रभावित हो सकता है, तब उत्पन्न होती है जब कोई भारी विश्वासघात या आध्यात्मिक जीवन के मुख्य नियमों का उग्र भंग होता है... अथवा जब साधक माताजी और योग का सुनिश्चित रूप से विरोधी बन गया होता है। परंतु तब यह प्रणाम के समय अप्रसन्नता का विशेष

प्रकाशन नहीं बल्कि कृपा के दान का वापिस ले लेना होता है जो एक बिलकुल भिन्न बात है।

*

बहुत-से साधकों को यह सोचने की आदत है कि माताजी नाराज हैं, उन्हें मुस्कान नहीं दे रहीं, कुपित हैं, जब कि बात इससे बिलकुल उलटी होती है। ऐसा साधारणतया तब होता है जब उनकी अपनी चेतना शांत नहीं होती अथवा जब वे अपने दोषों या उन अशुद्ध क्रियाओं या गलत कार्यों के विषय में सोच रहे होते हैं या उनसे सचेतन होते हैं जो उन्होंने किये हों। यह विचार कि माताजी कुपित हैं एक कल्पना ही है; यदि कोई ऐसी चीज हो जो सामान्यतया नहीं होती तो वह स्वयं साधक में होती है, माताजी में नहीं।

*

माताजी की शक्ति सर्वथा सुचारु रूप से और धीरे से उतर सकती है—उसके लिये हृदय के धड़कने, सिर में चक्कर आने या जी मिचलाने की कोई जरूरत नहीं।

माताजी तुम पर जरा भी गुस्सा नहीं थीं। मैं समझता हूं तुमने आशा की थी कि वे गुस्सा होंगी और फिर वैसी ही तुम उन्हें देखते हो? सभी साधक ऐसा ही करते हैं और माताजी के चेहरे या ढंग में अपनी ही कल्पना की चीजों को देखने की इस आदत से मैं उन्हें अभी तक मुक्त नहीं कर पाया।

*

हम तो इसपर बहुत अधिक निर्भर करते हैं कि माताजी के तरीकों में हमारे लिये उनका प्रेम प्रकट होता दीखता है या नहीं? हमें लगता है कि इसे पाने पर हम उन्नति कर सकते हैं।

प्रेम के भौतिक प्रकाशन की यह मांग मिटनी ही चाहिये। यह साधना के मार्ग में एक भयंकर रोड़ा है। इस मांग की तुष्टि के द्वारा की गयी प्रगति एक असुरक्षित प्रगति है जो इसे लानेवाली शक्ति के द्वारा ही किसी भी क्षण नष्ट की जा सकती है।

८-१०-१९३५

*

मैंने सुना है कि बहुत-सी साधिकाएं माताजी से इतना अधिक प्रेम करती हैं कि वे उनके लिये मर-मिटने को तैयार हैं। परंतु यदि उनसे माताजी का प्रेम भौतिक रूप में कतई प्रकट न हो तो वे उनसे प्रेम नहीं कर पातीं और कुछ-एक तो विद्रोह, रोना-धोना या उपवास तक शुरू कर देती हैं।

यह तो स्वप्रेम ही है जो उनसे ऐसा कराता है। यह बिलकुल उसी प्रकार का प्राणिक प्रेम है जो लोगों में बाहरी दुनिया में होता है (किसी से अपने ही लिये प्रेम करना, अपने प्रेमपात्र के लिये नहीं)। यहां साधना में भला उसका क्या लाभ? वह केवल बाधक ही हो सकता है।

१५-१०-१९३५

*

वास्तव में मन नहीं बल्कि निम्नतर प्राण प्रणाम के बाद विक्षुब्ध हो उठता है —बाकी सब चीजें सुझावों के रूप में अंदर आती हैं, क्योंकि इस विक्षोभ के द्वारा उनके लिये दरवाजा खुल गया होता है। साधना नष्ट करने के लिये विरोधी शक्ति के पास कुछ निश्चित युक्तियां हैं और उनमें से एक है निम्नतर प्राण में इस धारणा का होना कि प्रणाम के समय पूर्ण रूप से आशीर्वाद नहीं मिला है या मुस्कुराहट नहीं मिली है या ठीक तरह की मुस्कराहट नहीं मिली है या माताजी का चेहरा गंभीर और कठोर था। जो कोई इस भाव को अपने अंदर आने देता है उसी के मन में तुरत विद्रोह, अवसाद या असंतोष के सुझाव आ घुसते हैं। उसके लिये बस यही करना आवश्यक है कि इस भाव को स्वीकार करने की समस्त वृत्ति को यह जानते हुए कि यह विरोधी शक्ति के यहां से आयी हुई विष की बूंद है, धैर्यपूर्वक निकाल फेंका जाय।

२८-७-१९३६

*

निश्चय ही तुम्हारी कल्पना ही तुम्हें यह समझाती है कि माताजी प्रणाम के समय तुम्हारे प्रति 'उदासीन' या 'कठोर' थीं। माताजी तो, इसके विरुद्ध, तुम्हें सहायता करने के लिये आशीर्वाद देती हुई विशेष रूप से एकाग्र हुई थीं। यहांपर कुछ साधक ऐसे हैं जो, जब-जब माताजी एकाग्र होती हैं तब-तब यह पूछते हैं कि "आज आप मेरे ऊपर नाराज और कठोर क्यों थीं?" फिर कुछ

दूसरे लोग ऐसे हैं जो, नित्य के साधारण बर्ताव में जरा-सा भी अंतर पड़ा कि, चिल्ला उठते हैं और यह मान बैठते हैं कि निश्चय ही उसमें माताजी का कोई उद्देश्य होगा और वह उद्देश्य निश्चय ही उनके प्रतिकूल होगा, उदासीनता या अप्रसन्नता का कोई उद्देश्य होगा, और बहुत बार जब वे उन्हें उत्साह देने के लिये रोज से अधिक हंसती हैं तब वे उन्हें लिखते हैं कि आज आप बहुत गंभीर थीं और जरा भी नहीं हंसी। इस छूत की बीमारी को अपने पास मत फटकने दो और उनके जैसा मत बनो; क्योंकि जो सहायता दी जाती है उसके लिये यह बात बहुत बड़ी बाधा उत्पन्न करती है और प्राणगत भीषण उपद्रवों के लिये दरवाजा खोल देती है। विश्वास और भरोसा रखते हुए महज श्रीमां की सहायता की ओर अपने को खोलो, यही उनसे अपने को बहुत दूर अनुभव न करने का सबसे अच्छा उपाय है।

श्रीमां को उस समय यह नहीं मालूम था कि 'अ' के साथ तुम्हारी बातचीत हुई थी। अतएव तुम्हारा यह अनुमान कि वही उनकी काल्पनिक नाराजगी का कारण होगा, बिलकुल निराधार है। यह समझना एकदम गलत है कि माताजी साधकों पर अप्रसन्न और क्रुद्ध होती हैं और उस भाव को अपने कार्यों के द्वारा प्रणाम के समय प्रकट करती हैं। भगवान् या श्रीमां के विषय में ऐसे विचार बनाना एक बहुत बड़ी भूल है और तुम्हें ऐसी बात के चंगुल में नहीं फंसना चाहिये।

५-७-१९३५

*

प्रणाम के समय जब माताजी नहीं हंसती-मुस्कुरातीं तो उसका कोई कारण नहीं होता; बल्कि करीब-करीब हर प्रसंग में ऐसा कारण होता है जिसका साधक के किसी कार्य के साथ कोई संबंध नहीं होता,—जो क्रिया हो रही है उसमें तल्लीन या एकाग्र होने के कारण यह होता है। जैसा कि तुम कहते हो, उससे कुछ भी नहीं आता-जाता—मुख्य बात यह है कि जो ग्रहण करने की चीज है उसे ग्रहण किया जाये।

४-११-१९३४

*

यह समझना भूल है कि माताजी के न मुस्कुराने का मतलब है उनकी अप्रसन्नता या साधक के अंदर की किसी अनुचित चीज की नामंजूरी। अधिकतर यह

महज तल्लीनता का या आंतरिक एकाग्रता का चिह्न होता है। इस मौके पर माताजी तुम्हारे अंतरात्मा से एक प्रश्न पूछ रही थीं।

३१-७-१९३८

*

यह बहुत शोचनीय बात है कि तुमने इस विचार को अपने अंदर आने तथा तुम्हें अस्तव्यस्त करने दिया कि माताजी तुम्हारे साथ कड़ाई से व्यवहार कर रही हैं। ये विचार कभी सच्चे नहीं होते और जब कभी कोई साधक इनमें ग्रस्त हो जाता है तो पुरानी चेष्टाएं उसपर सदा ही आक्रमण करती हैं। माताजी का प्रेम और दया तुम्हारे लिये सदा वैसे-के-वैसे रहे हैं और सदा वैसे-के-वैसे रहेंगे, अतः तुम्हें इस विचार को कभी प्रश्रय नहीं देना चाहिये कि वे अप्रसन्न या कठोर हैं। परंतु चाहे जो भी भूलें या कठिनाइयां हों, हमारी सहायता तुम्हारे साथ रहेगी और माताजी की शक्ति तुम्हें उनसे बाहर निकाल लाने और उस चैत्य उन्मीलन एवं शांति को फिर से प्राप्त कराने के लिये कार्य करेगी जो तुम्हें इस बार बहुत दिनों तक प्राप्त रहे और जो कुछ समय बाद अवश्य ही लौट आयेंगे तथा स्थायी हो जायेंगे।

१९-११-१९३५

*

जब लोग देखते हैं कि माताजी मुस्कुराने की जगह गंभीर दिखायी दे रही हैं तो वे व्याकुल हो उठते हैं। उन्हें यह अनुभव न करना कठिन लगता है कि उन्होंने किसी-न-किसी प्रकार माताजी को नाराज किया है।

इस कठिनाई का सारा आधार ही गलत है। यह विचार गलत है कि यदि माताजी गंभीर हैं तो अवश्यमेव उसका कारण "मुझ" से उनकी किसी प्रकार की व्यक्तिगत नाराजगी ही है—"मुझ" का मतलब है ऐसा हर एक साधक जो शिकायत करता है कि नाराजगी का कारण "मैं" ही हूं। मैंने इन शिकायतों पर सौ बार यह बात दुहरायी है कि असल में ऐसा नहीं है, किंतु कोई भी व्यक्ति इस विचार को छोड़ना नहीं चाहता—यह अहं के लिये इतना बहुमूल्य है। माताजी की गंभीरता का कारण होता है—किसी कार्य में जिसे वे कर रही होती हैं एक प्रकार की तल्लीनता अथवा, बहुत बार, वातावरण में विद्यमान

विरोधी शक्तियों का कोई प्रबल आक्रमण।

१९-४-१९३५

*

कभी-कभी माताजी हम पर मुस्कान के साथ दृष्टि डालती हैं मानों वे प्रसन्न हों; किन्हीं और समयों में बिलकुल भिन्न प्रकार से, कुछ गंभीर ढंग से।

ऐसा क्यों न हो? क्या माताजी गंभीर, अपने में ही लीन नहीं हो सकतीं? अथवा क्या तुम सोचते हो कि साधकों से नाराजगी ही उन्हें ऐसा बना सकती है?

१८-६-१९३३

*

जब लोग प्रणाम के लिये माताजी के सामने से गुजर रहे होते हैं तो कभी-कभी व्यक्ति वातावरण से एक प्रकार का विषाद पकड़ लेता है; वह मुख्यतया माताजी के मुस्कुराने या न मुस्कुराने से संबद्ध होता है।

उसका कारण यह है कि बहुत-से साधक इस विचार से ओत-प्रोत हैं। माताजी से कुछ ग्रहण करने के लिये शांत और एकाग्र रहने के स्थान पर वे यह देखने के लिये उनपर दृष्टि डाल रहे होते हैं कि वे मुस्कुराती हैं या नहीं अथवा कैसे मुस्कुराती हैं या क्या करती हैं। अतएव वायुमण्डल इसी चीज से भरा है।

६-१०-१९३३

*

जब भौतिक सत्ता का श्रीमां की दृष्टि से मिलन होता है तो वह उनकी मुस्कान की आवश्यकता अनुभव करती है। क्या यह एक प्रकार की कामना है?

हां। जब मुस्कान प्राप्त न हो तो तुम्हारे अंदर किसी प्रकार की खलबली नहीं होनी चाहिये (यह जानते हुए कि उसका अभाव अप्रसन्नता का या इस प्रकार

की किसी भी वस्तु का चिह्न नहीं)—तब उसे प्राप्त करने का आनंद अधिक शुद्ध होगा।

११-१२-१९३३

*

निश्चय ही तुम्हें अपने प्राण की मांग को और तुम्हारी साधना में वह जो गड़बड़ी उत्पन्न कर रही है उसको दूर फेंक देना चाहिये। माताजी सबकी ओर मुस्कुराती हैं; यह बात नहीं है कि कुछ लोगों के लिये उसे रोक लेती और दूसरों को बांटती हैं। लोग जो अन्यथा समझते हैं उसका कारण यह होता है कि कोई प्राणगत विक्षोभ, अवसाद या मांग अथवा ईर्ष्या, द्वेष या प्रतियोगिता करने की कोई भावना उनकी दृष्टि को विकृत कर देती है।

२७-२-१९३३

*

उस दिन माताजी किसी के लिये नहीं मुस्कुराईं। वह व्यक्तिगत रूप से तुम्हारे लिये ही नहीं था। एक विशेष प्रकार की शक्ति उनके अंदर कार्य कर रही थी जिसने सामान्य तरीके से कार्य नहीं किया।

१०-४-१९३४

*

यदि माताजी प्रणाम के समय साधक के सिर पर अपना हाथ नहीं रखतीं तो इसका मतलब यह नहीं है कि वे नाराज हैं—उसके एकदम दूसरे कारण हो सकते हैं। लोगों का यही विचार है पर वे इस विषय में एकदम गलत हैं। कुछ दिन हुए माताजी ने दो दिनों तक प्रणाम के समय एक साधिका के सिर पर अपना हाथ नहीं रखा। लोगों ने उसकी खिल्ली उड़ायी और उसे नीची नजर से देखा। परंतु सच बात यह थी कि उसे अद्‌भुत अनुभूतियां हो रही थीं और प्रणाम के समय साधारण दिनों की अपेक्षा वह माताजी से अधिक शक्ति पा रही थी। यह समूची भावना ही एक भूल है।

२-८-१९३३

*

यदि अहं माताजी के मुस्कुराने से या हमारे सिर पर हाथ रखने से चूक

जाने के अनुसार अपने विद्रोह का निश्चय करता है तो यह कैसी बात है कि कई बार वह उनके ऐसा करने से चूक जाने पर भी शांत रह पाता है?

अहं इन चीजों के अनुसार कार्य तभी करता है जब वह प्रबल होता है; जब वह प्रबल नहीं होता या वहां होता ही नहीं तो ये प्रेरक भाव कोई प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकते। सारा प्रश्न यह है कि क्या सत्ता का नेतृत्व अहं करता है या और कोई भाग। यदि नेतृत्व उच्चतर चेतना करती हो तो चाहे माताजी जरा भी न मुस्कुरायें या हाथ बिलकुल न रखें तो भी अहंमय प्रतिक्रिया कतई नहीं होगी। एक बार एक साधिका के साथ ऐसा ही हुआ, क्योंकि माताजी समाधि में थीं—परिणाम यह हुआ कि उस साधिका को उससे अधिक बल एवं आनंद प्राप्त हुआ जितना माताजी के पूरा हाथ रखने पर उसे पहले कभी प्राप्त हुआ था।

११-११-१९३५

*

कल ऐसा हुआ कि प्रणाम के समय माताजी ने मुझे मेरे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद नहीं दिया। किंतु मैं प्रतिदिन की अपेक्षा अधिक आनंदित और प्रफुल्लित हुआ। इससे मुझे अधिक आह्लाद क्यों मिला? ऐसा केवल मेरे साथ ही क्यों होता है?

ऐसी बात नहीं। दूसरों के साथ भी ऐसा हो चुका है। उनमें से कम-से-कम एक (साधिका) को ऐसा भान हुआ था। उसे एक ऐसे अवसर पर माताजी की शक्ति प्रतिदिन की और साधारण अवसरों की अपेक्षा अधिक अपने अंदर प्रवाहित होती अनुभूत हुई थी।

*

यह ठीक नहीं है। ऐसे उदाहरण भी हैं जिनमें माताजी बिलकुल नहीं मुस्कुराईं और न (समाधि में रहने के कारण) हाथ ही रखा, फिर भी समुचित और ग्रहणशील मनोभाव बनाये रखने के कारण साधक ने पहले के किसी भी समय से बहुत अधिक ग्रहण किया।

*

माताजी की रहस्यपूर्ण मुस्कान के विषय में तुम्हारा ख्याल तुम्हारी अपनी कल्पना है—माताजी कहती हैं कि वह अत्यंत करुणा के साथ मुस्कुराई थीं और उन्होंने तुम्हारे प्रति यथासंभव अत्यंत साहाय्यपूर्ण मनोभाव ही ग्रहण किया था। मैंने तुम्हें पहले भी लिखा था कि तुम्हें अपने और श्रीमां के बीच इन सब कल्पनाओं को कभी नहीं रखना चाहिये; क्योंकि जो सहायता दी जाती है उसे ये तुमसे दूर धकेल देती हैं। ये कल्पनाएं और तुम्हारे ऊपर उनका प्रभाव—ये सब उन्हीं प्राणमय शक्तियों के सुझाव हैं जो तुम्हें इसलिये उद्विग्न कर रही हैं कि तुम इस उपद्रव से मुक्त न हो जाओ।

मेरी सहायता और श्रीमां की सहायता मौजूद है—तुम्हें बस इन सबसे मुक्त होने के लिये उनकी ओर अपने को खोल रखना होगा।

२७-३-१९३३

*

तुम ऐसा क्यों सोचते हो कि माताजी नाराज होंगी? हमने स्वयं तुमसे कहा है कि प्रत्येक चीज साफ-साफ लिखो और कोई चीज मत छिपाओ—सो, इसकी जरा भी संभावना नहीं है कि जो कुछ तुम लिखोगे उससे वे रुष्ट होंगी। इसके अलावा, वे साधना और मानवीय प्रकृति की कठिनाइयों को खूब अच्छी तरह जानती हैं और अगर साधक में सदिच्छा और सच्ची अभीप्सा हो, जैसी कि तुममें है, तो किसी क्षण कोई ठोकर खाने या भूल कर बैठने के कारण साधक के प्रति उनके मनोभाव में कोई अंतर नहीं पड़ता। माताजी का ख्याल है कि तुम्हें गलत धारणा हो गयी होगी कि उन्होंने बस थोड़ा-सा ही हाथ रखा—क्योंकि उन्होंने ठीक वैसा ही तुम्हारे साथ किया जैसा कि बराबर करती हैं और ऐसा कोई कारण नहीं था जिससे उसमें कोई परिवर्तन हो।

१७-४-१९३३

*

मैं बिलकुल नहीं समझ पाता कि तुम यह क्यों सोचते हो कि, चाहे किसी भी कारण से क्यों न हो, माताजी तुमसे नाराज थीं। वे तुम्हारे साथ जैसी रहा करती हैं, ठीक वैसी ही थीं। अगर तुमने कोई भूल भी की तो भी अब उनकी प्रवृत्ति यही है कि वे भूलों की उपेक्षा करें और सब कुछ ठीक करने के लिये दिव्य ज्योति तथा साधक के चैत्य पुरुष के दबाव के अधीन छोड़ दें। परंतु तुमने जो 'अ' के साथ फ्रेंच क्लास बंद कर देना चाहा था उसके कारण या

ऐसे ही किसी तुच्छ कारण से भला वे क्या कभी नाराज होंगी? तुम अपना क्लास जारी रखोगे या बंद कर दोगे—यह एक ऐसे ब्योरे की बात है जिसे तुम्हारे मन की अवस्था तथा तुम्हारी साधना की अवस्था को देखते हुए तय करना होगा और यह दोनों ही दृष्टियों से तय की जा सकती है। यह आश्चर्य की बात है कि तुम यह समझो कि ऐसी मामूली बात पर भी माताजी नाराजगी दिखा सकती हैं। तुम्हें इस तरह की स्नायविक दुर्बलता से मुक्त होना चाहिये और कल्पनाओं के द्वारा अपनी अच्छी स्थिति को नहीं बिगाड़ना चाहिये—कारण, यह बस एक कल्पना है क्योंकि इसके पीछे कोई भी सत्य नहीं। अधिक पूर्ण विश्वास बनाये रखो और जहां कोई कठिनाई नहीं है वहां अपने मन को कठिनाइयां पैदा मत करने दो।

*

चाय के संबंध में माताजी तनिक भी नाराज नहीं थीं; उसके लिये भला वे क्यों नाराज होतीं? और वे तुम्हारे ऊपर भी एकदम नाराज नहीं थीं। रोज की तरह ही वे तुम्हारी ओर मुस्कुराईं—तुम शायद और कोई बात सोच रहे होगे और उसे देखा नहीं होगा। अतएव तुम्हारे उदास होने का कोई कारण नहीं है—तुम्हें इन सब विचारों को एक ओर फेंक देना चाहिये, माताजी ऐसी तुच्छ बातों पर नाराज नहीं हुआ करतीं।

३०-११-१९३३

*

एकदम ठीक, मैं कहता हूं, "माताजी का मुस्कुराना या न मुस्कुराना तुम्हारे अंदर की किसी चीज से कोई संबंध नहीं रखता।" मैं यह भी कहता हूं कि "तुम्हारा स्वयं सचेतन होना ही, माताजी का कोई असंतोष नहीं, तुम्हें सचेतन बनाता है—उनकी महज उपस्थिति ही वह चीज है जो तुम्हारे लिये अपने विषय में सचेतन होना संभव बनाती है, कोई नाराजगी, कोई उदासी-भरी दृष्टि ऐसा नहीं करती।"

*

ऐसी कोई संभावना नहीं कि माताजी तुमपर वैसी "दृष्टि" डालें जिससे तुम डर रहे हो। अपनी ओर से किसी ऐसी चीज की कल्पना मत करो जो है ही नहीं—कितने ही लोग फिर भी ऐसा कर रहे हैं।

*

निस्सन्देह, यह पुरानी प्राण-सत्ता की खड़ी की हुई पुरानी बाधा है जो दूर की जा रही है और उसीके कारण यह झुंझलाहट तथा माताजी की अप्रसन्नता के विषय में ये सुझाव उत्पन्न हो रहे हैं। क्योंकि, सच पूछा जाये तो, श्रीमां के मन में तुम्हारे विरुद्ध किसी प्रकार का असंतोष नहीं था और यह विचार साधारणतया साधक के मन में दिया हुआ उस शक्ति का सुझाव होता है जो चले जाने की इच्छा या कोई अन्य प्रकार का असंतोष या अवसाद उत्पन्न करना चाहती है। यह एक अद्‌भुत ढंग का भ्रम है जिसने, मानों, आश्रम के वातावरण में अपनी जड़ जमा ली है और यह व्यक्तिगत प्राण-सत्ता के द्वारा उतना पोषण नहीं पाता जितना कि उन शक्तियों के द्वारा पाता है, जो अगर संभव हो तो, साधना को ही भंग कर देने के लिये उसपर कार्य करती हैं। इस चीज को तुम्हें जरा भी प्रश्रय नहीं देना चाहिये अन्यथा यह चाहे जितना भी उपद्रव खड़ा कर सकती है। समुचित नींद का अभाव स्वभावतः ही स्नायुओं में थकावट की एक अवस्था ले आता है और वह थकावट इन चीजों के आने में सहायता करती है—क्योंकि ये चीजें भौतिक चेतना के भीतर से आक्रमण करती हैं और अगर किसी तरह वह थकावट उस चेतना को तामसिक बना दे तो उनका प्रवेश करना अधिक आसान हो जाता है।

१५-९-१९३६

*

माताजी का रुख तुम्हारे प्रति किसी तरह बदला नहीं है और न वह तुमसे निराश ही हुई हैं—वह तो स्वयं तुम्हारी ही मानसिक अवस्था से आया हुआ एक सुझाव है और माताजी के ऊपर असंतोष और अयोग्यता का अपना झूठा बोध आरोपित कर रहा है। अपना भाव बदलने या निराश होने का उनके पास कोई कारण नहीं है, क्योंकि वे तुम्हारे अंदर की प्राणगत बाधाओं को हमेशा से जानती हैं और फिर भी उन्होंने आशा की थी, और अब भी करती हैं कि तुम इन्हें जीत सकोगे। कुछ चीजों को, जो मानव-स्वभाव के मूल में ही निहित प्रतीत होती हैं, परिवर्तित करने की पुकार करना सबसे अच्छे साधकों के लिये भी कठिन सिद्ध हो रहा है, परंतु कठिनाई का होना असमर्थता का प्रमाण नहीं है। चले जाने की ठीक इस प्रेरणा को ही तुम्हें अपने अंदर घुसने न देना चाहिये—क्योंकि जबतक ये शक्तियां यह समझती हैं कि वे ऐसा करा सकती हैं तबतक वे इस बात पर यथाशक्ति जोर देती रहेंगी। तुम्हें अपने उस अंग में माताजी की शक्ति की ओर अधिक खुलना भी चाहिये और इसके लिये माताजी

के असंतोष या उनके प्रेम के अभाव से संबंधित इस सुझाव से छुटकारा पाना आवश्यक है, क्योंकि यही प्रणाम के समय प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। हमारी सहायता, सहारा, प्रेम सब पहले की तरह ही बराबर मौजूद हैं—उनकी ओर अपने को खुला रखो और उनकी सहायता से इन सुझावों को दूर भगाओ।

२६-१-१९३७

*

माताजी ने ठीक रोज की तरह ही अपना हाथ रखा था। और केवल इतना ही नहीं, बल्कि ज्यों ही उन्होंने देखा कि तुम्हारी आंतर स्थिति को विशेष सहायता की आवश्यकता है त्यों ही उन्होंने सहायता देने की कोशिश की। परंतु, जब कि तुम इस अवस्था में हो, यह दुर्भाग्य की बात है कि तुम दुःख शोक की भावना में इतने अधिक डूब गये हो कि ऐसा और कोई भी अनुभव नहीं कर पाते जो कि दुःख-कष्ट में सहायता या वृद्धि नहीं करता। हमारी सहायता सर्वदा तुम्हें प्राप्त है; ऐसा कोई कारण हर्गिज नहीं है कि हम उसे वापस ले लें। अगर कोई आश्रम में घोर विपत्ति में होता है तो वह विपत्ति हमारे ऊपर पड़ती है और उसमें भी अधिक माताजी के ऊपर—अतएव यह मानना मूर्खतापूर्ण है कि किसी आदमी का दुःख देखकर हमें आनंद हो सकता है। दुःख-कष्ट, बीमारी, प्राणिक तूफान (कामना-वासना, विद्रोह, क्रोध) इत्यादि इतनी अधिक विपरीत चीजें हैं जिन्हें दूर करने का हम प्रयास कर रहे हैं और इसलिये हमारे कार्य में बाधाएं हैं। जितना शीघ्र संभव हो, उनका अंत कर देना ही एकमात्र संकल्प है जिसे हम रख सकते हैं, न कि उन्हें बनाये रखने की इच्छा।

काश, जब ये तूफान आते हैं तब तुम यदि कहीं अपने अंदर इनसे अलग हट आने की शक्ति प्राप्त कर पाते, जो प्रेरणा या विचार उठते हैं उनके प्रवाह में न बह जाते! तब ऐसी कोई चीज होती जो सहारे को अनुभव कर पाती और इन शक्तियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया करने में भी समर्थ होती।

२८-६-१९३५

*

यह पूर्ण रूप से गलत बात है कि आज माताजी तुम्हें दूर ठेल रही थीं। ऐसे दिन हो सकते हैं जब वे गंभीरता में डूब जायें और इसलिये बाह्य रूप में उन्हें ध्यान न रहे कि उनका हाथ क्या कर रहा है। परंतु आज तो उन्होंने विशेष रूप से तुम्हारी ओर ध्यान दिया था और प्रणाम के समय शांति और समता

लाने और कठिनाई को दूर करने के लिये तुम्हारे ऊपर वे शक्ति का प्रयोग कर रही थीं। यदि उन्होंने अपनी हथेली या अन्य किसी चीज से कार्य किया भी हो तो वह इसी कार्य के लिये। इस विषय में कोई भूल नहीं हो सकती, क्योंकि वे आज अपने कार्य और उद्देश्य के विषय में विशेष रूप से सचेतन थीं। हुआ यह होगा कि तुम्हारे अंदर की किसी चीज ने दबाव का अनुभव किया और हस्तक्षेप करके इस सुझाव के द्वारा तुम्हारे भौतिक मन को प्रभावित किया होगा कि माताजी कठिनाई को नहीं, तुम्हें ही धकेल रही हैं। यह बहुत स्पष्ट उदाहरण है कि साधकों के लिये गलत अनुमान करना और माताजी जो कुछ कर रही हों उसको उल्टे रूप में समझना कितना आसान है। अनेक बार जब उन्होंने उनकी कठिनाइयों को बाहर ढकेलते हुए उन्हें सहायता देने के लिये अत्यधिक एकाग्रता की तब उन्होंने (साधकों ने) उन्हें लिखा—"आज सवेरे आप मेरे प्रति बहुत कठोर और नाराज थीं।" इन गलत प्रतिक्रियाओं से बचने का एकमात्र उपाय यह है कि माताजी पर पूर्ण चैत्यपुरुषोचित आस्था रखी जाये और यह विश्वास किया जाये कि माताजी जो कुछ कर रही हैं वह सब उनके भले के लिये है और भगवती माता के तत्त्वाधान में उनके होने के कारण कर रही हैं, उनके विरुद्ध कुछ नहीं कर रही हैं। तब इस तरह की कोई भी बात घटित नहीं होगी। जो लोग ऐसा करेंगे वे उनकी एकाग्रता की, अगर वे अपनी तल्लीनता के कारण हाथ से न छुएं या न मुस्कुराएं तो भी, पूरी सहायता प्राप्त कर सकते हैं। इसी कारण मैं लगातार साधकों से कहता आ रहा हूं कि प्रणाम के समय माताजी के बाह्य स्वरूप या क्रियाओं का वे अपना निजी अर्थ न लगायें—क्योंकि ये अर्थ सर्वदा ही गलत होंगे और निराधार अवसाद और आक्रमण के लिये दरवाजा खोल देंगे।

२३-१-१९३५

*

मुस्कान और स्पर्श-संबंधी इस आवेश को जीतना होगा और इसका त्याग करना होगा, क्योंकि यह साधकों को विचलित करने और उनकी उन्नति को रोकने के लिये विरोधी शक्तियों का एक साधन बन गया है। मैंने बहुत से ऐसे प्रसंग देखे हैं जिनमें साधक अच्छी तरह चल रहा है या यहांतक कि ऊंची अनुभूतियां पा रहा है और उनकी चेतना में परिवर्तन आ रहा है और अकस्मात् उसकी कल्पना आ उपस्थित होती है और सब कुछ अस्त-व्यस्तता, विद्रोह, शोक-संताप और निराशा में परिणत हो जाता है और आंतरिक कार्य रुक

जाता है और खतरे में पड़ जाता है। अधिकतर क्षेत्रों में इस आक्रमण के साथ-साथ इन्द्रियों में भ्रम उत्पन्न होता है जिससे यदि माताजी रोज की अपेक्षा अधिक मुस्कुराती हैं अथवा अपनी सारी शक्ति लगाकर आशीर्वाद देती हैं तो भी उनसे कहा जाता है कि "आप नहीं मुस्कुराईं, आपने स्पर्श नहीं किया" या "आपने मुश्किल से स्पर्श किया।" फिर ऐसे उदाहरण भी बहुतेरे देखे गये हैं —माताजी मुझसे कहती हैं, "मैंने 'अ' को घबराया हुआ देखा या उसकी ओर एक सुझाव आते हुए देखा और मैं उसकी ओर बहुत करुणा के साथ हंसी और उसे आशीर्वाद दिया", और फिर भी बाद में हम उससे एकदम उलटी बात, "आप नहीं मुस्कुराईं आदि" की स्थापना करनेवाला पत्र पाते हैं। और तुम सब माताजी पर झूठ का आरोप लगाने के लिये तैयार बैठे हो, क्योंकि तुमने समझा कि तुमने देखा और तुम्हारी इन्द्रियों को कोई धोखा नहीं हो सकता! मानों विक्षुब्ध मन इन्द्रिय-दर्शन को भी विकृत न करता हो! मानों मनोविज्ञान का यह एक सामान्य तथ्य न हो कि मनुष्य अपनी मानसिक स्थिति या विचार के अनुसार धारणा बनाता है! यदि मुस्कान या स्पर्श कम भी हों तो ये ऐसे उलाहनों के कारण नहीं होने चाहियें यदि उनके पीछे कोई इरादा न हो और हमने तुम सबको बार-बार चेतावनी दी है कि उनमें एकदम कोई भी इरादा नहीं है। निःसंदेह, कारण यह है कि साधक माताजी के प्रति प्राणगत मानवीय प्रेम की क्रियाओं का प्रयोग करते हैं और साधारण प्राणगत मानवीय प्रेम अविश्वास, गलतफहमी, ईर्ष्या, क्रोध और निराशा आदि विरोधी गतियों से भरा होता है। परंतु योग में यह अत्यंत अवांछनीय है—क्योंकि यहां माताजी पर विश्वास, उनके दिव्य प्रेम पर श्रद्धा रखना बहुत आवश्यक है; जो कोई चीज इसे अस्वीकार करती या विकृत करती है वह बाधाओं और अनुचित प्रतिक्रियाओं के लिये दरवाजा खोलती है। ऐसी बात नहीं कि प्राण में प्रेम होना ही नहीं चाहिये। बल्कि उसे इन सब प्रतिक्रियाओं को दूर कर अपने को शुद्ध करना चाहिये और चैत्य पुरुष के विश्वास और आस्थायुक्त आत्मदान को अपने अंदर स्थापित करना चाहिये। तब फिर पूरी-पूरी उन्नति हो सकती है।

३०-६-१९३५

*

इन सब चीजों का पूर्णरूपेण त्याग होना चाहिये। जब ये उठती हैं तब प्रायः ही चेतना को इतना अधिक ऐंठ देती हैं कि कभी-कभी तो स्वयं दृष्टि को और बराबर ही बोध को भ्रमपूर्ण बना देती हैं। माताजी ने निरन्तर देखा है कि जिन

लोगों की ओर वे मुस्कुराई थीं वे उनसे कहते हैं कि वे घूर रही थीं और कठोर थीं या वे असंतुष्ट थीं जब कि उनमें कोई असंतोष नहीं था। और फिर उसी आधार पर वे एकदम गलत रास्ते पर चले जाते हैं।

१०-४-१९३३

*

मैं देखता हूं कि हर सायंकाल कोई सत्ता यह कहती हुई मुझपर झूठे सुझाव फेंकती है, "भगवान् तुम्हें पसंद नहीं करते।" हाल में उन सुझावों की आग्रह-शक्ति बढ़ गयी है। मैं उन्हें बाहर फेंकने के लिये भरसक यत्न करता हूं पर कुछ भी सफलता नहीं मिलती। मेरी प्रार्थना है कि माताजी इस सत्ता को मेरे पास आने से सदा के लिये रोक दें!

वह सत्ता क्या है? किसी प्राणिक लोक की है क्या?

हां, वह प्राणिक लोक से आनेवाली एक मिथ्यात्व की सत्ता है जो यह यत्न करती है कि व्यक्ति उसके झूठे सुझावों को सत्य मान ले और इस प्रकार उसकी चेतना गड़बड़ा जाये, वह सरल मार्ग छोड़ दे और या तो विषाद में पड़ जाये या फिर माताजी के विरुद्ध हो जाये। यदि तुम उसे सदा ही बाहर फेंकते रहो, उसपर कान देने या विश्वास करने से इनकार करते रहो तो वह लुप्त हो जायेगी।

३०-३-१९३३

माताजी की झूठी आलोचना को सुनना उचित नहीं

'अ' को इस विषय में सावधान कर देना लाभदायी हो सकता है कि वह (माताजी के विषय में) इस तरह की मूर्खतापूर्ण टिप्पणियां न सुने, भले ही वे किसी भी व्यक्ति की क्यों न हों, और, अगर वह उन्हें सुने तो उनका प्रचार करने का प्रयास न करे। वह बहुत अच्छी तरह उन्नति कर रहा था, क्योंकि उसने अपने को माताजी की ओर खोल रखा था; अगर वह इस तरह की मूर्खता अपने मन में घुसने दे तो वह उसे प्रभावित कर सकती है, माताजी की ओर से उसे बंद कर सकती है और उसकी उन्नति रोक सकती है।

'ब' का जहांतक संबंध है, यदि (माताजी के विषय में) उसने ऐसी बात कही या सोची तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इसी कारण वह हाल में इतनी अधिक बीमारी भोगता रहा है। यदि कोई विरोधी शक्तियों का प्रचारकर्ता बन

जाये और उनके मिथ्यापन को स्वीकार करे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उसके भीतर कोई चीज बिगड़ जाये।

७-१-१९३२

माताजी की बीमारी के कारण

माताजी पर बहुत उग्र आक्रमण हुआ है और इस बात को दृष्टि में रखते हुए कि २४ नवम्बर का दिन उनके लिये कितना आयासपूर्ण होगा उन्हें अपनी शक्तियों का प्रयोग पूर्ण मितव्ययता से करना होगा। इस बीच उनके लिये हर एक से मिलने और सबके लिये द्वार खुला रखने का प्रश्न बिलकुल नहीं उठता —एक प्रातःकाल ही इस प्रकार का कार्य करने से वे बिलकुल थककर चूर हो जायेंगी। तुम्हें याद रखना होगा कि उनके लिये दूसरों के साथ इस प्रकार का भौतिक सम्पर्क कोई निरी सामाजिक या घरेलू भेंट नहीं जिसमें कुछ-एक ऐसी ऊपरी क्रियाएं करनी होती हैं जिनमें कुछ इधर-उधर होने पर भी कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता। उनके लिये इसका अर्थ है एक प्रकार का आदान-प्रदान, अपनी शक्तियों को दूसरों पर उंडेलना और उनसे अच्छी, बुरी और मिश्रित वस्तुओं को ग्रहण करना। इस क्रिया में बहुधा समायोजन और बहिष्करण का बड़ा भारी श्रम करना पड़ता है और इससे सभी व्यक्तियों के तो नहीं पर बहुतों के मामले में उनके शरीर पर कठोर तनाव पड़ता है। यदि केवल दो या तीन व्यक्तियों का ही प्रश्न होता तो वह एक भिन्न बात होती; पर यहां तो सारे आश्रम का प्रश्न है, माताजी ने अपने दरवाजे खोले नहीं कि यहां का प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी मांग लादने के लिये तैयार बैठा है। निश्चय ही तुम, उनके स्वास्थ्य और सामर्थ्य लाभ करने से पहले, उन पर यह सब भार नहीं डालना चाहते! माताजी ने अपने शरीर या स्वास्थ्य की उसी की खातिर कभी जरा भी परवाह नहीं की और उनके शरीर या स्वास्थ्य की जो क्षति हुई है उसका एक कारण यह उदासीनता ही रही है, चाहे है यह केवल एक बाहरी कारण ही, अतएव स्वयं काम के हित की दृष्टि से भी मुझे इस बात पर आग्रह करना होगा कि वे कार्य का पुनः आरम्भ धीमे-धीमे ही करें और शुरू में केवल उतना ही काम करें जितना उनका स्वास्थ्य सहन कर सके। मुझे लगता है कि जो भी लोग उनका कुछ ख्याल करते हैं उन सबको उसी प्रकार का अनुभव करना चाहिये जिस प्रकार मैं करता हूं।

१२-११-१९३१

*

मैंने जल्दी ही लिखने की आशा की थी, परंतु मैं लिख न सका। अतएव, चूंकि आज सवेरे यह पत्र तुम्हें भेजने का मैंने वायदा किया है इसलिये मैं अभी दूसरी बात के विषय में, बस इतना ही दुहराऊंगा कि मैंने यह नहीं कहा है कि किसी भी अंश में तुम या साधारण रूप में साधकगण माताजी की बीमारी के कारण थे। एक दूसरे आदमी को, जिसने उसी व्यक्तिगत स्थिति से उसी तरह की कुछ बात लिखी थी, मैंने उत्तर दिया था कि माताजी की बीमारी विश्वगत शक्तियों के साथ संघर्ष होने के कारण हुई थी जो किसी व्यक्ति या व्यक्तिसमूह के दायरे से बहुत परे था। मैंने भौतिक संपर्क के कारण माताजी पर जोर पड़ने की बात के विषय में जो लिखा था वह उनके फिर से काम आरंभ करने से संबंध रखता था—और उसका संबंध उन अवस्थाओं से है जिनमें काम सबसे उत्तम रूप में हो सकता है ताकि ये शक्तियां भविष्य में लाभ न उठा सकें। विगत वर्षों में संभवतः वस्तुओं के अनिवार्य विकास के कारण अवस्थाएं विशेष रूप में कठिन रही हैं, जिसके लिये मैं किसी को उत्तरदायी नहीं समझता; परंतु अब जब कि साधना अत्यंत भौतिक स्तर पर उतर आयी है जहां अभी भी विरोधी शक्तियां आघात कर सकती हैं, यह आवश्यक है कि कुछ परिवर्तन किया जाये और वह परिवर्तन साधकों के आंतरिक मनोभाव में परिवर्तन आने पर बहुत उत्तम रूप में साधित हो सकता है; क्योंकि केवल वही इस समय--जबतक कि निश्चित रूप में अतिमानसिक ज्योति और शक्ति का अवतरण नहीं हो जाता—बाहरी अवस्थाओं को अधिक आसान बना सकता है। परंतु इस विषय में मैं एक पत्र के पुनश्च में कुछ नहीं लिख सकता।

१६-११-१९३१

*

अभीतक मैंने माताजी की बीमारी के विषय में कुछ नहीं कहा है, क्योंकि इसके लिये इस बात पर विस्तार के साथ विचार करने की आवश्यकता होगी कि ऐसे कार्य के केंद्र में जो लोग होते हैं उन्हें क्या-क्या होना होता है, मानवीय या पार्थिव प्रकृति और उसकी सीमाओं में से उन्हें स्वयं अपने ऊपर क्या लेना होता है और रूपांतर की कितनी अधिक कठिनाइयों को उन्हें सहना पड़ता है। यह सब अपने-आपमें मन की समझ में आने में ही केवल कठिन नहीं है बल्कि इसे इस तरह लिखना भी मेरे लिये कठिन है जिसमें उन लोगों की भी समझ में यह आ जाये जिन्हें हमारी चेतना या हमारी अनुभूति प्राप्त नहीं है। मैं समझता हूं कि इसे लिखना ही होगा, पर अभी मुझे न तो इसकी

आवश्यक रूप-रेखा ही मिली है और न आवश्यक अवकाश।

१९-११-१९३१

*

माताजी पर श्रद्धा रखकर बीमारी से मुक्त हो जाना साधक के लिये बहुत अधिक आसान है, स्वयं माताजी के लिये बीमारी से मुक्त रहना उतना आसान नहीं—कारण, माताजी के कार्य का स्वरूप ही ऐसा है कि उन्हें साधकों के साथ अपना तादात्म्य बनाये रखना पड़ता है, उनकी सभी कठिनाइयों को वहन करना पड़ता है, उनकी प्रकृति के सारे विष को अपने अंदर ग्रहण करना पड़ता है और उसके साथ-साथ विराट् पार्थिव प्रकृति की समस्त कठिनाइयों को, मृत्यु और रोग की संभावनाओं तक को अपने ऊपर लेना होता है जिससे कि मुकाबला करके उन्हें खतम किया जाये। अगर वे ऐसा न करतीं तो एक भी साधक इस योग की साधना करने में समर्थ न होता। भगवान् को इसलिये मानवत्व ग्रहण करना पड़ता है कि मनुष्य भी भगवान् तक ऊपर उठ सके। यह एक सीधा-सा सत्य है; पर मालूम होता है कि कोई भी यह समझ नहीं पाता कि भगवान् यह सब कर सकते हैं और फिर भी मनुष्य से भिन्न बने रह सकते हैं—फिर भी वे भगवान् बने रह सकते हैं।

८-५-१९३३

*

आश्रम के लोग यह विश्वास करते हैं कि उनकी कठिनाइयों और बीमारियों को माताजी अपने ऊपर ले लेती हैं और इसलिये कभी-कभी उन्हें दुःख भोगना पड़ता है। परंतु बात यदि ऐसी है तब तो, बहुत-से साधकों से उनके ऊपर ऐसी चीजों की भयंकर बाढ़-सी आ सकती है। मेरे मन में यह विचार आता है कि इन कठिनाइयों और बीमारियों में से कुछ को मैं अपने ऊपर ले लूं जिसमें मैं भी उनके साथ सुखपूर्वक दुःख भोग सकूं।

सुखपूर्वक? और चाहे कुछ हो, पर वह तुम्हारे या हमारे लिये कम-से-कम सुख तो हर्गिज न होगा। उसमें सुख नाम की कोई चीज न होगी।

यह एक सच्चे तथ्य का मानो भद्दा और स्थूल वर्णन है। अपना काम करने के लिये माताजी को अपनी व्यक्तिगत सत्ता और चेतना के अंदर सभी साधकों को लेना पड़ा; इस तरह व्यक्तिगत रूप से (केवल निर्वैयक्तिक रूप से

ही नहीं) उनके अंदर ले लिये जाने के कारण साधकों के सभी संघर्ष और कठिनाइयां, उनकी बीमारियों आदि के साथ, इस रूप में माताजी के ऊपर आ पड़ीं जिस रूप में, यदि उन्होंने पृथक्त्व के आत्मसंरक्षण का त्याग न किया होता तो, न आयी होतीं। केवल दूसरों की बीमारियां ही उनके शरीर पर होने वाले आक्रमणों में नहीं बदलीं—इनके विषय में ज्यों ही वे देखतीं कि वे कहां से और क्यों आयी हैं त्यों ही साधारणतया वे उन्हें दूर फेंक देतीं—बल्कि लोगों की आंतरिक कठिनाइयों, विद्रोहों, उनके विरुद्ध क्रोध और घृणा के उद्‌गारों का भी वही या उससे भी बुरा प्रभाव पड़ा। उनके लिये केवल वही खतरा था (क्योंकि आंतरिक कठिनाइयां आसानी से जीती जा सकती हैं), पर जड़तत्त्व और शरीर हमारे योग के दुर्बल या संकटपूर्ण स्थल हैं, क्योंकि यह क्षेत्र आध्यात्मिक शक्ति द्वारा कभी जीता नहीं गया है, पुराने योगों ने या तो इसे यों ही छोड़ दिया या इसपर केवल छोटी-मोटी मानसिक और प्राणिक शक्ति का ही प्रयोग किया, साधारण आध्यात्मिक शक्ति का नहीं, यही कारण था कि आश्रम-वातावरण की अत्यंत बुरी अवस्था के कारण उनके बहुत अधिक बीमार हो जाने के बाद मैंने उनपर दबाव डाला कि वे कुछ समय आंशिक एकान्तवास करें जिसमें उनपर पड़नेवाले दबाव का अत्यंत ठोस अंश कुछ कम हो जाये। स्वभावतः ही भौतिक स्तर पर पूरी विजय हो जाने पर सभी बातों में क्रांति आ जायेगी, पर अभी तक तो यह संघर्ष का ही क्षेत्र है।

३१-३-१९३४

*

क्या यह अनिवार्य नहीं है कि परिवर्तन और रूपांतर की इस प्रक्रिया में ये बाधाएं, उपद्रव और विद्रोह प्रत्येक साधक के अंदर उठ खड़े हों? क्या कोई आदमी अपनी साधना के प्रारंभ में ही इन सब चीजों को दूर कर सकता है जिससे माताजी को स्वयं अपने ऊपर लेने के लिये ये चीजें कम हो जायें?

पार्थिव चेतना का स्वरूप और मनुष्य-जाति की प्रकृति अभी जैसी है उसे देखते हुए ये चीजें कुछ अंश में अनिवार्य हैं। केवल थोड़े-से लोग ही इनसे बचते हैं, उनमें महज कुछ मामूली विरोधी क्रियाएं होती हैं। परंतु कुछ समय बाद ये चीजें दूर हो जानी चाहियें। व्यक्तियों में से तो ये इस प्रकार दूर हो जाती हैं—परंतु इन्हें आश्रम के वातावरण में से दूर करना बहुत कठिन प्रतीत

होता है—एक-न-एक इन्हें बराबर लेता रहता है और उससे ये दूसरों में भी फैलने की चेष्टा करती हैं। निश्चय ही, इसका कारण यह है कि अज्ञान के अनुसार जीवन के तत्त्वों में से एक तत्त्व इनके पीछे विद्यमान है—वह है गहराई तक जड़ जमाये हुई प्राण-प्रकृति की एक प्रवृत्ति। परंतु साधना का उद्देश्य ही है उसे जीतना और उसके स्थान पर एक सत्यतर और दिव्यतर प्राण-शक्ति को ला बिठाना।

१-४-१९३४

*

जो कुछ तुमने देखा वह ठीक है; पर साधक का भाव यदि सच्चा चैत्य भाव हो तो माताजी को कोई कष्ट उठाना नहीं पड़ता; अपने ऊपर कोई चीज आये बिना वे साधकों पर कार्य कर सकती हैं।

२२-१-१९३७

*

माताजी पर फेंकी हुई साधकों की अशुद्धियों के कारण ऐसा हुआ है।

भौतिक प्रकृति का रूपांतर होने से पहले इसका कोई उपाय निकालना संभव नहीं प्रतीत होता। यदि माताजी अपने और साधकों के बीच एक आंतरिक दीवार खड़ी कर दें तो यह नहीं होगा, पर साधक माताजी से कुछ भी पाने में असमर्थ होंगे। अगर सब लोग अधिक सावधान होकर अपनी गंभीरतर और उच्चतम चेतना के साथ उनके पास आयें तो इन चीजों के होने की संभावना कम होगी।

दूसरों की सहायता करने का खतरा उनकी कठिनाइयों को अपने ऊपर लेने का खतरा है। अगर कोई अपने को पृथक् रखते हुए सहायता कर सके तो फिर ऐसा नहीं होता। परंतु सहायता करने के समय उस व्यक्ति को अंशतः या मूलतः अपनी बृहत्तर आत्मा में ले लेने की प्रवृत्ति रहती है। यही चीज माताजी को साधकों के साथ करनी पड़ती है और यही कारण है कि उन्हें कभी-कभी दुःख झेलना पड़ता है, क्योंकि कोई मनुष्य हमेशा किसी... से सावधान नहीं रह सकता।

जब मनुष्य तल्लीन होता है या काम में लगा होता है तब सर्वदा ही यह कठिनाई होती है कि जिस व्यक्ति को सहायता दी जाती है वह तुम्हारी शक्तियों का आहरण करने और खींचने का अभ्यासी हो जाता है, वह तुम्हारे ऊपर नहीं

छोड़ देता कि तुम जो दे सको या जो देना उचित हो बस उतना ही उसे दो। अन्य छोटी-छोटी बहुत-सी बातों का सामना सहायता करनेवाले को करना पड़ता है।

२९-१-१९३५

*

ऐसे बहुत-से लोग हैं जिन्होंने अतीत काल में ऐसा किया। मुझे मालूम नहीं कि वह अब भी ऐसा करता है। परंतु माताजी पर फेंके गये सब बुरे विचार या उनपर मलिनताओं का फेंकना उनके शरीर पर प्रभाव डाल सकता है क्योंकि उन्होंने साधकों को अपनी चेतना में ले रखा है, वे इन चीजों को उनके पास वापिस भी नहीं भेज सकतीं क्योंकि इससे उन्हें ठेस पहुंच सकती है।

१७-३-१९३६

*

मलिनताओं को अपने अंदर खींचने की माताजी को लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं—ठीक वैसे ही जैसे साधक को मलिनता को अपने अंदर आने के लिये निमंत्रित करने की जरूरत नहीं। मलिनता को तो परे फेंकना है न कि भीतर खींचना।

१८-३-१९३६

*

कामनाओं, अपूर्णताओं, अपवित्रताओं, बीमारियों आदि को माताजी के ऊपर उतार फेंकने की भावना, जिसमें कि साधकों के बदले स्वयं माताजी ही उनके फल भोगें, बड़ी ही विचित्र है। मेरी समझ में यह बात इस ईसाई आदर्श की नकल है कि मनुष्य-जाति के लिये ईसा सूली पर दुःख भोगते हैं। परंतु इस रूपांतर योग के साथ इस बात का कोई संबंध नहीं।

१-११-१९३६

माताजी की अस्थायी कार्यनिवृत्ति के कारण

जबतक प्राण माताजी के संबंध में गलत दृष्टिकोण से विचार करता रहेगा,— उदाहरणार्थ, यदि और जबतक वह उनके बारे में इस बात के द्वारा निर्णय करने पर आग्रह करेगा कि वे उसकी मांगों का और उन्हें उसको क्या देना चाहिये

इस विषय में उसके विचारों का क्या उत्तर देती हैं, तो और तबतक स्थूल मन और प्राण की शंकाएं, तरह-तरह की उथल-पुथल और अस्तव्यस्तता सदा ही बनी रहेंगी। भगवान् पर अपने मन को या अपने प्राण की इच्छा को न थोपना बल्कि उनकी इच्छा को ग्रहण करना तथा उसका अनुसरण करना ही साधना की सच्ची वृत्ति है। यह न कहना कि "यह मेरा हक और दावा है, मेरी मांग, कामना और आवश्यकता है, मुझे यह चीज क्यों नहीं मिलती?", वरन् अपने को दे देना, आत्म-समर्पण कर देना और भगवान् जो कुछ दें उसे, शोक या विद्रोह न करते हुए, हर्षपूर्वक ग्रहण करना ही ठीक ढंग है। तब व्यक्ति जो कुछ पायेगा वह उसके लिये ठीक चीज होगी। यह सब तुम्हें अच्छी तरह मालूम है; तो फिर क्यों तुम निरंतर अपने बाहरी प्राण को यह सब भुलाकर तुम्हें पुरानी अशुद्ध मनोवृत्ति की ओर पीछे घसीट ले जाने की अनुमति देते हो?

जहांतक यह प्रश्न है कि माताजी साधकों से संबद्ध अपने पुराने नित्य कार्यक्रम एवं दिनचर्या आदि से विरत हो गयी हैं उसके विषय में यही कहना है कि वह कर्म और साधना के लिये एक आवश्यक अवस्थामात्र है। प्रत्येक चीज गलत लीक पर पड़ गयी थी, मिश्रित गतियों और भ्रांत मनोवृत्ति से भरी थी—और परिणामतः सभी चीजें, पिंजरे में बंद गिलहरी की तरह, उसी राजस-तामसिक घेरे में चक्कर काट रही थीं और उससे बाहर निकलने की कोई संभावना ही नहीं थी। माताजी की बीमारी एक प्रबल चेतावनी थी कि यह अवस्था और अधिक देर तक चलने नहीं दी जा सकती। माताजी के कार्य और संबंधों का एक नया आधार निर्मित करने की आवश्यकता है जिसमें ऐसा प्रतीत होगा कि साधकों की उन विगत भ्रांत गतियों को, जो परम सत्य के भौतिक (अन्नमय) प्रकृति में उतरने के मार्ग में बाधा डाल रही थीं, अब और कभी अनुमति नहीं दी जायेगी। आधार का निर्माण एक ही दिन में नहीं हो सकता, पर (उक्त कार्य व संबंधों से) पीछे हटकर स्थित होना माताजी के लिये आवश्यक था, अन्यथा उसका निर्माण करना ही असंभव होता।

७-१२-१९३१

*

यह सच नहीं कि माताजी उत्तरोत्तर कार्य से अवकाश ले रही हैं या कि वे मेरी तरह ही पूर्ण रूप से भीतर चले जाने का कोई इरादा रखती हैं। विशेष सौभाग्यशाली कुछ-एक लोगों के विषय में तुम्हारी टिप्पणियां मेरी समझ से बाहर हैं; ऐसा नहीं कि हम दूसरों को तुच्छ समझकर उन इने-गिने लोगों पर

ही विश्वास कर रहे हैं अथवा जो कुछ हो रहा है वह सब उन्हें तो बता रहे हैं और तुम पर प्रकट नहीं कर रहे। यह तुम्हारी पुरानी शिकायत है जिसका कोई आधार नहीं। यदि कोई आदमी दावा करता है कि माताजी उसपर विशेष भरोसा करती हैं तो वह एक अहंमय दावा कर रहा है जिसे उचित नहीं ठहराया जा सकता। तुम्हारी असली बात यह मालूम होती है कि माताजी सूप देना और उसके साथ के अन्य कार्य करना फिर से क्यों शुरू नहीं कर रहीं। मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूं कि क्यों उन्हें अपनी बीमारी के अनुभव ने पुरानी दिनचर्या से विरत होने के लिये बाधित किया—जो अधिकतर साधकों के लिये एक प्रकार की अर्ध-पुरोहितीय दिनचर्या से अधिक कुछ नहीं रह गयी थी। इसका कारण था साधकों की गलत मनोवृत्ति जिसने एक ऐसा वायुमण्डल पैदा कर दिया था जो योग-विरुद्ध चेष्टाओं से भरा हुआ था और संकट की ओर ले जा सकता था—जिसकी ओर ले जाना उसने शुरू भी कर दिया था। पुराने आधार पर ही सूप-वितरण शुरू करने का अर्थ होगा पुरानी अवस्थाओं को वापिस ले आना और उसका अंतिम रूप होगा गलत चेष्टाओं के उसी चक्र की तथा उन्हीं परिणामों की पुनरावृत्ति। अपनी बीमारी के बाद इन सब अवस्थाओं को एक और ही आधार पर नये सिरे से नियंत्रित करने के लिये माताजी धीमे-धीमे और सावधानी से कदम उठाती आ रही हैं, पर वे ऐसा कोई कदम नहीं उठा सकतीं जो पुरानी अंधकारमयी क्रियाओं को वापिस आने दे—उन क्रियाओं को जिनमें से कुछ, मेरी समझ में, स्वयं तुम्हारी नजर में भी आने लगी थीं। अगला कदम स्वयं साधकों को उठाना है; (अपनी मनोवृत्ति के परिवर्तन से, निम्नतर प्राणिक और भौतिक स्तर पर सच्ची चेतना में उठ जाने के दृढ़ निश्चय से) उन्हें इस बात को संभव बनाना होगा कि उस स्तर पर ठीक ढंग से और ठीक परिणाम सहित माताजी के साथ एकत्व संभव हो जाये। इससे अधिक मैं अभी कुछ नहीं कह सकता; परंतु आगे चलकर, व्यक्तियों की ओर विशेष संकेत किये बिना जहांतक बन पड़ेगा वहांतक, अधिक स्पष्ट रूप में लिखने का मेरा पूरा विचार है; क्योंकि लोगों के योग में व्यक्तिगत चीजें भी होती हैं जिनके विषय में बहुधा केवल उन्हीं से कहा जा सकता है, दूसरों से नहीं।

तुम्हारे अन्य प्रश्नों पर मैं एक और पत्र में विचार करूंगा। मैं केवल यही कहूंगा कि जो कुछ होता है वह "सबसे अधिक भलाई के लिये" इस अर्थ में ही होता है कि सब कठिनाइयों के रहते भी अंत में भगवान् की ही विजय होगी—मेरी दृष्टि, मेरी श्रद्धा एवं मेरा आश्वासन यही रहा है और सदा यही रहेगा

—यदि तुम इसे मेरे कहने पर स्वीकार करने को उद्यत हो। परंतु उसका यह अर्थ नहीं कि तुम्हारी उदासी और विषाद इस गतिविधि के लिये आवश्यक है! जितनी ही जल्दी वे फिर कभी न लौटने के लिये तुमसे दूर हट जायें उतने ही अधिक आनन्दपूर्वक माताजी और मैं शिखरों की ओर जानेवाले ढालू मार्ग पर अग्रसर हो पायेंगे और तुम्हारे लिये भी अपनी अभीष्ट वस्तु, पूर्ण भक्ति और आनंद को प्राप्त करना उतना ही अधिक सुगम होगा।

२८-१२-१९३१

१०

कठिनाइयों में माताजी की सहायता

विजय का आश्वासन

इस विषय में निस्संदिग्ध रहो कि तुम्हें इस पथ पर ले जाने के लिये माताजी सदा तुम्हारे साथ रहेंगी। कठिनाइयां आती हैं और चली जाती हैं, पर, माताजी हैं तो विजय सुनिश्चित है।

१८-७-१९३६

*

जो मार्ग तुमने अब अपनाया है—सभी परिस्थितियों में माताजी को दृढ़ता से पकड़े रहना और किसी भी चीज के द्वारा अपने को उस पथ से विचलित न होने देना—वह तुम्हें कठिनाइयों का सच्चा हल प्राप्त करा देगा। कारण, ऐसा प्रतीत होता है कि चैत्य पुरुष ने तुम्हारे अंदर अपना काम शुरू कर दिया है।

२४-१२-१९३५

*

अटल रहो और एक ही दिशा में—माताजी की ओर मुड़े रहो।

अवतरण और कठिनाइयां

क्या यह सच है कि अतिमानस का अवतरण जितना ही पास आता जायेगा उतना ही उन लोगों की कठिनाइयां अधिक बढ़ती जायेंगी जिनमें उसे सबसे पहले उतरना है?

यह सच है, जबतक कि वे माताजी के प्रति इतने समर्पित, इतने चैत्यमय, इतने नमनीय और अहंमुक्त ही न हों कि उन्हें कठिनाइयों से बरी कर दिया जाये।

श्रीमां की क्रिया में विश्वास

समस्त बाह्य रूपों के पीछे होनेवाली श्रीमां की क्रिया में तुम्हें अटल विश्वास बनाये रखना चाहिये, और फिर तुम देखोगे कि वह विश्वास तुम्हें पथ पर सीधे लिये जा रहा है।

३१-८-१९३५

*

सब कुछ माताजी पर छोड़ देना, पूर्ण रूप से उन्हीं पर भरोसा रखना और उन्हें लक्ष्य की ओर ले जानेवाले पथ पर अपने को ले जाने देना ही समुचित मनोभाव है।

२-३-१९३६

*

कोई आदमी केवल अपनी ही शक्ति या अच्छे गुणों के द्वारा दिव्य रूपांतर नहीं प्राप्त कर सकता; केवल दो चीजें हैं जिनका मूल्य है : कार्य करनेवाली माताजी की शक्ति और उनकी ओर खुले रहने का साधक का संकल्प तथा उनकी क्रिया पर विश्वास। अपने संकल्प और विश्वास को बनाये रखो और बाकी चीजों की परवाह मत करो—वे केवल कठिनाइयां हैं जो साधना में सबके सामने आती हैं।

१३-५-१९३६

*

यदि चैत्य पुरुष की प्रकृति जाग्रत् हो जाये, अपने पीछे विद्यमान माताजी की चेतना और शक्ति के द्वारा तुम्हारा पथप्रदर्शन करे तथा तुम्हारे अंदर कार्य करे तो कुछ भी असंभव नहीं है।

१९-१०-१९३५

*

यदि कोई माताजी में पूरा विश्वास बनाये रखे और अपनी चैत्य सत्ता को खोले रखे तो माताजी की शक्ति सब कुछ करेगी और मनुष्य का बस इतना ही काम होगा कि वह अपनी अनुमति दे, अपने को खोले रखे और अभीप्सा करे।

१२-११-१९३५

*

पश्चात्ताप के द्वारा सब दोषों और भूलों से छुटकारा मिल जाता है। माताजी पर भरोसा, उनके प्रति आत्मदान—इन्हें यदि तुम बढ़ाओ तो ये तुम्हारी प्रकृति में परिवर्तन ले आयेंगे।

*

प्रगति चाहे तेज हो या धीमी, सर्वदा साधक का मनोभाव होना चाहिये माताजी पर संपूर्ण विश्वास और भरोसा। जिस तरह तुम यह समझते हो कि प्रगति तुम्हारे अपने प्रयास या गुण का परिणाम नहीं थी, बल्कि तुम्हारे माताजी पर भरोसा रखने के समुचित मनोभाव तथा माताजी की शक्ति की क्रिया का परिणाम थी, ठीक उसी तरह तुम्हें यह नहीं समझना चाहिये कि कोई धीमापन या कठिनाई तुम्हारे अपने दोष के कारण थी, बल्कि भरोसा रखने के इस मनोभाव को ही बनाये रखने की कोशिश करनी चाहिये और माताजी की शक्ति को कार्य करने देना चाहिये—धीरे हो या तेजी से, उससे कुछ आता-जाता नहीं।

१४-११-१९३५

*

नहीं। संभवतः यह ऐसा इसलिये लगता है कि प्राण-चेतना या भौतिक चेतना के कुछ अंश ने इसे ऐसा ही रूप दिया है। यह पथ रेगिस्तान नहीं है और न तुम अकेले ही हो, क्योंकि श्रीमां तुम्हारे साथ हैं।

२-११-१९३३

श्रीमां का निश्चित मनोभाव

श्रीमाताजी कभी भविष्य की कठिनाइयों, पतनों या विपत्तियों की बात नहीं सोचतीं। उनका ध्यान सर्वदा एकाग्र होता है प्रेम और प्रकाश पर, कठिनाइयों और अधःपतनों के ऊपर नहीं।

*

माताजी उच्चतर सद्वस्तु को जगत् में ले आती हैं—उसके बिना बाकी सब कुछ अज्ञानपूर्ण और मिथ्या है।

३-८-१९३४

सर्वदा करने लायक एक चीज

एक बार जब मनुष्य योगमार्ग में प्रवेश कर जाता है तब उसे केवल एक ही चीज करनी होती है—उसे दृढ़ता के साथ यह निश्चय करना होता है कि चाहे जो कुछ भी क्यों न हो, चाहे जो भी कठिनाइयां क्यों न उठ खड़ी हों, मैं अंत तक अवश्य जाऊंगा। सच पूछा जाये तो कोई भी मनुष्य अपने निजी सामर्थ्य के द्वारा योग में सिद्धि नहीं प्राप्त करता—सिद्धि तो उस महत्तर शक्ति के द्वारा आती है जो तुमसे ऊपर आसीन है—और समस्त अवस्था-विपर्ययों में से गुजरते हुए, लगातार उस शक्ति को पुकारते रहने से ही वह सिद्धि आती है। उस समय भी, जब कि तुम सक्रिय रूप से अभीप्सा नहीं कर सकते, सहायता के लिये श्रीमां की ओर मुड़े रहो—यही एकमात्र चीज है जिसे सर्वदा करना चाहिये।

३-१-१९३४

कठिनाई में श्रीमां की शक्ति पर विश्वास

बस आवश्यकता है अध्यवसाय की—निरुत्साहित हुए बिना आगे बढ़ते जाने की और यह स्वीकार करने की कि प्रकृति की प्रक्रिया तथा श्रीमां की शक्ति की क्रिया कठिनाई के भीतर से भी काम कर रही है और जो कुछ आवश्यक है उसे करेगी। हमारी अक्षमता से कुछ नहीं आता-जाता—एक भी आदमी ऐसा नहीं जो अपनी प्रकृति के भागों में अक्षम न हो—पर भागवती शक्ति भी विद्यमान है। अगर कोई उसपर विश्वास रखे तो अक्षमता क्षमता में परिवर्तित हो जायेगी। उस समय स्वयं कठिनाई और संघर्ष भी सिद्धि प्राप्त करने के साधन बन जाते हैं।

२७-५-१९३६

*

अपनी कठिनाइयों पर सोच-विचार मत करते रहो। उन्हें माताजी पर छोड़ दो और उनकी शक्ति को अपने अंदर कार्य करने दो जिससे वह उन्हें तुम्हारे अंदर से बाहर निकाल दे।

२२-३-१९३५

*

इस विचार को कभी आने और अपने को परेशान मत करने दो कि "मैं समर्थ नहीं हूं, मैं यथेष्ट प्रयास नहीं करता हूं।" यह एक तामसिक सुझाव है जो अवसाद ले आता है और फिर अवसाद अनुचित शक्तियों के आक्रमण के लिये दरवाजा खोल देता है। तुम्हारी स्थिति तो यह होनी चाहिये कि "जो कुछ मैं कर सकूंगा वह करूंगा; माताजी की शक्ति, स्वयं श्रीभगवान् यह देखने के लिये मौजूद हैं कि समुचित समय के अंदर सब कुछ कर दिया जाये।"

४-११-१९३५

*

समुचित मनोभाव है घबराना नहीं, शांत-स्थिर बने रहना और विश्वास बनाये रखना। पर यह भी आवश्यक है कि श्रीमां की सहायता ग्रहण की जाये और किसी भी कारण से उनकी सहायता से पीछे न हटा जाये। हमें कभी असमर्थता, प्रत्युत्तर देने की अयोग्यता के विचारों में नहीं लगे रहना चाहिये, दोषों और असफलताओं पर अत्यधिक ध्यान नहीं देना चाहिये और उन सबके कारण मन को दुःखी और शर्मिन्दा नहीं होने देना चाहिये। क्योंकि ये विचार और बोध अंत में कमजोर बनानेवाली चीजें बन जाते हैं। अगर कठिनाइयां हैं, ठोकरें लगती हैं या असफलताएं आती हैं तो उन्हें शांत-स्थिर रहकर देखना चाहिये और उन्हें दूर करने के लिये शांति के साथ, निरंतर भागवत साहाय्य को पुकारना चाहिये। कभी विचलित या दुःखी या निरुत्साहित नहीं होना चाहिये। योग कोई सहज पथ नहीं है और प्रकृति का सर्वांगीण परिवर्तन एक दिन में नहीं किया जा सकता।

*

इस सबका कुछ लाभ नहीं—इस प्रकार की शिकायतों, शंकाओं आदि को ताक पर धर दो। तुम्हें उदास या विचलित हुए बिना, माताजी की शक्तियों को ग्रहण करते हुए, उन्हें कार्य करने देते हुए, जो कुछ उनके मार्ग में आड़े आये उस सबको दूर फेंकते हुए, पर अपनी किसी कठिनाई या दोषों से अथवा माताजी की क्रिया में किसी प्रकार के विलम्ब या धीमेपन से विचलित हुए बिना शांत भाव से आगे बढ़ते जाना है।

२५-१०-१९३३

*

निराशा या अधीरता के इन सुझावों को अपने अंदर मत घुसने दो। माताजी की शक्ति को कार्य करने के लिये समय दो।

१२-६-१९३७

*

इस प्रकार का दुःख-शोक और निराशा सबसे बुरी बाधाएं हैं जिन्हें मनुष्य अपनी साधना में खड़ा कर सकता है—इनमें कभी संलग्न नहीं होना चाहिये। मनुष्य स्वयं जिसे नहीं कर सकता उसे वह माताजी की शक्ति को पुकार कर उससे करा सकता है। उसी को ग्रहण करना और उसे अपने अंदर करने देना साधना में सफलता पाने का सच्चा तरीका है।

*

अभी चाहे जो कठिनाइयां क्यों न मौजूद हों, इस बात का विश्वास रखो कि उनपर विजय प्राप्त होगी। बाहरी सत्ता के घबराने का कोई कारण नहीं है—माताजी की शक्ति और तुम्हारी भक्ति रास्ते में आनेवाली सभी बाधाओं को पार करने के लिये काफी होंगी।

*

निरुत्साहित होने का कोई कारण नहीं है। प्रकृति की तैयारी के लिये तीन वर्ष का समय बहुत अधिक नहीं है। प्रकृति साधारणतया उत्थान-पतन के भीतर से होती हुई धीरे-धीरे उस अवस्था के समीप पहुंचती है जहां निरन्तर उन्नति करना संभव हो जाता है। समस्त बाहरी रूपों के पीछे होनेवाली माताजी की क्रिया के प्रति अपने विश्वास से दृढ़तापूर्वक चिपके रहना चाहिये और तब तुम देखोगे कि वह तुम्हें कठिनाइयों से बचा ले जायेगी।

३१-८-१९३५

*

तुम्हें शोक-ताप या निराशा के वश में नहीं होना चाहिये—ऐसा करने का कोई कारण नहीं। माताजी की कृपा एक क्षण के लिये भी तुमसे अलग नहीं हुई है। दूसरों के आक्रमणों से इस प्रकार अपने को विचलित मत होने दो—तुम अच्छी तरह जानते हो कि किस उद्देश्य से वे अपना कार्य करते हैं—और पीछे वे उस पथ का अनुसरण दूर तक नहीं करेंगे जिसे उन्होंने क्रोध के आवेश में

ग्रहण किया था। माताजी का संरक्षण तुम्हारे ऊपर रहेगा और तुम्हें डरने या शोक करने की कोई आवश्यकता नहीं। भगवान् पर विश्वास करो और इन सब चीजों को एक विगत दुःस्वप्न की न्याईं झाड़ फेंको। विश्वास रखो कि हमारा प्रेम और हमारी कृपा तुम्हारे साथ हैं।

*

तुमने सर्वदा ही अपने मन और संकल्पशक्ति की क्रिया पर अत्यधिक भरोसा रखा है—इसी कारण तुम उन्नति नहीं कर पाते। यदि तुम माताजी की शक्ति पर चुपचाप भरोसा बनाये रखने की आदत डाल लो—महज अपने निजी प्रयास की सहायता करने के लिये उसे पुकारने की आदत नहीं—तो बाधा कम हो जायेगी और अंत में एकदम दूर हो जायेगी।

*

मनुष्य जितना ही अधिक माताजी की क्रिया की ओर खुला होता है उतनी ही आसानी से कठिनाइयां हल हो जाती हैं और यथार्थ चीज संपन्न हो जाती है।

२१-९-१९३४

*

बिना पथ-प्रदर्शन के किये गये अपने व्यक्तिगत प्रयत्नों के कारण ही तुम कठिनाइयों में जा पड़े और ऐसी उत्तेजित अवस्था में पहुंच गये कि ध्यान आदि नहीं कर सके। मैंने तुमसे प्रयास बंद कर देने और शांत-स्थिर बने रहने के लिये कहा और तुमने वैसा ही किया। मेरा उद्देश्य यह था कि तुम्हारे शांत बने रहने पर माताजी की शक्ति के लिये तुम्हारे अंदर कार्य करना और एक अच्छा आरंभ तथा प्रारंभिक अनुभूतियों की एक धारा स्थापित करना संभव होगा। इसका आना आरंभ भी हो गया था, पर तुम्हारा मन यदि फिर से सक्रिय हो जाये और स्वयं साधना की व्यवस्था करने की चेष्टा करे तो गोलमाल उत्पन्न होने की संभावना है। भागवत पथ-प्रदर्शन तभी उत्तम रूप में कार्य करता है जब चैत्य पुरुष खुला हुआ और सामने हो (तुम्हारे चैत्य पुरुष ने खुलना आरंभ किया था), पर वह तब भी कार्य कर सकता है जब कि साधक उसके विषय में या तो सचेतन न हो या उसे केवल उसके परिणामों से ही जानता हो।

कठिनाइयां और माताजी की कृपा

क्या इसपर विश्वास किया जा सकता है कि जब कठिनाइयां दूर नहीं होतीं तब भी माताजी की कृपाशक्ति कार्य करती रहती है?

उस अवस्था में तो प्रत्येक आदमी कह सकता है, "मेरी सभी कठिनाइयां तुरत दूर हो जानी चाहिये, मुझे तुरत-फुरत और बिना किसी कठिनाई के पूर्णता प्राप्त कर लेनी चाहिये, अन्यथा यह बात सिद्ध हो जाती है कि माताजी की कृपा मेरे ऊपर नहीं है।"

२०-७-१९३३

*

तुम्हें इस सबको दूर फेंक देना चाहिये। ऐसी उदासी तुम्हें उस चीज की ओर से बंद कर देगी जो माताजी तुम्हें दे रही हैं। ऐसे मनोभाव के लिये जरा भी कोई समुचित कारण नहीं है। कठिनाइयों का होना योग जीवन की एक जानी हुई बात है। अंतिम विजय या भागवत कृपा की कार्यकारिता पर संदेह करने का वह कोई कारण नहीं।

४-२-१९३३

चैत्य विकास और माताजी की कृपा

माताजी की कृपा के कार्य करने का नियम क्या है?

साधक चैत्य पुरुष को जितना अधिक विकसित करता है उतना ही कृपा शक्ति के लिये कार्य करना अधिक संभव होता है।

१३-८-१९३३

*

जो भाग माताजी के विषय में सर्वदा सचेतन रहता है उसी भाग का निरंतर प्राधान्य प्राप्त करने योग्य वस्तु है—निस्सन्देह वह भाग चैत्य पुरुष है—क्योंकि वह चाहे फिलहाल ढका हुआ क्यों न हो, वह विरोधी सुझावों के द्वारा पथभ्रष्ट नहीं हो सकता। एक बार यदि वह जागृत हो जाये तो वह हमेशा

अंधकार से बाहर निकल आता है—यही बात अंत में लक्ष्य तक पहुंचने का आश्वासन प्रदान करती है। परंतु यदि चैत्य पुरुष को सामने बनाये रखा जाये या सभी परिस्थितियों में पीछे की ओर उसे ज्ञानपूर्वक अनुभव भी किया जाये तो रास्ते की मंजिल अपेक्षाकृत निरापद हो सकती है तथा अधिक सहज और सुरक्षित रूप में पार की जा सकती है।

६-२-१९३७

*

जब बाहरी चीजों के प्रति, उनके अपने कारण, कोई आसक्ति नहीं रहती और सब कुछ केवल माताजी के लिये ही होता है तथा अन्तरस्थ चैत्य पुरुष के द्वारा हमारा जीवन माताजी में ही केंद्रित हो जाता है तभी आध्यात्मिक उपलब्धि के लिये सबसे उत्तम अवस्था उत्पन्न होती है।

११-११-१९३५

*

शरीर की पवित्रता के बारे में कभी चिंता मत करो। माताजी का प्रेम हृदय और शरीर दोनों को पवित्र करता है—यदि आत्मा की अभीप्सा वहां विद्यमान है तो शरीर भी पवित्र ही है। भूतकाल में जो कुछ हुआ उसका जरा भी महत्त्व नहीं।

माताजी की सतत सहायता

माताजी की सहायता हमेशा ही मौजूद है, पर तुम उसके विषय में सचेतन नहीं हो—बस उसी समय सचेतन होते हो जब चैत्य पुरुष सक्रिय होता है और चेतना आच्छादित नहीं होती। सुझावों का आना इस बात का प्रमाण नहीं है कि सहायता नहीं मिल रही है। सुझाव सभी लोगों के पास आते हैं, यहांतक कि बड़े-से-बड़े साधकों के या अवतारों के पास भी आते हैं—जैसे कि वे बुद्ध या ईसा के पास आये थे। बाधाएं भी हैं—वे प्रकृति का अंग हैं और उन्हें जीतना ही होगा। अभी जो अवस्था प्राप्त करनी है वह है सुझावों को स्वीकार न करना, उन्हें सत्य या अपने निजी विचार न मानना, जिस उद्देश्य से वे आये हैं उसे देखना और अपने को उनसे अलग रखना। बाधाओं को इस प्रकार देखना होगा कि मानव-प्रकृति की मशीन के भीतर कुछ चीजें खराब हो गयी हैं जिन्हें

बदल डालना होगा—उन्हें कभी पाप या अपकर्म नहीं समझना चाहिये जिसके कारण कि अपने विषय में और साधना के विषय में निराशा आती है।

*

आज काम करते समय मैंने एक शांतिपूर्ण शक्ति तथा बर्फ की तरह अपने सिर का स्पर्श करनेवाली एक चीज का अनुभव किया। उसके बाद एक तीव्र बोध और दर्शन के साथ मेरे अंदर यह ज्ञान आया कि यद्यपि माताजी शरीर से हमारे निकट नहीं हैं, फिर भी वे हमेशा हमारे पास और हमारे इर्द-गिर्द मौजूद रहती हैं और अपने प्रेमपूर्ण हाथ के स्पर्श से सब प्रकार की कठिनाइयों को निरन्तर दूर हटाती रहती हैं। यह कोई दर्शन था या कोई उपलब्धि? किस चेतना के द्वारा यह मुझे प्राप्त हुआ?

दर्शन और अनुभव से युक्त यह एक उपलब्धि है। चैत्य और मनोमय दोनों चेतनाओं ने मिलकर इसे उत्पन्न किया।

११-६-१९३३

स्पष्टवादिता और माताजी की सहायता

जो लोग स्पष्टवादी नहीं हैं वे माताजी की सहायता से लाभ नहीं उठा सकते, क्योंकि वे स्वयं ही उसे वापस लौटा देते हैं। जबतक वे परिवर्तित नहीं हो जाते तबतक वे निम्नतर प्राण और भौतिक प्रकृति के अंदर अतिमानसिक ज्योति और सत्य के अवतरण की आशा नहीं कर सकते; वे स्वयं अपने ही द्वारा उत्पन्न कीचड़ में फंसे रहेंगे और उन्नति नहीं कर सकेंगे।

नवम्बर, १९२८

श्रीमां की सहायता से प्राण का परिवर्तन

माताजी की सहायता उन लोगों के लिये बराबर ही मौजूद रहती है जो उसे ग्रहण करने के लिये इच्छुक हों। परंतु तुम्हें अपनी प्राण-प्रकृति के विषय में सचेतन होना चाहिये और प्राण-प्रकृति परिवर्तित होने के लिये अवश्य राजी होनी चाहिये। केवल इतना ही देखने से कोई लाभ नहीं कि वह अनिच्छुक है

और जब उसके मार्ग में बाधा पहुंचायी जाती है तब वह तुम्हारे अंदर अवसाद उत्पन्न करती है। प्राण-प्रकृति आरंभ में हमेशा अनिच्छुक होती है और बराबर ही जब उसके मार्ग में बाधा पहुंचायी जाती है अथवा उसे परिवर्तित होने के लिये कहा जाता है तब वह अपने विद्रोह के द्वारा या अनुमति देना अस्वीकार करके इस अवसाद को उत्पन्न करती है। तुमको तबतक आग्रह करते रहना चाहिये जबतक कि वह सत्य को पहचान न ले और रूपांतरित होने तथा श्रीमां की सहायता और कृपा स्वीकार करने के लिये इच्छुक न हो जाये। अगर मन सच्चा हो और चैत्य अभीप्सा सच्ची और पूर्ण हो तो फिर सदा ही प्राण को परिवर्तित होने के लिये बाध्य किया जा सकता है।

१५-७-१९३२

*

यह विचार कि तुम असमर्थ हो, क्योंकि तुम्हारा प्राण अशुद्ध गतियों को स्वीकृति देता रहता है, तुम्हारे मार्ग में बाधक है। तुम्हें अपने आंतरिक संकल्प और माताजी की ज्योति को प्राण के ऊपर डालना होगा जिससे वह परिवर्तित हो, वह जो कुछ चाहे वही करने के लिये उसे छोड़ न दिया जाये। अगर कोई आदमी 'असमर्थ' ही बन जाये और यंत्र-स्वरूप सत्ता के किसी भी अंश के द्वारा परिचालित हो तो फिर परिवर्तन कैसे संभव होगा? श्रीमां की शक्ति या चैत्य-पुरुष कार्य कर सकता है, पर इस शर्त पर कि सत्ता की भी उसके लिये अनुमति हो। अगर प्राण को अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने दिया जाये तो वह सर्वदा अपनी पुरानी आदतों का ही अनुसरण करेगा; उसे यह अनुभव कराना होगा कि उसे भी अवश्य परिवर्तित होना चाहिये।

*

मन की शांति को एक समान और निरंतर बनाये रखने के लिये प्राण के अंदर जो भाग अभी चंचल है उसे स्थिर-अचंचल बनाना होगा। उसे संयमित तो करना होगा, पर केवल संयम ही पर्याप्त नहीं। माताजी की शक्ति को सर्वदा पुकारना होगा।

१०-४-१९३४

*

अब अपनी प्राण-सत्ता के द्वार पर माताजी का यह नोटिस लगा दो, "अब यहां किसी मिथ्यात्व का आना मना है।" और फिर वहां एक संतरी बैठा दो जो यह

देखे कि इस नोटिस के अनुसार कार्य हो रहा है।

१८-५-१९३३

*

माताजी तुमसे जाने के लिये नहीं कह सकतीं, क्योंकि ऐसा कोई वास्तविक कारण नहीं जिससे कि तुम्हें यहां से चले जाना चाहिये और ऐसा करना तुम्हारे लिये बहुत बुरा होगा और काम के लिये तथा अन्य हर चीज के लिये भी यह बुरा होगा। तुम्हें काम नहीं छोड़ना चाहिये—इसके लिये कारण बिलकुल वही हैं जो पहले थे और अब जो कुछ भी हुआ है उससे वे जरा भी नहीं बदले। निःसन्देह ईर्ष्या तुम्हारी प्रकृति का एक महान् दोष है, पर वह तो यहां बहुतों में है, लगभग हर एक व्यक्ति की प्रकृति में कोई-न-कोई गंभीर दोष है जो उसके मार्ग में रोड़ा अटकाता और उसे कष्ट देता है। परंतु काम एवं साधना छोड़ देना तथा माताजी को त्याग देना इसका इलाज नहीं। तुम्हारे पीछे कार्यरत माताजी की सहायता के द्वारा तुम्हें तबतक काम और साधना करते जाना होगा जबतक इस और अन्य सब बाधाओं से छुटकारा न मिल जाये। यह हम तुमसे पहले ही कह चुके हैं कि इन चीजों से छुटकारा एक ही दिन में नहीं हो सकता, पर यदि तुम लगे रहो और माताजी पर भरोसा रखो तो ये अब भी दूर हो जायेंगी। विरोधी शक्ति को अपने को पथ-भ्रष्ट मत करने दो; समस्त विषाद को परे फेंककर तबतक सीधे आगे बढ़ते जाओ जबतक कि लक्ष्य पर न पहुंच जाओ।

१७-७-१९३५

*

हमें यह सुनकर बहुत हर्ष हुआ कि तुम पहले से अच्छे हो और 'क्ष' ने तुम्हारी सहायता करके तुम्हें संकट से उबार लिया है। निश्चय ही इस ईर्ष्या को मिटना ही होगा और लेशमात्र भी शेष नहीं रहना होगा। इसमें संदेह मत करो कि माताजी का प्रेम तुम्हारे साथ सदा ही है और रहेगा। उनकी कृपा में विश्वास रखो और यह सब कुछ तुम्हारे अंदर से निकल जायेगा और तुम माताजी के सच्चे शिशुमात्र रह जाओगे जैसे तुम अपने मन और हृदय में सदा ही हो।

१८-७-१९३५

*

माताजी की तुम्हें त्याग देने की कतई इच्छा नहीं है और उनकी कभी यह इच्छा

नहीं रही कि तुम उनसे दूर चले जाओ। तुम्हें अपने-आपको उनकी इच्छा के साथ समस्वरित करना होगा और तब सब कुछ ठीक चलेगा। उनका प्रेम तुम्हारा मार्गदर्शन करेगा और उनका संरक्षण प्रभावकारी होगा।

जबतक तुम अच्छे नहीं हो जाते तबतक विश्राम करो। सामर्थ्य लाभ करने से पहले काम पर जाने की जल्दी मत करो।

१९-७-१९३५

कठिनाई में माताजी को पुकारना

जब कठिनाइयां आयें तो अपने अंदर अचंचल बने रहो और उन्हें दूर करने के लिये माताजी की शक्ति को पुकारो।

२६-८-१९३३

*

सदा माताजी तो पुकारना और उसके साथ-साथ अभीप्सा करना और जब ज्योति आये तब उसे स्वीकार करना, कामना-वासना और प्रत्येक अंधकारपूर्ण क्रिया का त्याग करना तथा उनसे अपने को पृथक् रखना—यही प्रधान चीज है। परंतु यदि कोई अन्य चीजों को सफलतापूर्वक न कर सके तो भी उसे पुकारना चाहिये और बार-बार पुकारना चाहिये।

श्रीमां की शक्ति को जब तुम अनुभव नहीं करते तब भी वह तुम्हारे साथ रहती है; स्थिर-अचंचल बने रहो और अपने प्रयास में लगे रहो।

१५-९-१९३४

*

तुम्हें अपने-आपको इन छोटी-छोटी चीजों से चलायमान नहीं होने देना चाहिये। जिन गतिविधियों के बारे में तुमने शिकायत की है वे जब आयें तब यदि तुम शांत रहो और अपने-आपको माताजी की ओर खोलो तथा उन्हें पुकारो तो कुछ समय बाद तुम देखोगे कि तुम्हारे अंदर एक प्रकार का परिवर्तन आने लग रहा है। ध्यान ही पर्याप्त नहीं; माताजी का चिंतन करो और अपना काम तथा अपनी क्रिया-चेष्टा उन्हीं को अर्पित करो, उससे तुम्हें अधिक अच्छी सहायता प्राप्त होगी।

७-४-१९३२

*

यदि तुम अपना संकल्प-बल न लगा सको तो फिर केवल एक ही रास्ता है—वह है शक्ति को पुकारना; केवल मन के द्वारा या मानसिक शब्द के द्वारा पुकारना भी एकदम निष्क्रिय बने रहने और आक्रमण के अधीन हो जाने की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा है,—क्योंकि, मानसिक पुकार यद्यपि तुरंत सफल नहीं भी होती तो भी वह अंत में शक्ति को ले आती है और फिर से चेतना को खोल देती है। क्योंकि प्रत्येक चीज उसी पर निर्भर करती है। बहिर्मुखी चेतना के अंदर अंधकार और दुःख-क्लेश हमेशा ही रह सकते हैं; किंतु जितना ही अधिक अंतर्मुखी चेतना का राज्य बढ़ता जाता है उतना ही अधिक ये सब चीजें पीछे और बाहर धकेल दी जाती हैं, और पूर्ण अंतर्मुखी चेतना में ये चीजें नहीं रह सकतीं—अगर वे आती हैं तो मानों बाहरी स्पर्श के समान होती हैं जो सत्ता के अंदर निवास करने में असमर्थ होता है।

२१-८-१९३३

*

अगर कोई तेजी से माताजी की शक्ति को न भी पुकार सके तो भी उसे यह भरोसा बनाये रखना चाहिये कि वह जरूर आयेगी।

२६-८-१९३६

*

भौतिक मन ही अपने को अत्यधिक जड़ अनुभव करता है—पर, सत्ता का कोई भी अंश यदि माताजी की ओर मुड़ जाये तो वह सहायता ले आने के लिये पर्याप्त है।

२५-१-१९३४

*

यह एक तरह से अवचेतन भौतिक सत्ता का एक भूत है और यही इन सब पुराने विचारों को वापस ले आया है कि "मैं ठीक-ठीक पुकार नहीं सकता—मेरे अंदर सच्ची अभीप्सा नहीं है, इत्यादि।" अवसाद, स्मृति आदि भी उसी एक स्रोत से आयी हैं। इन सब विचारों में डूबे रहने से कोई लाभ नहीं। अगर तुम माताजी को अपनी समझ के अनुसार ठीक तरीके से न पुकार सको तो उन्हें किसी भी तरह पुकारो—यदि तुम उन्हें पुकार न सको तो इन सब चीजों से छुटकारा पाने की इच्छा रखते हुए उनका चिंतन करो। तुम्हारे अंदर सच्ची

अभीप्सा है या नहीं—इस बात की दुश्चिंता करके परेशान मत होओ—चैत्य पुरुष चाहता है और यही पर्याप्त है। बाकी चीजें भागवत कृपा के ऊपर हैं जिसपर हमें दृढ़तापूर्वक निर्भर करना चाहिये—मनुष्य की अपनी योग्यता, अपने गुण या अपनी क्षमता के द्वारा सिद्धि नहीं आती।

जो हो, मैं इस भूत को भगाने के लिये शक्ति भेजूंगा, पर तुम यदि इन सब अभ्यासगत विचारों का त्याग कर सको तो इस आक्रमण को दूर करना अधिक आसान हो जायेगा।

४-१-१९३७

*

इन सब कठिनाइयों में सर्वदा सबसे उत्तम बात है माताजी को कहना और सहायता के लिये उन्हें पुकारना। संभवतः उसकी प्राण-सत्ता के अंदर कोई चीज अपने संरक्षण और देख-भाल के लिये किसी की आवश्यकता अनुभव करती है—परंतु तुम्हें इस भावना का अभ्यस्त होना चाहिये कि वह आवश्यक नहीं है और उस व्यक्ति को माताजी की देख-रेख में छोड़ देना सबसे उत्तम है—अपने प्रेम के विषय को उनके चरणों में समर्पित कर दो।

१५-११-१९३७

भीतरी और बाहरी वस्तुओं के लिये माताजी से प्रार्थना

आप कहते हैं, "जब कोई व्यक्ति एक साधक हो तो उसे साधना से संबद्ध भीतरी वस्तुओं के लिये ही प्रार्थना करनी चाहिये और बाहरी वस्तुओं के लिये वहीं तक प्रार्थना करनी चाहिये जहां तक वे साधना के लिये और भागवत कर्म के लिये आवश्यक हों।" आपके इस कथन का पिछला भाग—बाहरी वस्तुओं के लिये प्रार्थना वाला—मुझे स्पष्ट नहीं हुआ। क्या आप कृपा करके मुझे समझा सकते हैं?

सब कुछ इसपर निर्भर करता है कि क्या बाहरी वस्तुओं की चाहना अपनी निजी सुख-सुविधा और निजी लाभ आदि के लिये की जाती है, या आध्यात्मिक जीवन के अंग के रूप में और कर्म की सफलता तथा करणों के विकास एवं सक्षमता आदि के लिये आवश्यक साधनों के रूप में। यह मुख्यतया आंतरिक वृत्ति का प्रश्न है। उदाहरणार्थ, यदि तुम रसना की तृप्ति के निमित्त बढ़िया

भोजन खरीदने के लिये किसी से पैसा मांगते हो तो यह बात साधक के लिये ठीक नहीं; यदि तुम माताजी को देने और उनके काम में सहायता करने के लिये धन मांगते हो तो यह उचित है।

मैं कई प्रकार की प्रार्थनाएं यहां उद्धृत करता हूं जो मैं किया करता हूं, और मैं आभारी होऊंगा यदि आप मुझे बतायें कि उनमें से कौन-सी बाह्य या आंतरिक हैं, ठीक या गलत हैं, सहायक या बाधक हैं, अथवा उनमें क्या सुधार किया जाये जिससे वे पवित्र बन सकें :—

१. रात के समय जब मैं पढ़ने बैठता हूं और असमय मुझे नींद आ घेरती है तो मैं माताजी से प्रार्थना करता हूं कि वे मुझे नींद के आक्रमण से मुक्त करें।

यदि तुम्हारा पढ़ना साधना का भाग है तो यह प्रार्थना बिलकुल ठीक है।

२. जब मैं सोने जाता हूं तो माताजी से प्रार्थना करता हूं कि उनकी शक्ति नींद के समय मेरी साधना को अपने हाथ में ले ले, मेरी नींद को सचेतन और प्रकाशमय बनाये, नींद में मेरी रक्षा करे, मुझे माताजी के प्रति सचेतन बनाये रखे।

३. जब मैं नींद में किसी समय जाग पड़ता हूं तो माताजी से प्रार्थना करता हूं कि वे मेरे साथ रहें और मेरी रक्षा करें।

ये दोनों साधना का भाग हैं।

४. भ्रमण के लिये जाते समय और भ्रमण करते समय मैं प्रार्थना करता हूं कि माताजी मुझे अधिक व्यायाम करने तथा अधिक बल और स्वास्थ्य-लाभ करने की शक्ति दें और फिर सहायता के लिये उन्हें धन्यवाद देता हूं।

यदि बल और स्वास्थ्य की प्रार्थना इसलिये की जाये कि वे साधना के लिये तथा आधार की पूर्णता के विकास के लिये आवश्यक हैं तो वह बिलकुल ठीक है।

५. जब मैं सैर करते समय रास्ते में कोई कुत्ता देखता हूं तो मैं तुरंत

माताजी से प्रार्थना करता हूं कि मुझे उसके आक्रमण से बचायें और मेरा भय दूर करें।

रक्षा के लिये पुकार सदा ही उचित होती है। भय दूर करना साधना का अंग है।

६. जब मैं खाना खाने जाता हूं तो मैं प्रार्थना करता हूं कि माताजी की शक्ति मेरी सहायता करे जिससे मैं प्रत्येक ग्रास माताजी को अर्पित कर सकूं, हर चीज आसानी से हजम हो जाये, मैं अपनी चेतना में पूर्ण समता और अनासक्ति का विकास कर सकूं जो मुझे किसी भी आहार को बिना किसी आग्रह या चाह या लोभ-लालसा के विश्वगत आनन्द के समरस के साथ ग्रहण करने के योग्य बनाये।

यह भी साधना का अंग है।

७. जब मैं काम के लिये जाता हूं तो प्रार्थना करता हूं कि माताजी की शक्ति मेरा काम अपने हाथ में ले ले, मेरी सहायता करे और प्रेम, भक्ति एवं हर्ष के साथ, माताजी का स्मरण करते हुए, उनकी सहायता और सहारे का अनुभव करते हुए, बिना अहंकार या कामना के, अच्छी तरह और सावधानी से इसे करने की प्रेरणा दे।

यह भी।

८. काम के बीच भी, जब विराम होता है तो, मैं शक्ति, सहायता और सतत स्मृति के लिये प्रार्थना करता हूं।

यह भी।

९. जब कोई बुरा या अपवित्र विचार, अवलोकन एवं संवेदन मेरे अंदर पैदा होते हैं तो मैं उनके निवारण के लिये और पवित्रता के लिये प्रार्थना करता हूं।

यह भी।

१०. पढ़ते समय मैं यथासंभव यह प्रार्थना करने का यत्न करता हूं कि सब कुछ जल्दी से समझ जाऊं, पूर्ण रूप से ग्रहण और आत्मसात् कर लूं।

यदि यह साधना के रूप में या आधार के विकास के लिये है तो यह बिलकुल ठीक है।

११. जब मैं काम में कोई भूल करता हूं तो प्रार्थना करता हूं कि अधिक सचेतन, सतर्क और निष्प्रमाद बनूं।

यह भी साधना का भाग है।

१२. जब मैं अपने मित्र के नाम प्रसाद का पार्सल पंजीयित (रजिस्टर) कराने डाकखाने जाता हूं तो प्रार्थना करता हूं कि वह तुरंत स्वीकार हो जाये और उसमें किसी प्रकार की देर न लगे।

यह प्रार्थना की जा सकती है यदि समय के अपव्यय से बचने को साधना के जीवन की ठीक नियम-व्यवस्था का अंग समझा जाये।

१३. जब मैं ध्यान के लिये बैठता हूं तो प्रार्थना करता हूं कि माताजी की शक्ति मेरी ध्यान-क्रिया को अपने हाथ में लेकर उसे गहरी, स्थिर एवं एकाग्र बनाये और विघ्नकारी विचारों, प्राणिक बेचैनी आदि के समस्त आक्रमणों से मुक्त करे।

यह साधना का भाग है।

१४. उदासी, कठिनाई, गलत सुझावों, संदेह और जड़ता की अवस्था में, किसी भी अवसर पर या किसी भी घटना के समय मैं माताजी से प्रार्थना करता हूं कि साहस और श्रद्धा बनाये रखूं तथा उन सबका सामना कर उनपर विजय पाऊं।

यह भी।

१५. अन्य सब समयों में, जहांतक मुझसे बन पड़ता है, मैं माताजी से प्रार्थना करता हूं कि वे मुझे अपनी शांति, शक्ति और ज्योति आदि से भर दें, या फिर और किसी प्रकार की अपेक्षित प्रार्थना करता हूं, और मुझे सहायता, बल और सहारा देने के लिये उन्हें धन्यवाद देता हूं।

यह भी।

बार-बार आनेवाली कठिनाइयों को दूर करना

बार-बार आनेवाली अपनी कठिनाइयों का मुकाबला करने का सही तरीका क्या है?

समता, त्याग और माताजी की शक्ति को पुकारना।

१-८-१९३३

*

पुरानी मिलावट का बार-बार आनेवाला चक्कर रास्ते में आ खड़ा होता है। उसे तोड़कर बाहर निकलना एक ऐसी आंतरिक यौगिक स्थिरता और शांति प्राप्त करने के लिये बहुत आवश्यक है जो इन सब चीजों से डावांडोल नहीं होती। यदि वह स्थापित हो जाये तो उसमें माताजी की उपस्थिति को अनुभव करना, उनके पथ-प्रदर्शन की ओर खुल जाना और आकस्मिक झांकियों के द्वारा नहीं वरन् एक स्थायी उद्घाटन तथा विकास के अंदर चैत्यपुरुषोचित अनुभव एवं आध्यात्मिक ज्योति और आनंद का अवतरण प्राप्त करना संभव हो जायेगा। उसके लिये सहायता तुम्हें प्राप्त होगी।

७-३-१९३७

*

बहुत-से आदमी इस अवस्था में हैं (यह मानव-स्वभाव है) और स्वभावतः ही इससे बाहर आने का एक मार्ग भी है—माताजी में पूरा विश्वास रखकर आंतर मन को (बाहरी मन के दुःखदायी बने रहने पर भी) अचंचल बनाना और वहां से माताजी की शांति और शक्ति को, जो तुम्हारे ऊपर सर्वदा विद्यमान है, आधार में बुलाना। एक बार, सचेतन रूप में, वह वहां आ जाये तो अपने-

आपको उसकी ओर खोले रखना होगा और अपनी पूरी सहायता के साथ, निरंतर अपनी स्वीकृति का अवलम्बन देते हुए तथा जो उस चीज से भिन्न हो उस सबका ज्ञानपूर्वक त्याग करते हुए उसे तबतक कार्य करने देना होगा जबतक कि समस्त आंतर सत्ता धीर-स्थिर नहीं बन जाती और माताजी की शक्ति, शांति, प्रसन्नता और उपस्थिति से नहीं भर जाती—तब बाहरी प्रकृति भी उसी पथ का अनुसरण करने के लिये बाध्य हो जायेगी।

८-५-१९३३

बुरी अवस्थाओं से बाहर निकलना

ये बुरी अवस्थाएं आंतर स्थिति से (बहुधा बहुत मामूली कारण से) बाहरी चेतना में गिर जाने की अवस्थाएं हैं। जब ये आयें तब इनसे प्रभावित मत होओ, बल्कि धीर-स्थिर बने रहो, माताजी को पुकारो और भीतर की ओर वापस चले जाओ।

२४-१-१९३६

*

समय-समय पर चेतना का नीचे गिर जाना सबके अंदर घटित होता है। इसके कई कारण होते हैं, बाहर से कोई स्पर्श आता है, प्राण में, विशेषकर निम्नतर प्राण में कोई चीज अभी अपरिवर्तित होती है या अधूरे रूप में परिवर्तित होती है, प्रकृति के भौतिक अंगों से कोई तमस् या अंधकार उठ आता है। यह आये तो स्थिर बने रहो, माताजी की ओर अपने को खोलो, अच्छी अवस्थाओं को वापस बुलाओ और स्पष्ट तथा अक्षुब्ध विवेक-शक्ति के लिये अभीप्सा करो जो तुम्हारे अंदर उस चीज का कारण तुम्हें दिखा दे जिसे ठीक करने की आवश्यकता है।

४-३-१९३२

आक्रमण के समय माताजी की सहायता

अज्ञान की शक्तियां ही घेरा डालना आरंभ करती हैं और फिर एक साथ आक्रमण करती हैं। प्रत्येक बार जब ऐसे आक्रमण को हटाकर दूर भगा दिया जाता है तब आधार साफ हो जाता है, मन, प्राण या शरीर में या सत्ता के

समीपवर्ती अंगों में माताजी के लिये एक नया क्षेत्र जीत लिया जाता है। प्राण में माताजी द्वारा अधिकृत स्थान धीरे-धीरे बढ़ रहा है—इसका पता इस बात से लगता है कि अब तुम इन चढ़ाइयों का विरोध अधिक जोर के साथ कर रहे हो जो पहले तुम्हें एकदम अभिभूत कर डालती थीं।

ऐसे समयों पर माताजी की उपस्थिति और शक्ति का आवाहन करना ही कठिनाई का मुकाबला करने का सबसे अच्छा तरीका है।

जो माताजी सर्वदा तुम्हारे साथ और तुम्हारे अंदर हैं उन्हीं के साथ तुम बातचीत करते हो। बस एकमात्र आवश्यक बात है ठीक-ठीक सुनना जिससे कि कोई दूसरी वाणी बीच में न आ जाये।

७-१२-१९३३

*

यदि तुमने माताजी की ओर खुले रहने का अभ्यास बना लिया है तो चाहे आक्रमण कितना भी प्रबल क्यों न हो, और यदि वह अभी तुम्हें परास्त भी कर डाले, तो भी वह तेजी से निकल जायेगा।

यदि तुम अचंचल बने रहो और शांति की ओर तथा दिव्य शक्ति की ओर खुले रहो तो शांति फिर वापस आ जायेगी। एक बार जब दिव्य सत्य का कुछ अंश तुम्हारे अंदर प्रकट हो चुका है, तो, चाहे अभी कुछ समय के लिये भले ही वह अशुद्ध गतियों के बादलों से क्यों न ढक जाये, वह फिर भी आसमान में चमकनेवाले सूर्य की तरह हमेशा चमकने लगेगा। अतएव विश्वास के साथ प्रयास में लगे रहो और कभी साहस मत खोओ।

१४-३-१९३२

*

विद्रोही शक्ति की क्रिया के कारण आनेवाले दुःख-कष्ट से बचने का साधकों के लिये सबसे उत्तम उपाय क्या है?

माताजी पर श्रद्धा और पूर्ण समर्पण।

१७-६-१९३३

*

जब साधक रूपांतर की प्रक्रिया में अपनी प्रकृति की किसी कमजोरी

की उपेक्षा करते हैं तब क्या यह संभव नहीं है कि माताजी उस दुर्बलता को उन्हें दिखा दें, बजाय इसके कि विरोधी शक्तियों के कमजोर स्थान पर किये गये दुःखदायी आघात के द्वारा वे उसे जानें?

अगर वे पर्याप्त रूप से माताजी की ओर खुले हों तो ऐसा किया जा सकता है—लेकिन अधिकतर साधकों में बहुत अधिक अहंकार, श्रद्धा का अभाव, अंधता, स्वेच्छा और प्राणिक कामनाएं होती हैं—ये ही चीजें उन्हें माताजी की ओर से बंद कर देती हैं और विरोधी शक्तियों की क्रिया का आवाहन करती हैं।

१७-६-१९३३

*

अज्ञान से संबंधित मानव-प्रकृति के मानसिक और प्राणिक दोषों को तबतक कार्य करने का मौका दिया जाता है—जैसे कि आसुरिक शक्तियों के आक्रमणों और सुझावों को भी अवसर दिया जाता है—जबतक प्रकृति में कोई भी ऐसी चीज रहती है जो इन चीजों का प्रत्युत्तर देती है। यदि माताजी के सामने ये चीजें तुममें उठती हैं तो इसका कारण यह है कि उस समय उनपर एक प्रबल दबाव डाला जाता है जिससे या तो वे निकल जायें या बने रहने के लिये युद्ध करें। इसका उपाय है केवल माताजी की ओर खुलना और अन्य सभी शक्तियों का पूर्ण रूप से और सर्वदा त्याग करना तथा जब वे सबसे अधिक क्रियाशील हों तब उनका सबसे अधिक त्याग करना। बाकी कार्य श्रद्धा, सरलता, अध्यवसाय आदि से पूरा हो जायेगा।

१६-११-१९३२

श्रीमां द्वारा परीक्षा

परीक्षा करने की भावना भी बहुत स्वस्थ भावना नहीं है और उसपर बहुत अधिक जोर नहीं देना चाहिये। भगवान् की ओर से नहीं, बल्कि निम्नतर लोकों की—मानसिक, प्राणिक और भौतिक लोकों की शक्तियों की ओर से परीक्षाएं की जाती हैं और भगवान् उन्हें होने देते हैं, क्योंकि परीक्षा होना अंतरात्मा की शिक्षा का एक अंग है और वह उसे अपने-आपको, अपनी शक्तियों को तथा जिन सीमाओं को उसे पार करना है उनको जानने में सहायता करता है। माताजी प्रत्येक मुहूर्त तुम्हारी परीक्षा नहीं कर रही हैं, बल्कि परीक्षाओं

और निम्नतर चेतना से संबंध रखनेवाली कठिनाइयों की आवश्यकता से परे चले जाने में तुम्हें प्रत्येक मुहूर्त सहायता कर रही हैं। अगर तुम हमेशा उस सहायता के विषय में सचेतन रहो तो वह सभी आक्रमणों के समय—चाहे वे विरोधी शक्तियों के हों या तुम्हारी अपनी निम्नतर प्रकृति के—तुम्हारा सबसे अच्छा रक्षक साबित होगी।

सहायता के लिये की गयी पुकारों का उत्तर देने के लिये माताजी की गुह्य क्रिया

अब अनुभव की बात। निश्चय ही सहायता के लिये की गयी 'अ' की पुकार माताजी तक पहुंची थी, भले ही उसने अपने पत्र में जिन सब ब्योरे की बातों का वर्णन किया है वे सब माताजी के भौतिक मन के सामने उपस्थित न भी हों। इस तरह की पुकारें बराबर माताजी के पास आ रही हैं, कभी-कभी तो एक-पर-एक लगी हुई सैकड़ों आती हैं और सर्वदा ही उत्तर दिया जाता है। इनके अवसर नाना प्रकार के होते हैं, पर चाहे जिस आवश्यकता के कारण पुकार क्यों न की गयी हो, शक्ति उसका उत्तर देने के लिये तैयार रहती है। गुह्य लोक में इस क्रिया का यही सिद्धांत है। यह साधारण मानवीय क्रिया-जैसी कोई चीज नहीं है और जो पुकारता है उसकी ओर से कोई लिखित या मौखिक संदेश भेजने की आवश्यकता नहीं होती; शक्ति को कार्य में प्रवृत्त करने के लिये चैत्य सत्ता द्वारा वार्तालाप करना ही पर्याप्त होता है। फिर यह कोई निर्वैयक्तिक शक्ति नहीं है और एक ऐसी दिव्य शक्ति का सुझाव, जो पुकारनेवाले किसी भी व्यक्ति को उत्तर देने और संतुष्ट करने के लिये तैयार हो, यहां बिलकुल ही संगत नहीं बैठता। यह माताजी की एक व्यक्तिगत चीज है और यदि उनमें यह शक्ति न होती और इस तरह की क्रिया वे न कर सकतीं तो वे अपना काम करने में समर्थ न होतीं; परंतु यह भौतिक स्तर पर की गयी बाहरी व्यावहारिक क्रिया से एकदम भिन्न है; और यद्यपि गुह्य क्रिया और भौतिक क्रिया मिल सकती हैं और मिलती भी हैं और गुह्य क्रिया भौतिक क्रिया को अत्यंत फलप्रद बनाती है तो भी भौतिक स्तर की पद्धतियां निश्चय ही एकदम भिन्न होती हैं। अब सहायता-प्राप्त व्यक्ति को काम करनेवाली शक्ति का बोध न होने की बात लें; अवश्य ही उसका जानना कार्य को फलप्रद बनाने में बहुत अधिक मात्रा में सहायता करता, पर वह जानना अनिवार्य नहीं हो सकता; अगर वह न भी जाने कि कार्य कैसे हुआ है तो भी उसका फल

होगा ही। उदाहरणार्थ, कलकत्ते के तथा दूसरी जगहों के तुम्हारे कार्य में मेरी सहायता तुम्हारे साथ हमेशा थी और मेरी समझ में यह नहीं कहा जा सकता कि वह फलप्रद नहीं थी; परंतु तुम्हें यदि किसी-न-किसी प्रकार इस बात का ज्ञान न भी होता कि मेरी सहायता तुम्हारे साथ है तो भी वह उसी गुह्य स्वभाव की होती और उसका वही परिणाम होता।

२४-३-१९४९

*

रात के एक बजे का समय था जब मेरे भाई ने यंत्रणाकारी पीड़ा की अवस्था में मुझे पुकारा और पूछा कि क्या श्रीअरविन्द उसे स्वस्थ कर सकते हैं। मैंने कुछ प्रसाद-के-फूल निकाले, जो मेरे पास थे, और उनसे उसके रोगाक्रान्त अंग को छुआ। और अहो! पीड़ा मिट गयी और वह ठीक होने लगा। मैं जानना चाहता हूं कि क्या आप इस बात से सचेतन थे और आपने मेरी प्रार्थना सुनी थी।

ऐसे दृष्टान्तों में जो कुछ होता है वह यह है कि जब माताजी किसी व्यक्ति को स्वीकार कर लेती हैं तो वे अपनी सत्ता का कोई अंश उसके पास भेजती हैं और वह व्यक्ति जहां कहीं भी जाये वह अंश उसके साथ रहता है और यहां विराजमान माताजी के साथ सदा संपर्क में रहता है। इसलिये जब वह कोई ऐसी चीज करता है जैसी तुमने श्रद्धा और भक्ति के साथ इस मामले में की तो वह चीज माताजी की उस अंशविभूति के द्वारा जो उस व्यक्ति के साथ होती है उनकी आंतर या बाह्य चेतना में पहुंचती है और उसके बदले में परिणाम पैदा करने के लिये यहां से 'शक्ति' जाती है।

माताजी द्वारा पुकारों को सुनने के बारे में गलत विचार

जब 'क्ष' ने अपनी कठिनाई के बारे में मुझसे शिकायत की तो मैंने उससे कहा कि माताजी की सहायता को पुकार कर इसे दूर किया जा सकता है। परंतु उसने तर्क किया कि उस-जैसी नवागन्तुका की पुकारें माताजी द्वारा सुनी जाने की कोई आशा नहीं। पुराने और समुन्नत साधकों से इतनी अधिक पुकारें माताजी के पास जाती रहती हैं कि उस-जैसी आरम्भकर्त्री साधिका से की जानेवाली नयी पुकारें अरण्य-रोदन-मात्र

होंगी और उस कोलाहल में अनसुनी ही रह जायेंगी। मैंने उत्तर दिया कि यदि हमारी पुकारों के उत्तर में माताजी हमारे पास नहीं आतीं तो उसके लिये अवश्य उनके पास कुछ अपने ही कारण होंगे; और इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि जब वे आयेंगी तो ठहरने के लिये आयेंगी। इस बीच हमारे अंदर श्रद्धा और समता होनी चाहियें और हमें आवश्यक अवस्थाओं की तैयारी करनी चाहिये। संभवतः उनके पास हमारे आदेश के अनुसार कार्य करने की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करने को है, और हम इस बात का आग्रह क्यों करें कि वे वह काम छोड़कर हमारी ओर ध्यान दें? ऐसा कभी सुनने में नहीं आया कि जब किसी के द्वारा सीधे अपने हृदय से सच्ची पुकार माताजी के पास भेजी जाती है तो वे उत्तर देने में चूक जाती हैं, क्योंकि स्वयं पुकार में निहित शक्ति ही सूचित करती है कि वहां माताजी उपस्थित हैं। जब मैंने 'क्ष' से यह बात कही तो मैंने अपने ललाट-केंद्र से एक प्रबल दबाव और स्पंदनों को नीचे की ओर भौंहों के बीच आते अनुभव किया। इसका क्या कारण है?

'क्ष' के तर्क कोई विशेष युक्तियुक्त नहीं; तुम्हारे अधिक अच्छे हैं, यद्यपि सर्वथा निर्दोष नहीं। माताजी भौतिक मन से सीमित नहीं, अतएव चाहे उनके पास "अधिक महत्त्वपूर्ण" कार्य करने को हो फिर भी वह अरण्य से या और कहीं से भी आनेवाली पुकार को सुनने के मार्ग में जरा भी बाधक नहीं होगा। साथ ही, व्यक्तियों पर आध्यात्मिक क्रियाएं उनकी ज्येष्ठता के क्रम से नहीं की जातीं; सो "पुराने व्यक्तियों" की चीख-पुकार उन्हें (किसी और पर क्रिया करने से) क्यों रोके? वे उन सबके साथ, जिन्हें उनकी जरूरत है, रह सकती हैं और रहती ही हैं। इसलिये तुम्हारा यह कहना कि "माताजी नहीं आतीं? नहीं आयेंगी?" कोई विशेष संगत नहीं, पर तुम्हारा बाकी का उत्तर बिलकुल संगत है। माताजी अब भी वहां उपस्थित हैं और तुम्हारे अंदर कार्य भी कर रही हैं, केवल, तुम्हारी आंतर दृष्टि एवं अनुभूति खुली हुई नहीं है और इसलिये तुम उन्हें देख नहीं सकते या अनुभव नहीं कर पाते।

जो कुछ ललाट-केंद्र में उतरा वह था उत्तर, या यूं कहें कि माताजी की उपस्थिति का स्पर्श—उनकी चेतना, उनकी शक्ति जो आंतर मन, आंतर संकल्प, आंतर दृष्टि का केंद्र खोलने के लिये तुम पर कार्य कर रही है और जब वह खुल जाता है तो मनुष्य वह भी देखने और जानने लगता है जो स्थूल आंख

के लिये अदृश्य और ऊपरी मन के लिये अज्ञेय है।

११-१०-१९३५

अचूक सहायता और संरक्षण

'नाम' की शक्ति एवं संरक्षण के विषय में तुम्हें जो अनुभव हुआ वह ऐसे प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव है जिसने ऐसी ही श्रद्धा और निर्भरता के साथ इसका प्रयोग किया है। जो लोग संरक्षण के लिये हृदय से पुकारते हैं उन्हें प्राप्त होने से यह चूक नहीं सकता। किसी बाहरी परिस्थिति को तुम अपनी श्रद्धा को विचलित मत करने दो; क्योंकि सब कुछ को पार कर लक्ष्य तक पहुंचने के लिये इस श्रद्धा से बढ़कर अधिक बल और कोई चीज नहीं देती। ज्ञान और तपस्या का कुछ भी बल क्यों न हो, उनमें धारक शक्ति इससे कम ही होती है—श्रद्धा यात्रा के लिये सबसे मजबूत सहारा है।

माताजी का संरक्षण वहां तुम्हारे ऊपर विद्यमान है और उनका सजग प्रेम भी। उसपर भरोसा रखो और अपनी सत्ता को उसकी ओर अधिकाधिक खुलने दो—तब वह आक्रमणों को परे हटा देगा और तुम्हें सदा थामे रहेगा।

८-१०-१९३६

माताजी के संरक्षण-कार्य करने की शर्तें

समस्त गुह्य शक्तियों को दृष्टि में रखकर तथा मृत्यु और रोग आदि की कुछ शक्तियों से साधकों की रक्षा करने के लिये जिन सब उत्तम अवस्थाओं को उत्पन्न करना संभव है उन सबको ध्यान में रखकर ही माताजी ने एक व्यवस्था की है। पर यह पूर्ण रूप से कार्य नहीं कर सकती, क्योंकि स्वयं साधकों में भोजन तथा उसी तरह की प्राण से संबंध रखनेवाली अन्यान्य भौतिक चीजों के प्रति समुचित मनोभाव नहीं है। पर फिर भी एक प्रकार का संरक्षण है। यदि साधक माताजी की व्यवस्था के बाहर जायें तो वे बस अपनी जिम्मेदारी पर ही जा सकते हैं।... पर यह व्यवस्था केवल आश्रम के लिये है, उन लोगों के लिये नहीं जो आश्रम से बाहर हैं।

१४-७-१९३३

*

क्या यह सच नहीं कि साधक माताजी द्वारा निर्धारित नियमों का पालन इसलिये करते हैं कि उन्हें महसूस होता है कि उनका पालन न करने और माताजी की आज्ञा का उल्लंघन करने से मनुष्य उनके संरक्षण के घेरे से बाहर चला जाता है।

ठीक यही बात है—मनुष्य तुरंत संरक्षण के घेरे से बाहर चला जाता है।

८-६-१९३३

*

सब चाहेंगे कि माताजी का संरक्षण हमारे साथ रहे; पर शायद कुछ शर्तें पूरी करनी होती हैं?

बहुत ही कम लोग ऐसे हैं जो उनके संरक्षण को अपने साथ रहने देते हैं। एक सर्व-सामान्य संरक्षण सभी के चारों ओर विद्यमान है, पर अधिकतर लोग अपने मनोभाव, अपने विचारों या कार्यों से उसके बाहर चले जाते हैं या फिर अन्य शक्तियों के लिये द्वार खोल देते हैं।

२४-८-१९३३

*

इसका कारण यह नहीं है कि माताजी ने अपना संरक्षण हटा लिया है—उन्होंने यह नहीं किया है। अधिक संभव है कि वह (कठिनाई) इस कारण आयी कि तुम अपनी आंतर सत्ता से बहुत अधिक बाहर चले जाते हो और अपने को बहिर्मुखी बना लेते हो। यह अधिक अच्छा है कि तुम फिर भीतर हट आओ और आंतरिक स्थिरता और शांति को प्राप्त करो।

*

यदि माताजी का संरक्षण लोगों के चारों ओर सतत बना रहे तो मैं नहीं समझता कि उन्हें कभी विषाद और संदेह होगा या कोई भी भगवद्-विरोधी वस्तु कभी उनके पास आयेगी।

ये वस्तुएं आने की चेष्टा कर सकती हैं पर ये घुसने या टिकने नहीं पायेंगी।

*

यदि कोई बालक छोटी उम्र में ही यहां आ जाये तो क्या वह उन कठिनाइयों से मुक्त हो जायेगा जो काम-वासना के संग सामान्यतया ही रहा करती हैं?

यह कोई स्वतःसिद्ध सत्य नहीं—यह केवल संभावित है—इस शर्त पर कि वह पूर्ण रूप से माताजी के प्रभाव तले आ जाये, जिन दूसरे साधकों में यह वासना है उनके वातावरण के प्रति अत्यधिक खुला न हो, शुरू की उम्र में ही चलायमान न हो जाये और न ृंगारमय साहित्य पढ़ने आदि के द्वारा अपने को विचलित ही कर ले। ऐसा एक भी बालक नहीं जो अबतक यह सब करने में समर्थ हुआ हो।

८-११-१९३३

दुर्घटनाएं और माताजी का संरक्षण

आज सवेरे 'अ' के साथ मोटर-दुर्घटना हो गयी। क्या माताजी पहले से इस दुर्घटना की संभावना को नहीं देख सकीं और उसे नहीं रोक सकीं? या यह इस कारण घटित हुई कि 'अ' किसी तरह उनके संरक्षण-क्षेत्र से बाहर चला गया था?

दुर्घटना को रोकना संभव नहीं था। जब खतरा आये तब सबसे पहले करने की चीज है माताजी को पुकारना, उससे साधारण संरक्षण तुरत फलप्रद हो जाता है। 'अ' वैसा करने के लिये अनुपयुक्त अत्यंत बहिर्मुखी अवस्था में था और जो करना चाहिये था उसके एकदम विपरीत चीज ही उसने की—मोटर के पीछे जाने के बजाय उसने उसके सामने चले जाने की चेष्टा की। परंतु सच्चा कारण तो बहुत भीतर की चीज थी—यह आंतर सत्ता के किये हुए उन चुनावों में से एक था (अवश्य ही सचेतन मन को मालूम नहीं था) जो प्रत्युत्तर के रूप में इन चीजों को ले आते हैं।

२७-१-१९३६

प्राणलोक में माताजी का संरक्षण

यह प्राणलोक का एक स्वप्न था जहां सब प्रकार के खतरे तबतक आते रहते हैं जबतक तुममें उनका मुकाबला करने का साहस नहीं आ जाता। अगर

तुममें भय न हो अथवा माताजी का संरक्षण हो (जो उन्हें याद करने या पुकारने से प्रकट होता है), तब ये खतरे काफूर हो जाते हैं। तुम्हें पागल लोगों से जो भय था उसीने प्राण में यह चीज उत्पन्न की थी। इस भय की तरह ही इन चीजों को भी प्रकृति से बाहर निकाल फेंकना होगा।

८-९-१९३३

*

तुम्हारी अनुभूति में हुआ यह कि तुम्हारा प्राण-पुरुष माताजी के साथ युक्त होने की अपनी इच्छा के कारण शरीर से मुक्त हो गया (तुम प्राणमय और भौतिक लोक की सीमा पर माताजी से मिले) और शरीर से स्वतंत्र अपना निजी जीवन यापन करने लगा। वह प्राणलोक में प्रविष्ट हुआ और, अब शरीर पर आश्रित न होने के कारण, पहले अपने-आपको निःसहाय अनुभव करने लगा जबतक कि उसने माताजी को नहीं पुकारा। 'अ' का वहां प्रकट होना संभवतः स्वयं 'अ' के प्राण के किसी भाग का प्रकट होना था, पर अधिक संभव है कि उसके रूप में शायद किसी प्राणमय सत्ता का, संभवतः उसी प्राणमय सत्ता का जो उसे परेशान करती रही है, प्रकट होना हो। जब तुम प्राणमय लोक में जाते हो तब बहुत-सी ऐसी चीजों से तुम्हारी भेंट होती है, एकमात्र पर्याप्त संरक्षण है माताजी को पुकारना।

७-९-१९३३

आंतरिक समर्पण के द्वारा कठिनाइयों का त्याग

किसी उपद्रव से छुट्टी पाने के लिये शरीर से माताजी के पास आना अनावश्यक और व्यर्थ है; तुम्हें अंतर में पैठकर उनका आश्रय ग्रहण करना चाहिये और अनुचित क्रिया का त्याग करना चाहिये, जैसा कि इस अवसर पर तुमने स्वयं भी समझा है। शरीर से उनके पास आने पर बस भूल करते रहने और उसे ठीक करने के लिये उनके पास आने की एक आदत-सी पड़ जायेगी और फिर वह, भीतर से कठिनाई को छोड़ देने, उससे समर्पण करा देने के बदले, उसको उन्हीं के ऊपर फेंक देने की अनुचित क्रिया भी उत्पन्न करेगी। वास्तव में एक प्रकार के साधारण समर्पण की आवश्यकता है जो छोटी-छोटी बातों पर होनेवाले इन सब उपद्रवों को, अहंकार, अपने ही दृष्टिकोण पर आग्रह, अपने ही ढंग से चलने का मौका न मिलने अथवा अपनी स्वतंत्रता या महत्त्व को लोगों के

स्वीकार न करने पर होनेवाले क्रोध आदि को रोक सके।

*

आंतरिक एकता ही त्राण करती है, न कि बाह्य समीपता।

१७-११-१९३३

सहायता के लिये श्रीमां को लिखना

'अ' से बातें करके और माताजी को भी लिखकर तुमने अच्छा ही किया। निश्चय ही माताजी ने 'अ' की कठिनाइयों को देखा था। यह ठीक है कि उसकी कठिनाई है एक प्रकार के अबाध उद्‌घाटन का अभाव—अन्यथा वह सब शीघ्र दूर किया जा सकता और धीरे-धीरे आसानी से ही प्रकृति (मन, अहंकार इत्यादि) में आवश्यक परिवर्तन ले आया जाता। लिखना, जैसा कि तुम करते हो, अपने-आपको उद्‌घाटित करने और ठीक-ठीक स्पर्श ग्रहण करने में सहायक होता है। 'अ' का जो यह तर्क है कि माताजी तो जानती ही हैं और इसलिये उन्हें लिखने की कोई आवश्यकता नहीं, वह तभी लागू हो सकता है जब कि श्रीमां और साधक के बीच आदान-प्रदान का एक उन्मुक्त अथवा कम-से-कम, पर्याप्त प्रवाह चल रहा हो, पर, जब कोई गंभीर कठिनाई आ जाये तब वह उतना लागू नहीं होता। स्वभावतः ही हम लोग उसके संघर्ष में उसकी सहायता करने का अधिक-से-अधिक प्रयत्न करेंगे।

१४-५-१९३६

सभी चेष्टाएं माताजी के सामने खोलकर रख देना

तुम्हारे लिये मैं एक नियम निश्चित कर सकता हूं, "ऐसी कोई बात मत करो, कहो या विचारो जिसे तुम माताजी से छिपाना चाहो।" और यह बात उस आपत्ति का उत्तर दे देती है जो "इन छोटी-छोटी बातों" को श्रीमां के ध्यान में ले आने के विरुद्ध तुम्हारे अंदर—तुम्हारी प्राण-सत्ता की ओर से, ठीक है न? —उठायी गयी थी। भला तुम यह क्यों सोचते हो कि माताजी इन सब चीजों के कारण परेशान होंगी अथवा इन्हें नगण्य समझेंगी? अगर 'समस्त' जीवन को ही योग होना हो तो फिर जीवन में ऐसी कौन-सी चीज है जिसे तुच्छ या महत्त्वहीन कहा जाये? अगर माताजी उत्तर न भी दें तो भी तुम्हारे कार्य और

आत्मोन्नति से संबंधित किसी बात को समुचित भाव के साथ उनके सामने रखने का अर्थ है उसे उनके संरक्षण में, सत्य की ज्योति में, रूपांतर के लिये कार्य करनेवाली शक्ति की किरणों के नीचे रख देना—क्योंकि जो बात उनके ध्यान में लायी जाती है उसपर तुरत ही वे किरणें कार्य करना आरंभ कर देती हैं। तुम्हारे भीतर जो चीज वैसा न करने की सलाह देती है जब कि तुम्हारी आत्मा तुमसे उसे कराना चाहती है, वह निश्चय ही प्राण-सत्ता की एक युक्ति होगी जिसके द्वारा वह ज्योति की किरण और शक्ति की क्रिया से बचना चाहती है।

१८-५-१९३२

*

आज मेरे मन में एक विचार आया है: "क्यों तुम प्राणिक सत्ता के नियंत्रण के विषय में अपने ऊपर इतनी जबरदस्ती कर रहे हो? अच्छा हो तुम अपने विचारों और कामनाओं को माताजी के आगे खोलकर रखने की चिंता मत करो; वरंच तुमपर कार्य करना माताजी पर छोड़ दो।"

यदि तुम चाहते हो कि माताजी तुम्हारे अंदर कार्य करें तो तुम्हें अपने विचारों और कामनाओं को उनके सामने रखना और बहिष्कृत करना होगा।

३-९-१९३३

*

माताजी के नाम अपना कल का पत्र पढ़ने पर आज मुझे लगता है मानों वे 'क्ष' और 'य' के बारे में मेरे अशुद्ध विचारों को उनके सामने रखने से कोई विशेष प्रसन्न नहीं हुईं।

तुम्हारे इन बातों के लिखने से माताजी को किसी प्रकार की नाराजगी नहीं होती। यदि कोई ऐसी बातें हों तो उनके बारे में चुप रहने की अपेक्षा उन्हें लिखना ही अधिक अच्छा है।

९-६-१९३३

शरीर को नीरोग करने के लिये माताजी की शक्ति का कार्य

शरीर में निहित शक्ति इस तरह की चीजें नहीं किया करती। माताजी की शक्ति ही ऐसी चीजें करती है, जब कोई उसे पुकारता है और अपने-आपको उसकी ओर खोलता है। जिन लोगों ने कभी योग नहीं किया और किसी चीज के विषय में सचेतन नहीं हैं, वे लोग भी इस तरह, कारण जाने बिना अथवा जिस रीति से उनका रोग ठीक किया गया उसे अनुभव किये बिना, रोगमुक्त हो जाते हैं। शक्ति ऊपर से आती है अथवा अवतरित होते समय वह चारों ओर से घेर लेती है और बाहर से भीतर प्रवेश करती है अथवा भीतर अवतरित होने के बाद भीतर से बाहर आती है। जब तुम शक्तियों के कार्य के विषय में सचेतन होते हो तब तुम क्रिया को अनुभव करते हो।

इसका (जागरण का) मतलब है पीछे से चैत्य पुरुष का सज्ञान कार्य करना। जब यह सामने की ओर आ जाता है तब यह मन, प्राण और शरीर पर छा जाता है और उनकी क्रियाओं को चैत्यभावापन्न बनाता है। यह अभीप्सा करने और निःसंशय होकर माताजी के प्रति पूर्णरूपेण मुड़ जाने और आत्मसमर्पण करने पर सबसे उत्तम रूप में सामने आता है। पर जब आधार तैयार हो जाता है तब कभी-कभी यह स्वयं अपने-आप भी सामने आ जाता है।

५-५-१९३३

*

जब मैं नींद से उठा तो मैंने पाया कि मेरे अंदर सर्दी घुसी हुई है। मेरी चेतना माताजी की शक्ति को उतार लायी और सर्दी गायब हो गयी। अन्य कष्टों के लिये भी मैंने इसी प्रक्रिया का प्रयोग किया। मैं जानना चाहता हूं कि क्या 'शक्ति' के लिये अपनायी गयी विधि बिलकुल ठीक थी या नहीं।

यह बिलकुल ठीक तरीका है। यह बहुत अच्छा है कि तुम 'शक्ति' का प्रयोग करना सीख रहे हो।

२७-८-१९३४

*

यह मेरा एक अनुभूत तथ्य है कि जब शरीर में बहुत प्रबल और सुदृढ़ विरोध

हो तो स्वयं शरीर पर अधिक सीधा कार्य करने के लिये शक्ति के एक यंत्र के रूप में भौतिक साधनों की कुछ सहायता लेना लाभदायक सिद्ध हो सकता है; क्योंकि उस हालत में शरीर यह अनुभव करता है कि वह विरोध का सामना करने में दोनों ओर से, भौतिक तथा अतिभौतिक दोनों साधनों से, सहारा पा रहा है। माताजी की शक्ति एक साथ ही दोनों के द्वारा कार्य कर सकती है।

१-९-१९३६

*

प्राय: पंद्रह दिन से अधिक हुए, प्रत्येक दिन जब मैं प्रणाम के समय माताजी का स्पर्श पाता हूं तब मुझे एक प्रकार के प्रबल पोषण का अनुभव होता है और उसके साथ प्रसन्नता और शक्ति भी मिली होती है, मानों एक नया पदार्थ मेरे भौतिक शरीर तक में ढाला जा रहा हो।

चूंकि तुम अस्वस्थ हो, इसलिये माताजी तुम्हारी भौतिक सत्ता में, उसके सत्त्व को नया बनाने के लिये, दिव्य शक्ति और स्वास्थ्य का पोषक पदार्थ ढालती हैं।

४-११-१९३४

रोग को ठीक करने में माताजी की क्रिया

हाल ही में माताजी के सामने एक रोगी का जो मामला रखा गया था उसमें उनकी क्रिया किस आधार पर आगे बढ़ी?

माताजी ने उस सारे मामले के संबंध में अपने आंतरिक प्रत्यक्ष के आधार पर कार्य किया; वे केवल बाहरी तथ्यों के ही नहीं बल्कि जिस चीज को वे उनके पीछे स्थित अनुभव करती या देखती हैं उसके आधार पर कार्य करती हैं।

२९-८-१९३५

*

'क्ष' का अपनी कटि-संधि-पीड़ा के विषय में मुझे लिखा गया पत्र मैंने उसी दिन नहीं अगले दिन माताजी को भेजा। तो भी 'क्ष' के बिलकुल नये पत्र से जान पड़ता है कि उसका दर्द मुझे वह पत्र पहुंचने के तुरत बाद ही दूर हो गया था। क्या उस पत्र का विषय माताजी को बताये

जाने से पहले ही उसका आप-से-आप परिणाम उत्पन्न हो गया था?

'य' ने उसी दिन 'क्ष' के दर्द के बारे में माताजी को बताया था—इसलिये स्वयं पत्र का आप-से-आप परिणाम उत्पन्न होने की कल्पना करने की जरूरत नहीं। किंतु, ऐसा स्वतः-प्रवृत्त परिणाम प्रायः ही या तो पत्र लिखने के तुरंत बाद या उसके माताजी के वायुमण्डल में प्रवेश करने पर अवश्यमेव पैदा होता है।

११

कतिपय स्पष्टीकरण

श्रीमाताजी के चक्र का तात्पर्य

मैं प्रायः श्रीमाताजी के चक्र और उसके अर्थ के विषय में सोचता रहा हूं। मैंने इसे इस प्रकार समझा है :
मध्य का वृत्त—परात्पर शक्ति।
चार भीतरी दल—अतिमानस से अधिमानस तक कार्य करनेवाली चार शक्तियां।
बारह बाहरी दल—अधिमानस से संबोधि और मन तक उन चार शक्तियों का बारह शक्तियों में विभाग।
क्या आपके विचार में मैंने ठीक-ठीक अर्थ समझा है?

मूलतः (साधारण मूलतत्त्व में) १२ शक्तियां वे स्पंदन हैं जो अभिव्यक्ति के लिये आवश्यक हैं। ये बारह आरंभ से ही श्रीमाताजी के सिर के ऊपर देखी गयी हैं। इस तरह वास्तव में सूर्य से निकलनेवाली १२ किरणें हैं ७ नहीं। ग्रह आदि भी १२ हैं इत्यादि। शक्तियों के ब्योरे का ठीक-ठीक अर्थ करने का जहांतक संबंध है, मैं कोई ऐसी चीज नहीं देखता जो तुम्हारे बताये हुए क्रम के विरुद्ध हो। यह अर्थ अच्छी तरह लग सकता है।

१५-४-१९३४

माताजी की ध्वजा का तात्पर्य

नीली ध्वजा के विषय में। मैं माने लेता हूं कि तुम्हारा मतलब सफेद कमल-वाली ध्वजा से है। यदि ऐसा है तो वह माताजी की ध्वजा है, क्योंकि सफेद कमल उनका प्रतीक है जैसे लाल कमल मेरा। ध्वजा का नीला रंग श्रीकृष्ण के रंग के रूप में अभिप्रेत है और इसलिये आध्यात्मिक या दिव्य चेतना का द्योतक है जिसे स्थापित करना माताजी का कार्य हैं ताकि वह भूतल पर शासन कर सके। इस ध्वजा को आश्रम की ध्वजा के रूप में प्रयुक्त करने का अर्थ यह है कि हमारा कार्य इस चेतना को उतारना और इसे संसार के जीवन की नेत्री बनाना है।

१४-३-१९४९

श्रीमां के लिये जीवन की शक्तियों को जीतना

इस योग का उद्देश्य जीवन की शक्तियों का त्याग करना नहीं है, बल्कि एक आंतरिक रूपांतर ले आना और जीवन-संबंधी अपने मनोभाव और शक्तियों के व्यवहार में परिवर्तन ले आना ही इसका उद्देश्य है। ये शक्तियां अभी अहंकार-पूर्ण भाव में और भगवद्विरोधी उद्देश्यों के लिये व्यवहृत होती हैं; इनका व्यवहार भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण के भाव के साथ और भागवत कार्य के उद्देश्य से करना होगा। श्रीमां के लिये इन्हें फिर से जीतने का तात्पर्य यही है।

योगशक्ति के सहायक के रूप में बाह्य साधनों का प्रयोग

निःसंदेह, व्यक्ति को इन बाह्य साधनों का प्रयोग करना ही होगा और इस विषय में व्यक्ति को सावधान भी रहना होगा ताकि यथासंभव अधिक-से-अधिक साधन उसके पक्ष में हों और उसकी ओर से विरोधी शक्ति को यथासंभव कम-से-कम सुयोग मिले। परंतु हमारे लिये किसी भी बाहरी क्रिया की सफलता तबतक सुनिश्चित नहीं हो सकती जबतक उसके पीछे बढ़ती हुई यौगिक दृष्टि और यौगिक शक्ति न हो।

स्वयं हमारे सामने बाहर से भीषण कठिनाइयां आयी हैं, पेरिस-स्थित उपनिवेश-मन्त्री को हमारे विरुद्ध अर्जियां भेजी गयीं और यहां के गवर्नर से रिपोर्ट मांगी गयी जिसपर यदि कार्रवाई की जाती तो आश्रम भीषण संकट में पड़ जाता।

हमने बहुत हल्के और सादे ढंग के बाहरी साधनों का प्रयोग किया, अर्थात् माताजी के भाई (फ्रांस-शासित विषुवदीय अफ्रीका के गवर्नर) को (और फ्रांस के एक अग्रगण्य लेखक, हमारे एक शिष्य को भी) प्रेरित किया कि वे फ्रांस के मन्त्रिमण्डल और हमारे बीच मध्यस्थता करें, परंतु औपनिवेशिक कार्यालय की कार्रवाई को निर्धारित करने के लिये, यहां के गवर्नर से अनुकूल रिपोर्ट प्राप्त करने के लिये, यहां जो कुछ-एक लोग हमारे विरुद्ध थे उनके मनों को बदलने के लिये तथा दूसरों की शत्रुता को विफल करने के लिये मैंने अधिकतर तो एक प्रबल आंतरिक 'शक्ति' का ही प्रयोग किया। इन सब विषयों में मुझे सफलता प्राप्त हुई और यहां हमारी स्थिति पहले से अधिक दृढ़ हो गयी है; विशेषकर यह कि एक नया और अनुकूल गवर्नर यहां आ गया है फिर भी हमें सजग रहना है ताकि स्थिति फिर से संकटग्रस्त न हो जाये। साथ

ही इस सबके परिणाम-स्वरूप एक हानि भी हुई है,—हमसे कहा गया है कि हम अब और अधिक घर न खरीदें, न ही किराये पर लें, बल्कि इसके स्थान पर अपने घर बनवायें। यह भूमि और अधिक धन के बिना कठिन ही है, अतः इस समय हम आश्रम का विस्तार करने में असमर्थ हैं।

परंतु कुछ अंशों में यह कोई हानि नहीं, क्योंकि दीर्घकाल से मेरी यह इच्छा रही है कि और अधिक विस्तार को स्थगित करके आश्रम के आंतरिक जीवन को अधिक पूर्ण रूप से आध्यात्मिक अर्थ में सुदृढ़ किया जाये।

यह सब मैंने इस बात के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है कि यौगिक दृष्टिकोण से वस्तुओं के साथ कैसे निपटना होता है।

२०-३-१९३५

भौतिक विस्तार और आंतरिक प्रगति

क्या माताजी का अधिक घर लेते जाना उनके कार्य की प्रगति का चिह्न है?

यह तो भौतिक विस्तार का चिह्न है। प्रगति उस चीज पर निर्भर करती है जो इसके पीछे है; यदि आंतरिक प्रगति वहां न हो तो भौतिक विस्तार का कोई अधिक प्रयोजन नहीं।

७-७-१९३३

व्यापार तथा आध्यात्मिक लाभ

अगर तुम माताजी को रुपया दो तो वह कार्य 'व्यापारिक' नहीं बन सकता; व्यापार में व्यक्तिगत लाभ की भावना होती है, और यहां तुम्हारा लाभ केवल आध्यात्मिक है।

२-४-१९४४

माताजी और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति

श्रीमाताजी बहुमूल्य और सुन्दर कपड़े क्यों पहनती हैं?

क्या तुम्हारी धारणा यह है कि पृथ्वी पर दरिद्रता और कुरूपता के द्वारा ही भगवान् का प्रतिनिधित्व होना चाहिये।

सौन्दर्य भी ठीक उतने ही अंश में भगवान् का एक प्रकाश है जितने अंश में ज्ञान, शक्ति या आनंद। भला कोई यह प्रश्न भी करता है कि श्रीमाताजी ज्ञान या शक्ति के द्वारा क्यों भागवत चेतना को अभिव्यक्त करना चाहती है, अज्ञान और दुर्बलता के द्वारा क्यों नहीं करतीं? यह प्रश्न उनके कलापूर्ण और सुन्दर कपड़े पहनने के विरुद्ध उठाये हुए प्राणपुरुष के प्रश्न से अधिक मूर्खतापूर्ण या अर्थहीन न होगा।

२७-२-१९३३

चाहे माताजी सुन्दर साड़ियां पहनें या मामूली, चाहे महल में रहें या जंगल में, इससे क्या उनकी चेतना में कोई अन्तर पड़ता है? भला आंतरिक सद्वस्तु में ये बाहरी चीजें क्या जोड़ सकती हैं? संभवतः उसे घटाने का ही कारण बनती होंगी।

बाहरी चीजें आंतर सद्वस्तु के अंदर की ही किसी चीज की अभिव्यक्ति होती हैं। सुन्दर साड़ी या महल वस्तुओं में विद्यमान सौन्दर्य-तत्त्व की अभिव्यक्तियां हैं और यही उनका प्रधान मूल्य है। भागवत चेतना इन सब चीजों से बंधी हुई नहीं है और न उसमें कोई आसक्ति है; परंतु यदि वस्तुओं में विद्यमान सौंदर्य भी उसके अभीप्सित कर्म का अंग हो तो वह इन सब चीजों से विरत होने के लिये भी बाध्य नहीं है। जब आश्रम अभी बना नहीं था तब माताजी पैबन्द लगी हुई सूती साड़ियां पहनती थीं। जब उन्होंने काम का भार लिया तब यह आवश्यक हो गया कि वे अपनी आदतों को बदलें और इसीलिये उन्होंने ऐसा किया।

२२-१०-१९३५

अतिमानस में निवास और संसार में रुचि

क्या माताजी के लिये या किसी के लिये भी यह किसी प्रकार संभव भी है कि वह 'अधिमानस' में ऊपर या फिर नीरवता में ही निवास करते हुए संसार में किसी प्रकार की दिलचस्पी लें, क्योंकि संसार तो वहां से धूलि का एक कणमात्र अनुभूत होगा।

यह पूर्णतया इस पर निर्भर करता है कि किस आधार पर व्यक्ति नीरवता में या उससे ऊपर निवास करता है। 'भागवत चेतना' की तो धूलि-कण में भी उतनी रुचि हो सकती है जितनी अनन्तता में।

८-८-१९३४

प्रफुल्लता और यौगिक प्रसन्नता

प्रफुल्लता और निश्चिंतता का जहांतक प्रश्न है—हलका 'परवाह नहीं' वाला मनोभाव वह अंतिम चीज है जिसे रखने की सलाह हम किसी को देंगे। माताजी ने तो प्रसन्नता की बात कही थी, और अगर उन्होंने 'लाइट-हार्टेड' (मामूली हंसी-खुशी) शब्द का व्यवहार भी किया हो तो उससे उनका मतलब कोई हलकी या निर्बोध प्रफुल्लता और निश्चिंतता नहीं था—यद्यपि एक गम्भीरतर और सूक्ष्मतर प्रफुल्लता को यौगिक स्वभाव के एक अंग के रूप में स्थान प्राप्त हो सकता है। उनका मतलब था कठिनाइयों के सामने भी प्रसन्नतापूर्वक समत्व का भाव बनाये रखना और इसमें यौगिक शिक्षा या उनके अपने अभ्यास के विरुद्ध कोई बात नहीं है। ऊपरी सतह पर प्राण-प्रकृति (सच्ची प्राण-प्रकृति की गहराइयां भिन्न प्रकार की होती हैं) एक ओर तो हंसी-खुशी और भोग से और दूसरी ओर दुःख, निराशा, उदासी और दुर्घटना से आसक्त होती है,—क्योंकि ये ही उसके लिये जीवन के अभीप्सित प्रकाश और अंधकार हैं; परंतु उज्ज्वल या विशाल और मुक्त शांति या आनंदमय तीव्रता या, सबसे उत्तम, इन दोनों का एक में घुल-मिल जाना ही योग में अंतरात्मा और मन दोनों की —और सच्चे प्राण की भी—सच्ची स्थिति है। एकदम मानव साधक के लिये भी ऐसी स्थिति को प्राप्त करना पूर्ण रूप से संभव है, इसे प्राप्त करने से पहले किसी को दिव्य होने की आवश्यकता नहीं है।

सच्चा प्रेम और ईर्ष्या

केवल एक बात मुझे यहां अवश्य लिखनी होगी जिससे तुम्हारी बुद्धि में कहीं कोई भ्रांत भावना न बनी रह जाये। एक चिट्‌ठी के एक अंश में तुमने शायद ऐसा कहा है कि माताजी ने तुमसे यह कहा था कि साधारण जीवन में सच्चे प्रेम के अंदर ईर्ष्या का होना अनिवार्य है और अगर एक को दूसरी जगह प्रेम करते हुए देखने पर दूसरे में ईर्ष्या न हो तो फिर इसका मतलब है कि वे एक-

दूसरे को प्रेम नहीं करते। निश्चय ही तुमने माताजी की बात को सुनने और समझने में अपूर्व ढंग की भूल की होगी। इस विषय में माताजी ने जो कुछ बराबर कहा है और जैसा उनका विचार रहा है उसके ठीक विपरीत यह बात है और उनके समूचे ज्ञान और अनुभव के एकदम विरुद्ध है। यह तो ईर्ष्या और प्रेम के विषय में साधारण मन की भावना है, उनकी नहीं। उन्हें अच्छी तरह याद है कि उन्होंने ठीक इसके विपरीत तुमसे यह कहा था कि साधारण जीवन में भी, यदि मनुष्य में सच्चा प्रेम हो तो, वह ईर्ष्या नहीं करता। मनुष्य के अहंकारपूर्ण निम्न प्राण में अपनी पसंद की चीजों या व्यक्तियों को पकड़ रखने और अधिकृत कर रखने की एक सहजवृत्ति होती है और उसी निम्न प्राण की एक साधारण क्रिया है ईर्ष्या, इससे भिन्न यह और कोई चीज नहीं हो सकती। यहां पर मैंने इस बात को स्पष्ट कर देना इसीलिये अधिक अच्छा समझा कि तुम्हारे अंदर इस बात के विषय में कोई भ्रांत धारणा न रह जाये कि निम्नतर प्राण-प्रकृति की ऐसी क्रियाओं को अंतरात्मा के सत्य के अंदर कोई अनुमति या आधार नहीं मिला करता; उनका संबंध प्राणगत अज्ञान से होता है और वे प्राणगत अहंकार के परिणाम होती हैं।

१-२-१९३३

प्राणिक प्रेम की स्तुति करने की भूल

प्राणिक प्रेम का जादू कैसा भी क्यों न हो, जब एक बार वह झड़ जाये और मनुष्य एक अधिक ऊंचे स्तर पर पहुंच जाये तो उसे प्राणिक प्रेम को यों देखना चाहिये कि वह कोई वैसी महान् वस्तु नहीं थी जिसकी उसने कल्पना की थी। उसका यह अतिरंजित मूल्यांकन अपने मन में बनाये रखने का अर्थ है अपनी चेतना को उस महत्तर वस्तु की ओर आकर्षण से रोके रखना जिसकी तुलना में प्राणिक प्रेम एक क्षण भी नहीं टिक सकता। यदि कोई मनुष्य एक घटिया अतीत के लिये इस प्रकार का तीव्र उत्साह बनाये रखे तो वह उत्साह निश्चय ही समग्र व्यक्तित्व को उच्चतर भविष्य के लिये विकसित करने के कार्य को अधिक कठिन बना देगा। निःसंदेह माताजी यह नहीं चाहतीं कि कोई व्यक्ति पीछे मुड़कर पुराने प्राणिक प्रेम की ओर उत्साहपूर्ण सराहना के भाव से दृष्टि डाले। सचमुच, वस्तुओं के किसी भी यथार्थ मूल्यांकन में वह "इतना तुच्छ" है। यह दो व्यक्तियों के प्राणिक रागावेश की तुलना का या उनमें से एक के रागावेश को तुच्छ बताकर दूसरे के रागावेश की अतिशय

सराहना करने का प्रश्न बिलकुल ही नहीं है। इस सारी-की-सारी चीज को ही क्षीण होकर नगण्य हो जाना होगा और भूतकाल की उन छायामय रचनाओं के गर्भ में विलीन हो जाना होगा जिनका अब कोई महत्त्व ही नहीं।

१९३४

यौन क्षुधा को भोग के द्वारा मिटाने का भ्रामक विचार

इस विचार के संबंध में सचाई तुम्हें माताजी पहले ही बता चुकी हैं। यह विचार कि यौन लालसा का पूरी तरह उपभोग करने से वह समाप्त हो जायेगी और सदा के लिये मिट जायेगी, प्राण के द्वारा अपनी कामना के लिये अनुमति पाने को मन के सामने रखा गया भ्रामक बहाना ही है; इसके अस्तित्व का और कोई कारण या सत्य या औचित्य नहीं। यदि कभी-कभी किया गया उपभोग यौन तृष्णा को खदबदाता रखता है तो पूर्ण उपभोग तो तुम्हें केवल उसकी दलदल में ही फंसा देगा। दूसरी भूखों की तरह यह भूख भी क्षणिक तृप्ति से मिटती नहीं; कुछ देर रुकी रहकर यह फिर जग उठती है और पुनः उपभोग चाहती है। न तो तर माल और न आकण्ठ उपभोग ही इसका ठीक इलाज हैं। यह तो बस मिट सकती है एक आमूल चैत्य परित्याग या पूर्ण आध्यात्मिक उद्‌घाटन से जिसके साथ एक ऐसी चेतना का अधिकाधिक अवतरण हो जो इसे नहीं चाहती और जिसके पास अधिक सच्चा आनन्द है।

२३-४-१९३७

समुचित अभिव्यक्ति के लिये श्रीमां की स्वीकृति

तुम यह क्यों समझते हो कि माताजी अभिव्यक्ति के लिये स्वीकृति नहीं देतीं —बशर्ते कि वह समुचित चीज की समुचित अभिव्यक्ति हो,—अथवा यह क्यों मान लेते हो कि निश्चल-नीरवता और सच्ची अभिव्यक्ति परस्पर विरोधी चीजें हैं? सच पूछा जाये तो सबसे सच्ची अभिव्यक्ति अखण्ड आंतर निश्चल-नीरवता में से ही आती है। आध्यात्मिक निश्चल-नीरवता महज शून्यता—खालीपन ही नहीं है; और न उसे पाने के लिये समस्त क्रियाकलाप से दूर हटना ही अनिवार्य है।

माताजी द्वारा भारतीय संगीत का मूल्यांकन

तुम्हारे इस विचार से अधिक विचित्र भला और कौन-सी बात हो सकती है कि माताजी केवल यूरोपियन संगीत पसंद करती हैं और भारतीय संगीत को न तो पसंद करती हैं न उसे कोई मूल्य देती हैं—वह या तो उसे पसंद करने का महज दिखावा करती हैं या उसे यों ही होने देती हैं जिससे लोग निरुत्साहित न हों! याद रखो कि ये माताजी ही हैं जिन्होंने बराबर तुम्हारे संगीत की प्रशंसा की है और उसका समर्थन किया है और तुम्हारे पीछे अपनी शक्ति प्रयुक्त की है जिससे कि तुम्हारा संगीत आध्यात्मिक परिपूर्णता और सौन्दर्य की ओर विकसित हो। मैंने केवल तुम्हारे काव्य में और उसकी बारीकियों में सबसे अधिक तुम्हें सहायता दी; माताजी केवल साधारण शक्ति के द्वारा ही उसमें सहायता दे सकीं, क्योंकि वे मूल कविताओं को नहीं पढ़ सकती थीं (यद्यपि अनुवाद में उन्हें वे बहुत सुन्दर लगीं), पर संगीत में बात ठीक इसके विपरीत हुई है। निश्चय ही तुम यह नहीं कह सकते कि इन सब बातों को तुमने अनुभव नहीं किया। और 'अ' के विकास की बात? वह भी भारतीय संगीत था, यूरोपियन नहीं। और फिर मैं जब तुम्हारे संगीत की प्रशंसा तुम्हें लिखता हूं तब क्या तुम यह समझते हो कि मैं केवल अपनी ही राय प्रकट करता हूं? अधिकांश समय हम दोनों के भावों को प्रकट करने के लिये मैं केवल उन्हीं के शब्दों का व्यवहार करता हूं।

२०-१२-१९३२

माताजी का संगीत

माताजी के संगीत को प्रायः ही 'अ' ने इस या उस राग का भारतीय संगीत बतलाया है। माताजी के भीतर से जो कुछ आता है उसे ही वे बजाती हैं—वे साधारणतया कोई निश्चित रूप से तैयार किया हुआ यूरोपियन या भारतीय राग नहीं बजातीं—भारतीय संगीत तो वास्तव में उन्होंने कभी सीखा ही नहीं है।

११-९-१९३४

*

माताजी ने बचपन से लेकर बड़ी होने तक गाना-बजाना किया है—इसलिये

कई बार गाने या बजाने में उन्हें कोई तकलीफ नहीं होती।

१५-९-१९३३

*

संगीत के पीछे क्या है यह समझने के लिये संगीत-कला का ज्ञान होना जरूरी नहीं है। अवश्य ही माताजी संगीत-कला का प्रभाव उत्पन्न करने के लिये नहीं, बल्कि उच्चतर लोकों से कुछ चीजें नीचे उतार लाने के लिये बाजा बजाती हैं और कोई भी आदमी, जो खुला है, उसे ग्रहण कर सकता है।

१५-९-१९३३

*

(माताजी के संगीत की) समझ संगीत के ज्ञान से नहीं आती; न वह मन के प्रयत्न से ही आती है—वह आती है अंदर से निश्चल-नीरव बनने से, भीतर खुलने और उनके संगीत में जो कुछ है उसकी स्वयंस्फूर्त अनुभूति प्राप्त करने से।

१९३२

*

हां। यह सब बिलकुल सच है। माताजी संगीत में प्रार्थना या आवाहन ही करती हैं।

१-६-१९३५

*

क्या यह सच है कि जब माताजी 'ऑरगन' बजाती हैं तब वे हमारी सहायता करने के लिये उच्चतर लोकों के देवताओं का नीचे आवाहन करती हैं?

सचेतन रूप में नहीं।

९-२-१९३४

*

क्या इसका मतलब यह है कि देवता उनके संगीत से आकर्षित होते और नीचे उतर आते हैं?

वे आकर्षित हो सकते हैं।

१०-२-१९३४

*

क्या बाजा बजाते समय माताजी कोई चीज प्रकट करती हैं?

अगर वे कोई चीज नहीं प्रकट करतीं तो भला वे बाजा बजायें ही क्यों?

१९-४-१९३४

संगीत और महालक्ष्मी

आज के संगीत के समय 'क्ष' और 'य' के गीत सुनने का मुझ पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि मेरे मन में प्रश्न उठा—क्या यह माताजी का महालक्ष्मी-पक्ष है जो इन दिनों काम कर रहा है?

संगीत के दिनों में सदा-सर्वदा महालक्ष्मी-पक्ष ही सर्वप्रधान होता है।

२५-१२-१९३३

एक रोमांचक अनुभव

जब मैंने माताजी को "Prières et Méditations" ("प्रीएर ए मेदितासियों"—"प्रार्थना और ध्यान" मूल फ्रेंच में) पढ़ते सुना तो मेरा शरीर रोमांचित हो उठा। कैसे?

जब एक तीव्र 'शक्ति' बाहर की ओर प्रकट की जाती है तो वह स्वभावतः ही उसे ग्रहण करनेवाले लोगों में पुलक पैदा करेगी।

कला और परम्परा

माताजी 'क्ष' के चित्रों को विकराल और दानवी अनुभव करती हैं, वे उन्हें कला के नाम से गौरवान्वित नहीं करना चाहतीं। परंतु यह इसलिये नहीं कि वे परम्परा से दूर हट गये हैं। माताजी परम्परा में विश्वास नहीं करतीं—वे

मानती हैं कि 'कला' को सदा ही, नये रूपों का विकास करना चाहिये—किंतु फिर भी यह आवश्यक है कि ये रूप 'सौन्दर्य' के एक सत्य के अनुरूप हों जो सार्वभौम और सनातन है, भगवान् का ही एक अंश है। जहांतक तुम्हारे चित्र का प्रश्न है, उसे वे भावव्यञ्जक पाती हैं। उन्हें तुरंत अनुभव हो गया कि उसका क्या अर्थ है—अतः 'य' की आलोचना नहीं टिक सकती।

८-१२-१९३३

कला में ठीक प्रभावों के सम्पर्क में रहने का महत्त्व

एक समय माताजी ने तुमसे कहा था कि अपनी मानवाकृति के चित्रों में तुम ठीक 'प्रभाव' के संपर्क में नहीं प्रतीत होते और तुमने कहा था कि तुम्हें 'प्रकृति' में विद्यमान शाश्वत 'सौन्दर्य' के साथ तो सम्पर्क अनुभूत होता है पर मानवाकृति के संबंध में तुम्हें वैसा संपर्क प्राप्त नहीं। अतएव, अब क्योंकि तुम योग का अभ्यास कर रहे हो और केवल ठीक 'प्रभावों' के साथ ही सम्पर्क स्थापित करना तुम्हारे लिये अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, यह अधिक अच्छा होगा कि तुम फिलहाल मानव आकृति और छवि के साथ सरोकार मत रखो। योग में वह चीज भी, जो मन को एक छोटी-सी ब्योरे की बात प्रतीत हो सकती है, उन वस्तुओं का द्वार खोल सकती है जिनके चेतना पर प्रबल प्रभाव पड़ते हैं और जो उसके सामंजस्य को अस्तव्यस्त कर देती हैं या अन्तःप्रेरणा, अन्तर्दर्शन और अनुभव के मूलस्रोतों में हस्तक्षेप करती हैं।

१९३३

फ्रेंच का ज्ञान और माताजी के साथ घनिष्ठता

क्या यह कहना ठीक है कि जो फ्रेंच जानते हैं वे भविष्य में माताजी की सेवा अधिक अच्छे रूप में कर सकेंगे?

यह अधिकांश में माताजी के एक अंश के साथ एक प्रकार की घनिष्ठता उत्पन्न करता है।

३-५-१९४५

माताजी की पुस्तकें पढ़कर उनकी चेतना के साथ एकात्मता प्राप्त करना

जब मैं माताजी की 'प्रार्थनाएं' और 'वार्तालाप' पढ़ता हूं तब मैं अनुभव करता हूं मानों मैं माताजी की चेतना के संपर्क में आ जाता हूं। इससे मेरे मन में यह विचार उठता है कि क्या यह संभव है कि उनकी पुस्तकें पढ़कर मनुष्य अपनी चेतना को इतना तीव्र बना ले कि वह उनकी चेतना के साथ एक हो जाये और उसके फलस्वरूप प्राण और दूसरे अंग भी उन्नत हो जायें?

जो कुछ तुम पढ़ते हो उसकी सहायता से माताजी की चेतना के साथ अपने-आपको तीव्र भाव से एक कर देना संभव है—उस हालत में जिस परिणाम की बात तुम लिखते हो वह आ सकता है। उसका प्रभाव एक हद तक प्राण पर भी पड़ सकता है।

२१-८-१९३५

गुरु, भगवान् और अवतार

तुमने मुझे जो तीन पत्र भेजे थे उनमें से गुजरने का मुझे बिलकुल अभी ही समय मिला है। अवश्य ही, 'क्ष' को Conversations (कन्वर्सेशन्स) पुस्तक मिल सकती है। तुम्हारा दूसरा मित्र जो चीज पाना चाहता है उसे, यहां आये बिना, जहां वह है वहीं ग्रहण कर सकना उसके लिये सर्वथा संभव है यदि उसके हृदय में माताजी के प्रति भक्ति है और है तीव्र पुकार।

अब अवतार के प्रश्न के संबंध में। मैं नहीं समझता कि इस विषय में आग्रह करना लाभदायक होगा। गुरु को अवतार मानने की लोगों की, बहुत ही अधिक, एक प्रवृत्ति बन चुकी है, विशेषकर बंगाल में। प्रत्येक शिष्य के लिये गुरु भगवान् ही होता है, पर एक विशेष अर्थ में—क्योंकि यह माना जाता है कि गुरु भागवत चेतना में रहता है, उनके साथ एकत्व प्राप्त कर चुका है, और जब वह शिष्य को कुछ देता है तो भगवान् ही वह चीज देता है और जो चीज वह देता है वह है भगवान् की चेतना जो भगवान् गुरु के भीतर हैं। परंतु यह चीज और अवतारवाद दो अलग-अलग वस्तुएं हैं। वे महापुरुष जिनका, अवतार कहकर, जयजयकार किया गया, हाल में तो अधिकतर पूर्वी बंगाल में ही आविर्भूत हुए हैं; जिनका भी आविर्भाव हुआ उनमें से प्रत्येक को उस कार्य

की धारणा थी जो जगत् के लिये करना था और थी यह अनुभूति कि एक भागवत शक्ति उनके द्वारा कार्य कर रही है। यह बात दिखलाती है कि वहां अभिव्यक्ति के लिये दबाव था और प्रत्येक दृष्टान्त में ही कोई चीज अभिव्यक्त हुई, क्योंकि जब भी भागवत शक्ति को पुकारा जाता है तो उसकी कोई कला सदा ही आती है, परंतु ऐसा नहीं दीख पड़ता कि कहीं भी पूर्ण अवतरण हुआ हो। इसी चीज ने इस धारणा को जन्म दिया होगा कि वहां अवतार का जन्म हो गया है। अब जो 'आविर्भाव' होने को है उसके विषय में सदैव यह कहा गया है कि ऐसे बहुत-से लोग होंगे जिनमें यह लगेगा कि वह हो गया है, किंतु वास्तविक अवतार तबतक पर्दे के पीछे कार्य करता रहेगा जबतक विधि-नियत घड़ी नहीं आ जाती।

जिसे तुमने अपने गुरु का कहा हुआ वचन कहकर उद्धृत किया है उससे मुझे यह ग्रहण नहीं होता कि उनका दावा था कि मैं अवतार हूं। मुझे लगता है कि उनका दावा था कि मैं एक भागवत शक्ति हूं जो भगवती माता के कार्य के लिये मार्ग प्रशस्त कर रही है और साथ ही उन्होंने दावे के साथ यह निर्देश भी दिया कि वे जो कुछ भी करना चाहते थे वह सब उनके अपने अनुयायियों द्वारा ही नहीं बल्कि अन्य सम्प्रदाय के लोगों द्वारा भी अभिव्यक्त किया जायेगा, जो सम्प्रदाय स्पष्टतः ही उन लोगों से संघटित होगा जिनके गुरु वे नहीं रहे वरन् कोई अन्य अध्यक्ष एवं आचार्य थे। यह भी उनके इस कथन से सम्पुष्ट होता है कि संभवतः उनके शिष्यों से भिन्न कोई और उनके 'प्रकाश' का यन्त्र बनेगा--अर्थात् उनके कार्य को चलाते रहने और श्रीमां की अभिव्यक्ति में सहायता करने का साधन बनेगा। यदि इसका अर्थ यह हो कि उन्होंने घोषित किया कि मैं अवतार हूं तो मैं नहीं देख पाता कि यह उस दूसरे कथन से कैसे मेल खा सकता है कि उनके देह त्यागने के बाद अवतार उनके बनाये आश्रम में आयेगा।

मुझे पूरी तरह से ज्ञात नहीं कि 'अयोनिसम्भव' से क्या अभिप्रेत है। अवतार सदा मानवीय माता के द्वारा होता है, यद्यपि दो-एक ऐसे अवतार भी हुए हैं जिनके अक्षतयोनि कुमारी से जन्म ग्रहण करने की घोषणा की गयी है (ईसा और बुद्ध)। यदि हम एक अभूतपूर्व चमत्कार की ही कल्पना करें तो दूसरी बात है, नहीं तो 'अयोनिसंभव' का एकमात्र दूसरा अर्थ हो सकता है एक ऐसा अवतरण जैसा कभी-कभी हुआ करता है, अर्थात् परमेश्वर किसी ऐसे मानव में अभिव्यक्त हो जायें जो जन्म के समय 'विभूति' था, पूर्ण अवतार नहीं। परंतु स्वयं तुम्हारे गुरु के किसी स्पष्ट वक्तव्य के अभाव में ये सब केवल कल्पनाएं ही हैं।

तुम्हारे प्रश्न के उत्तर में मैंने इतना अधिक लिख डाला है, पर मुझे संदेह है कि इसका कोई भी अंश अपने मित्रों को लिख भेजना तुम्हारे लिये आवश्यक या उचित है। इस विषय में उनके हृदय का अपना निजी भाव है; उसे आलोड़ित न करना या उसमें खलबली न पैदा करना ही मुझे अधिक अच्छा लगता है।

२५-८-१९३५

माताजी का विगत जन्मों की बातें कहना

माताजी केवल तभी लोगों से उनके पुराने जन्मों की बातें कहती हैं जब वह ध्यान के द्वारा निश्चित रूप में उनके गत जन्मों का कोई दृश्य या स्मृति देखती हैं, परंतु आजकल ऐसा बहुत कम होता है।

३०-६-१९३३

*

माताजी साधारणतया अतीत जीवनों के भीतर दृष्टिपात नहीं करतीं; जब अतीत से कोई चीजें स्वयमेव उनके सामने आती हैं तब ही वे उन्हें देखती हैं।

२४-७-१९३४

मृत व्यक्तियों से मुलाकात

जब माताजी ने यह कहा था कि मृत व्यक्तियों से मिलने की चेष्टा करना अच्छा नहीं है तब उन्होंने यह बात आध्यात्मिक दृष्टि से कही थी जिसका पता साधारणतया प्रेतात्मवादियों को नहीं होता या जिसका वे कोई ख्याल नहीं करते।

२५-८-१९३६

दिवंगत आत्माओं को सहायता

क्या कोई ऐसा संकेत आपको प्राप्त हुआ जिससे आपको पता चला हो कि मेरे भाई की आत्मा सचमुच में अपने अंतकाल में माताजी की और गुरुदेव की ज्योति की शरण में आना चाहती थी?

माताजी विशिष्ट रूप से नहीं कह सकतीं क्योंकि कितने ही लोग रात को दूसरे छोर की ओर प्रयाण के लिये उनके पास आते हैं जिन्हें वे शरीर से नहीं जानती होतीं। तुम्हारा भाई बखूबी उनमें से एक रहा होगा और 'क्ष' के दिये विवरण को दृष्टि में रखते हुए इसमें संदेह नहीं के बराबर है कि वह आया ही होगा।

दुर्बल सहानुभूति का संकट

मैंने ध्यान से देखा है कि संवेदनशील प्रकृति का झुकाव बहुत अधिक नीचे की ओर हो जाता है जिससे वह उन लोगों से जो प्राणिक शक्तियों से भरे हैं, उन शक्तियों को अपने अंदर सहज ही घुसने देती है, विशेषकर तब जब कि उनकी कठिनाइयों के समय उनकी सहायतार्थ परोपकार की कामना के वश उनके प्रति भाविक सहानुभूति का भाव अपनाया जाता है।

यह बहुत ही रोचक बात है—क्योंकि यह माताजी के इस सतत आग्रहपूर्ण कथन से मेल खाती है कि प्राणिक शक्तियों से अधिकृत लोगों के प्रति अपने अंदर सहानुभूति या किसी प्रकार का दुर्बल परोपकारी ढंग का भाव अनुभव करना अत्यंत ही संकटपूर्ण होता है क्योंकि वह हमारे अपने ऊपर उन शक्तियों का आक्रमण ला सकता है जो फिर कोई भी रूप ले सकता है। उनके लिये जो कुछ करने योग्य हो वह तो हमें करना ही चाहिये पर ऐसी समस्त दुर्बलता से बचना होगा।

११-१०-१९३६

माताजी की सहायता को प्रभावकारी ढंग से प्रवाहित करना

मनुष्य माताजी की सहायता के लिये एक प्रणालिका बन सकता है, किंतु इसमें यह विचार आड़े आता है कि मैं दूसरों की सहायता कर रहा हूं और जब तक यह वहां रहता है तब तक मनुष्य एक वस्तुतः प्रभावकारी प्रणालिका नहीं बन सकता।

१७-४-१९३५

माताजी का गुह्य प्रयोग

'अ' ने शायद एक अनुभव का हवाला दिया होगा जिसमें माताजी शरीर से अलजीरिया में रहने पर भी पेरिस में बैठे हुए कुछ मित्रों की एक मंडली के सामने प्रकट हुईं और एक पेंसिल उठाकर उन्होंने एक कागज पर कुछ शब्द लिखे। जब उन्हें यह संतोष हो गया कि यह संभव है तब उन्होंने उसे और आगे विकसित नहीं किया। यह उन्होंने उस समय किया था जब वे अलजीरिया में तेओं (Theon) के साथ गुह्यविद्या का अभ्यास कर रही थीं। स्थूलीकरण संभव है, पर यह आसानी से नहीं होता—इसके लिये शक्तियों के ऊपर अत्यंत विरल और कठिन एकाग्रता करने की आवश्यकता होती है या किसी गुह्य प्रक्रिया की आवश्यकता होती है जिसके पीछे प्राण-जगत् की सत्ताएं होती हैं और वस्तुओं को स्थूल रूप प्रदान करती हैं, जैसा कि उन पत्थरों के विषय में हुआ था जो 'गेस्ट हाउस' (Guest House) में हम लोगों के रहने के समय रोज फेंके जाते थे। परंतु दोनों ही हालतों में यह कोई चमत्कार नहीं है। परंतु, जैसा कि तुम कहते हो, इसे एक सामान्य या नित्य-नैमित्तिक व्यापार के रूप में करना मुश्किल से व्यावहारिक होगा और आध्यात्मिक दृष्टि से उपयोगी भी न होगा, क्योंकि कोई आध्यात्मिक शक्ति नहीं बल्कि एक गुह्य मनोमय-प्राणमय शक्ति ही यह क्षमता देती है। ऐसा करने से तो योग आध्यात्मिक रूपांतर की प्रक्रिया के बदले गुह्यविद्या की करामातों के प्रदर्शन में बदल जायेगा।

२०-१०-१९३५

माताजी का नारद को देखना

मेरा ख्याल है कि नारद के विषय में मैं विशेष कुछ नहीं जानता। माताजी ने उन्हें एक बार अधिमानस और अतिमानस के बीच, जहां वे दोनों मिलते हैं, खड़ा देखा था मानों वही उनका सर्वोच्च स्थान हो। परंतु उनका कार्य निम्नतर लोक में भी रहता है—सिर्फ मैं ठीक तरह यह नहीं जानता कि वह क्या कार्य है। पौराणिक कहानियों में एक ओर तो शुद्ध प्रेम और भक्ति और दूसरी ओर मनुष्य में झगड़ा लगाने का आनंद उनका मुख्य स्वभाव मालूम होता है।

५-५-१९३५

माताजी का अन्य ग्रहों में जाना

मैं सोचा करता हूं कि क्या माताजी मंगल ग्रह या किसी अन्य सुदूरस्थित ग्रह के साथ, जो संभवतः रहने के योग्य हो या जहां लोग रहते हों, कोई प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करने में समर्थ हुई हैं।

बहुत दिन पहले माताजी सूक्ष्म शरीर से सर्वत्र जाया करती थीं, परंतु उन्हें वह बहुत गौण विषय प्रतीत हुआ। हमारा ध्यान पृथ्वी पर ही एकाग्र होना चाहिये, क्योंकि हमारा काम यहीं पर है। इसके अलावा, पृथ्वी अन्य सभी जगतों का केंद्रीभूत स्थान है और पार्थिव वातावरण में विद्यमान उनसे मिलते-जुलते किसी तत्त्व को छूकर मनुष्य उन्हें छू सकता है।

१३-१-१९३४

ठीक-ठीक बोध करने की क्षमता

'अ' ने माताजी का मंतव्य ठीक-ठीक बतलाया है, पर ऐसा मालूम होता है कि उसने उसे समझा नहीं है। माताजी का यह मतलब कभी नहीं था कि महज इच्छा करने से ही कोई यह जान सकता है कि दूसरे में क्या है या दूसरे के विषय में किसी की सभी धारणाएं सहजभाव से और बिना भूल के ठीक ही होंगी। उनका मतलब यह था कि एक ऐसी क्षमता या शक्ति (गुह्य या यौगिक क्षमता) है जिससे मनुष्य ठीक-ठीक बोध और धारणा प्राप्त कर सकता है, और किसी को यदि इच्छा हो तो वह उसे विकसित कर सकता है। तुरत नहीं, किसी सहज पद्धति से नहीं—यह लो, सुन लिया न तुमने : इसमें वर्षों लग सकते हैं और इस विषय में मनुष्य को बहुत सावधान और सचेत रहना होता है; क्योंकि ये संबोधि द्वारा प्राप्त बोध होते हैं और संबोधि एक ऐसी चीज है जिसकी नकल चेतना की दूसरी बहुतेरी क्रियाएं कर सकती हैं और वे बहुत अधिक भ्रमात्मक होती हैं। तुम्हारी धारणाएं या तो मानसिक हो सकती हैं या प्राणिक और ऐसी बातें हो भी सकती हैं या नहीं भी हो सकतीं जो किसी मानसिक या प्राणिक धारणा को पुष्ट करें—परंतु मानसिक होने पर भी यह बात बिलकुल निश्चित नहीं है कि यह सही हो; अगर यही बात हो तो भी हो सकता है कि वह अशुद्ध रूप में पकड़ी गयी हो—अथवा भूल-भ्रांतियों की बहुत अधिक मिलावट के साथ ग्रहण की गयी हो, तोड़-मरोड़कर मिथ्यापन में

बदल दी गयी हो, गलत तरीके से प्रकट का गयी हो, आदि। और फिर ऐसा भी हो सकता है कि उसका बिलकुल ही कोई आधार न हो; वह महज तुम्हारे अपने ही मन या प्राण की अशुद्ध रचना हो या किसी दूसरे की ही भ्रांत धारणा तुम्हारे पास आ गयी हो और तुमने उसे अपनी धारणा के रूप में स्वीकार कर लिया हो। तुम्हारी धारणाओं के बनने का यह कारण भी हो सकता है कि तुम्हारे और उस व्यक्ति के बीच कोई आंतरिक समानता न हो और जब तुम उसे खाली और निस्सार समझते हो तब उसका कारण यह हो कि तुम यह अनुभव करने में असमर्थ हो कि उसमें क्या है, वह चीज स्पष्ट रूप में तुम्हारी समझ में नहीं आती, अथवा जब तुम यह अनुभव करते हो कि वह गलत स्थिति में है तब केवल इस कारण से तुम्हें वैसा लगता हो कि उसकी प्राणगत संबोधि तुम्हें गलत रूप में स्पर्श करती हो। इस तरह की अनगिनत चीजें हैं जिन्हें बड़ी सावधानी से और सही-सही समझने की शक्ति मनुष्य में होनी चाहिये; जबतक कोई अपनी निजी चेतना और उसकी क्रियाओं को अच्छी तरह नहीं जानता तबतक वह दूसरों की चेतना की क्रियाओं को नहीं जान सकता। परंतु एक विशेष प्रकार की प्रत्यक्ष दृष्टि या एक विशिष्ट प्रत्यक्ष अनुभव-शक्ति या संपर्क विकसित करना संभव है जिससे मनुष्य जान सकता है, पर केवल बहुत समय लगाकर और बहुत सावधान, सचेत तथा जाग्रत् होकर निरीक्षण और अभ्यास करने के बाद ही। तबतक कोई घूम-घूम कर यह प्रचार नहीं कर सकता कि यह उन्नत साधक है या वह उन्नत साधक नहीं है और वह दूसरा एकदम किसी काम का नहीं है। अगर कोई जाने भी तो यह आवश्यक नहीं कि वह अपने ज्ञान का दिखावा करता फिरे।

९-२-१९३५

चेतना को उलट देने का कौशल

जब माताजी ने यह कहा था कि यह महज चेतना को उलट देने का एक कौशल है तब उनका मतलब यह था कि बाहरी मन को सर्वदा हस्तक्षेप करने और अपने ही निजी सामान्य अभ्यासगत दृष्टिकोण को प्रस्थापित करने के बदले एकदम उलट जाना चाहिये, यह स्वीकार करना चाहिये कि चीजें भीतर से बाहर की ओर कार्य कर सकती हैं और अपने-आपको यह देखने के लिये पर्याप्त मात्रा में स्थिर बनाये रखना चाहिये कि अंदर से बाहर की ओर कार्य का विकास हो रहा है और काम पूरा हो रहा है। ऐसा होने पर एक आंतरिक

मन स्वयं प्रकट होता है जो अदृश्य शक्तियों का अनुसरण करने और उनका यंत्र बनने में समर्थ होता है।

२-८-१९३२

शरीर से बाहर निकलने पर धक्के का अनुभव

जब चेतना क्षण भर के लिये या अधिक लम्बे समय के लिये शरीर से बाहर निकल कर ऊपर जाती है तब बहुतों को धक्के या एक सेकेंड के लिये दम बंद होने और नीचे गिर जाने के जैसा अनुभव होता है। धक्का या तो चेतना के ऊपर जाने के कारण या शरीर में उसके वापस आने के कारण लगता है। माताजी को सैकड़ों बार यह अनुभव हुआ करता था। यह शरीर से संबंध रखनेवाली कोई चीज नहीं है (डॉक्टर ने भी, जैसा कि तुम कहते हो, कुछ नहीं पाया) जब चेतना की यह क्रिया अधिक स्वाभाविक हो जायेगी तब संभवतः यह बोध दूर हो जायेगा।

१-१०-१९३५

माताजी के हिसाब में संख्यात्मक सामंजस्य

> *'क्ष' ने आज मुझे अपनी लेखा-पञ्जी दिखायी जिसमें कुल योग लिखा था ७ रु. ७ आ. ७ पाई। साथ ही आज वर्ष के ७वें महीने का ७वां दिन भी है और इसके बारे में आपको लिखने का निर्णय करने के बाद मैंने देखा कि जिस घर में मैं काम कर रहा हूं उसका नम्बर भी ७ है। आश्रम से अन्यत्र व्यक्ति के सामने संख्याओं की ऐसी क्रीड़ा नहीं आती। मेरे विचार में यहां ऐसा इसलिये होता है कि संख्याएं (शायद संख्याओं की गुह्य सत्ताएं) हमारे वायुमण्डल में वैसा ही सुख आराम अनुभव करती हैं जैसा आश्रम के मुख्य भवन में चिड़ियां, और वे ऐसे सामंजस्यों का खेल खेलना पसंद करती हैं। सरकारी विभागों एवं अन्य स्थानों में वे वायुमण्डल को यान्त्रिक, भारी और कठोर अनुभव करती हैं और इसलिये वहां उन्हें ऐसे खेल में कोई आनंद नहीं आता।*

मैं समझता हूं तुम्हारी व्याख्या ठीक है, और नहीं तो गुह्य दृष्टिकोण से यह ठीक ही है। माताजी के हिसाब-किताब में संख्याओं के ये लयताल सदा ही होते हैं।

७-७-१९३६

बिल्लियों को नाम देना

माताजी ने बिल्लियों को नाम इस कारण दिये कि वे समझती और उत्तर देती हैं; उन्होंने पक्षियों को कभी कोई नाम नहीं दिये और न देना ही चाहती हैं। अब तो वे बिल्लियों को भी नाम नहीं दे रहीं।

२८-४-१९३२

माताजी के शरीर पर दवाइयों की क्रिया

माताजी के शरीर पर दवाइयों की क्रिया उससे बिलकुल भिन्न होती है जो तुम्हारे या 'क्ष' के या किसी और के शरीर पर होगी और उनके प्रति माताजी की प्रतिक्रिया साधारणतया अनुकूल नहीं होती। उनकी भौतिक चेतना वैसी नहीं जैसी साधारण लोगों की होती है—यद्यपि साधारण लोगों में भी वह सभी दृष्टान्तों में उतनी एकसमान नहीं होती जैसी कि "विज्ञान" चाहेगा कि हम उसे मानें।

१-२-१९३७

चिकित्सा-संबंधी विषयों में माताजी के विचार

प्रस्तुत विषय में माताजी ने जो कुछ कहा है वह वही है जो उन्होंने डॉ. 'क्ष' से कहा था और जिससे वे पूर्णतया सहमत हुए थे—अर्थात् डॉक्टरों द्वारा लक्षणों के आधार पर रोग का अध्ययन (निःसन्देह, स्पष्ट और सीधे-सादे रोगों को छोड़कर) सामान्यतया अनेक सम्भावनाओं को तौलकर एक निर्णय करना मात्र होता है और इस प्रकार निकाला गया निष्कर्ष एक अनुमानभर। वह अनुमान ठीक हो सकता है और तब सब कुछ ठीक चलेगा अथवा वह गलत हो सकता है और तब सब कुछ ही गलत हो जायेगा, हां, यदि प्रकृति डॉक्टर से इतनी अधिक बलवान् हो कि वह उसकी भूल के परिणामों पर विजय पा ले तो दूसरी बात है—या फिर, कम-से-कम उसका उपचार सफल नहीं होगा। इसके विपरीत, यदि कोई निदान-संबंधी अन्तःप्रेरणा को विकसित कर ले तो वह तुरंत देख सकता है कि अनेक संभावनाओं के बीच यथार्थ वस्तु क्या है और यह भी देख सकता है कि क्या करना चाहिये। बहुतेरे सफल डॉक्टरों में यही चीज होती है, उनके पास यह स्फुर-प्रकाश होता है जो उन्हें

असली बिंदु दिखला देता है। 'क्ष' ने इस बात से सहमत होकर कहा था कि अनुमान का कारण यह होता है कि लक्षणों के पूरे गुट-के-गुट होते हैं जो अनेक रोगों में से किसी एक से सम्बद्ध हो सकते हैं और निर्णय करना अत्यंत नाजुक एवं सूक्ष्म कार्य होता है, पुस्तकीय ज्ञान या तर्क-वितर्क की कितनी भी मात्रा यथार्थ निर्णय का विश्वास नहीं दिला सकती। जरूरत है एक विशेष अन्तर्दृष्टि की जो केवल लक्षणों पर ही नहीं वरन् उनके पार भी देख सके। प्रसंगतः यह अंतिम वाक्य मेरा है, 'क्ष' का नहीं। अन्तर्ज्ञान के विकास के विषय में फिर लिखूंगा —आज रात समय नहीं है।

६-४-१९३७

*

इन विषयों पर बहस करने से कोई लाभ नहीं। माताजी के विचार परम्परागत लटकों से इतने अधिक दूर हैं कि वे डॉक्टरी दिमाग की समझ में नहीं आ सकते, उन डॉक्टरों की बात अलग है जो परम्परागत लीक से परे हट गये हैं या उनकी भी जिन्होंने लंबे अनुभव के बाद वस्तुओं को देख लिया है और अपने "विज्ञान" की सीमाओं के संबंध में इतने स्पष्टवादी हो सकते हैं कि उसे जड़ से उखाड़ दें।

इस विषय में अलग-अलग विचार हैं।

माताजी और 'क्ष' दोनों ही चार महीने के बच्चे को जुलाब दिये जाने के विचार से दहल उठे। फ्रांस के सर्वप्रमुख "शिशु-चिकित्सक" ने माताजी से कहा था कि १२ महीने से नीचे के किसी भी शिशु को रेचक नहीं देना चाहिये, क्योंकि वह बड़ी हानि पहुंचा सकता है और खतरनाक तक हो सकता है। परंतु यहां हमें पता चला है कि बच्चों को लगभग उनके जन्मदिन से लेकर ही बेरोक-टोक जुलाबों की दवा देने का रिवाज है। शायद यही चीज और दवाइयां देने में अति करना ही बच्चों की मृत्यु-संख्या के अत्यधिक होने का कारण है।

४-४-१९३७

*

सभी "औषध-विज्ञान" बच्चों को एरण्ड का तेल (कॉस्टर ऑयल) देने की सिफारिश नहीं करते—मैं समझता हूं कि यह उन्नीसवीं सदी की सनक है जिसने अपने को कुछ लंबा खींच लिया है। माताजी के "शिशु-चिकित्सक" ने उनसे कहा था कि एरण्ड का तेल नहीं देना चाहिये—साथ ही जब माताजी स्वयं

बच्ची थीं तो उनकी बीमारी में डॉक्टरों ने यह कह कर कि यह पेट और जिगर को खराब करता है, इसे देने की आग्रहपूर्वक मनाही कर दी थी। मेरी समझ में तुम कहोगे कि डॉक्टरों के मत अलग-अलग होते हैं? हां, होते ही हैं!

९-४-१९३७

*

माताजी का मतलब था कि अनुचित भोजन और अनुचित पाचन से उत्पन्न विष—ये दोनों चीजें जीवन के दीर्घायु होने में सबसे बड़ी बाधा हैं।

१४-१-१९३५

*

एक बार माताजी ने कहा था कि ऐसी बीमारी शायद ही कोई हो जो योग से ठीक न हो सके। क्या यमार्बुद (कैंसर) भी इससे ठीक हो सकता है?

निःसंदेह यह ठीक हो सकता है, परंतु इस शर्त पर कि रोगी में श्रद्धा या खुलाव हो या दोनों हों। यहांतक कि मानसिक सुझाव भी कैंसर को ठीक कर सकता है—अवश्य ही, भाग्य का साथ हो तो, जैसा कि एक स्त्री के उदाहरण से सिद्ध होता है जिसके कैंसर का ऑपरेशन (शल्यकर्म) किया गया था पर सफल नहीं हुआ, किंतु डॉक्टरों ने उसे झूठ-मूठ कह दिया कि सफल हो गया है। परिणाम क्या हुआ, कैंसर के सभी लक्षण गायब हो गये और वह बहुत वर्ष बाद एक बिलकुल और ही रोग से मरी।

११-१०-१९३५

अस्पतालों के बिना स्वर्गराज्य

मुझे स्वप्न आया कि माताजी एक बहुत बड़ा अस्पताल बना रही हैं। क्या यह एक भावी स्वर्गराज्य का पहले से ही स्वप्न है?

यह कहीं बड़ा स्वर्गराज्य होगा यदि अस्पताल की बिलकुल ही जरूरत न रहे और डॉक्टर अपने चुभनेवाले सूचीवेध के उपकरणों को 'फाउन्टेन-पैन' में बदल दें—निःसन्देह यदि वे उन पैनों का दुरुपयोग न करें...

इन्जेक्शन (सूचीवेध) देने के उपकरणों पर आप इतने आग-बबूला क्यों होते हैं, श्रीमन्? उन्हें तो बहुत ही प्रभावकारी समझा जाता है।

उससे अस्पतालों, रोगों और इन्जेक्शनों की वृद्धि स्वर्गराज्य का आदर्श नहीं बन जाती...

परंतु उन उपकरणों का स्थान भला फाउन्टैन-पैन को दिया ही क्यों जाये?

मैं केवल पैगम्बर इसाइआ की इस कहावत का प्रयोग कर रहा था, "तलवारों को हलों में बदल दिया जायेगा", किंतु डॉक्टर का उपकरण हल बनाने के लिये काफी बड़ा नहीं, अतः मैंने उसके स्थान पर 'फाउन्टैन-पैन' शब्द का प्रयोग किया।

१९-७-१९३७

१२

माताजी की कुछ "प्रार्थनाओं"[१] और "वार्तालाप"[२] की व्याख्याएं

माताजी की कुछ रायों की व्याख्या इत्यादि

१. "प्रार्थनाएँ और ध्यान"

"दिव्य प्रभु" को संबोधित माताजी की कुछ प्रार्थनाओं में मैंने ये शब्द देखे हैं : "हमारी भगवती माता के साथ (Avec notre Divine Mére)।" भला माताजी और दिव्य प्रभु (Divin Maitre) की भी एक 'भगवती माता' (Divine Mére) कैसे हो सकती हैं? यह तो ऐसा हुआ मानों माताजी 'भगवती माता' (Divine Mére) न हों और कोई दूसरी माताजी भी हों तथा 'दिव्य प्रभु' (Divin Maitre) परात्पर न हों और उनकी भी एक 'भगवती माता' (Divine Mére) हों! अथवा क्या यह बात है कि ये सब प्रार्थनाएं किसी निर्वैयक्तिक सत्ता को संबोधित की गयी हैं?

अधिकांश में ये प्रार्थनाएं पार्थिव चेतना के साथ एक होकर लिखी गयी हैं। यहां निम्नतर प्रकृति में विद्यमान मां उच्चतर प्रकृति में विद्यमान मां को संबोधित कर रही हैं, रूपांतर के लिये पार्थिव चेतना की साधना करती हुई स्वयं माताजी ही ऊपर में विद्यमान स्वयं अपनी ही सत्ता से प्रार्थना कर रही हैं जिससे रूपांतर की शक्तियां आती हैं। यह तबतक जारी रहता है जबतक कि पार्थिव चेतना और उच्चतर चेतना का तादात्म्य सिद्ध नहीं हो जाता। 'हमारी' (notre) शब्द, मेरी समझ में साधारण रूप में प्रयुक्त हुआ है और वह पार्थिव चेतना में उत्पन्न सभी जीवों को सूचित करता है—उसका अर्थ 'दिव्य प्रभु' (Divin

[१] माताजी की "प्रार्थनाएं" जो मूलतः फ्रेंच में लिखी गयी थीं, पीछे "Prières et Méditations" ("प्रीऐर ए मेदितासियों", "प्रार्थनाएं और ध्यान") नाम से प्रकाशित हुईं।

[२] Conversations (मातृवाणी—वार्तालाप) सन् १९२९ में शिष्यों की एक छोटी-सी मण्डली के साथ अंग्रेजी में माताजी की बातचीत का अभिलेख है।

Maitre) और स्वयं 'मेरी माताजी' नहीं है। वहां सर्वदा भगवान् को ही दिव्य प्रभु और स्वामिन् (Divin Maitre et Seigneur) के रूप में संबोधित किया गया है। एक माताजी हैं जो साधना कर रही हैं और दूसरी भगवती माता हैं, दोनों एक होने पर भी विभिन्न स्थितियां हैं, और दोनों सर्वेश्वर या दिव्य प्रभु (Seigneur or Divine Master) की ओर मुड़ती हैं। इस प्रकार की भगवान् की भगवान् से की हुई प्रार्थना तुम्हें रामायण और महाभारत में भी मिलेगी।

२१-८-१९३६

जिस[1] अनुभव का आपने (माताजी ने) वर्णन किया है वह सच्चे अर्थ में वैदिक है, यद्यपि यह ऐसा नहीं जिसे आधुनिक योग-पद्धतियां जो अपने को यौगिक कहती हैं सहज ही मान्यता दें। यह वेद और पुराण की "पृथ्वी" का भागवत 'तत्त्व' के साथ मिलन है, उस पृथ्वी का जो हमारी पृथ्वी से ऊपर स्थित कही जाती है, अर्थात्, उस भौतिक सत्ता एवं चेतना का जिसकी प्रतिमाएं मात्र हैं जगत् और देह। परंतु आधुनिक योग भगवान् के साथ भौतिक मिलन की संभावना कदाचित् स्वीकार नहीं करते।

३१-१२-१९१५

*

माताजी की सन् १९१४ की कुछ ऐसी प्रार्थनाएं हैं जिनमें वे रूपांतर और अभिव्यक्ति की बात करती हैं। क्योंकि वे उस समय यहां नहीं थीं, तो क्या इससे यह मतलब नहीं निकलता कि यहां आने से बहुत पहले ही उनके अंदर ये विचार थे?

माताजी अपनी युवावस्था से, यहांतक कि बाल्यावस्था से लेकर बराबर आध्यात्मिक रूप से सचेतन थीं और भारत आने से दीर्घकाल पूर्व ही वे साधना करके यह ज्ञान विकसित कर चुकी थीं।

२३-१२-१९३३

*

[1]यह माताजी के २६-११-१९३५ के एक पत्र का, जिसमें उनके अनुभव का विवरण था, श्रीअरविन्द का दिया हुआ उत्तर है। माताजी के पत्र के लिये देखें मातृवाणी (१९६१) पृ. २७१।

जैसा कि माताजी ने अपनी १६ जून १९१४ की 'प्रार्थना' में कहा है, इससे अधिक महत्त्वपूर्ण कुछ नहीं कि "तेरा ज्योतिर्वैभव प्रकट होना चाहता है।" अपने लिये पूर्णता प्राप्ति के या यंत्र होने के समस्त विचार, चेतना की विशाल वैश्व गति के दृष्टिकोण से विचारे जाने पर, निःसार और नीरस प्रतीत होते हैं।

यह ठीक है। अपने लिये पूर्णता सच्चा आदर्श नहीं। साधना और यंत्र-भाव "प्राकट्य" के साधन के रूप में ही उपयोगी हैं।

३०-४-१९३६

*

१७ मई १९१४ की 'प्रार्थना' में माताजी कहती हैं, "ये थे वे दो वाक्य जो मैंने कल एक प्रकार की अनिवार्य आवश्यकतावश लिखे थे। पहला, मानों प्रार्थना की शक्ति केवल तभी परिपूर्ण होगी जब वह कागज पर लिपिबद्ध कर ली जायेगी।"...

क्या यह सच है कि जब प्रार्थना को वाणी या लेखनी के द्वारा व्यक्त नहीं किया जाता तो वह पर्याप्त शक्तिशाली नहीं होती, और कि उसे पूर्ण रूप से शक्तिशाली बनाने के लिये इस प्रकार व्यक्त करना आवश्यक है?

वह कथन सामान्य नियम के रूप में अभिप्रेत नहीं था—वह तो केवल उस विशेष प्रार्थना और उस अनुभूति के संबंध में महसूस की गयी एक आवश्यकता थी। यह सब तो निर्भर करता है व्यक्ति और उसकी अवस्था पर, किसी क्षण-विशेष की अथवा चेतना की तत्तद् भूमिका की या उसके तत्तद् पक्ष की आवश्यकता पर। आध्यात्मिक अनुभव में ये चीजें सदा ही नमनीय और परिवर्तनशील होती हैं। किन्हीं अवस्थाओं में या किसी एक पक्ष में या किसी क्षण प्रार्थना की कार्यसाधक शक्ति को या अनुभव की स्थायिता को प्रकट करने के लिये प्रार्थना की वाचिक या लिखित अभिव्यक्ति की आवश्यकता हो सकती है; किसी अन्य अवस्था या पक्ष में या किसी और क्षण इससे ठीक उलटी बात हो सकती है, या यूं कहें कि तब अभिव्यक्ति शक्ति को बिखेर देगी या स्थिरता को भंग कर देगी।

२१-६-१९३६

*

माताजी की १२ दिसम्बर १९१४ की प्रार्थना यों शुरू होती है : "सब कुछ पाने के लिये हमें हर क्षण सीखना होगा सब कुछ खोना..."

ईश उपनिषद् भी कहती है : "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" (उसे त्यागकर उसका भोग करो)। क्या ये दोनों कथन एक ही सत्य की ओर संकेत नहीं करते?

हां, निश्चय ही। यह तत्त्वतः एक ही सत्य है जिसे भिन्न-भिन्न ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसे निषेधात्मक रूप में भी रखा जा सकता है—"यदि हम वस्तुओं के उसी रूप से चिपके रहें जो अज्ञानावस्था में उनका अपूर्ण रूप है तो भागवत प्रकाश, सामंजस्य और आनंद में उनका जो सत्य और सर्वांगपूर्ण स्वरूप है उसमें हम उन्हें नहीं प्राप्त कर सकते।"

१६-८-१९३५

*

अपनी एक प्रार्थना में माताजी कहती हैं : "कार्य में जो आनंद निहित है उसे कार्य से निवृत्ति का महत्तर आनंद अतिक्रान्त कर जाता है।" इससे यह अर्थ निकलता है कि कार्य से निवृत्ति कार्य की अपेक्षा अधिक वरणीय है।

क्या तुम समझते हो कि माताजी का मन तुम लोगों के मन की तरह कठोर है और वे सब समय के लिये तथा सभी लोगों और सभी अवस्थाओं के लिये बंधा-बंधाया नियम प्रस्थापित कर रही थीं? वह तो एक विशेष अवस्था से संबंध रखता है जिसमें चेतना कभी तो कार्यरत होती है और जब कार्यरत नहीं होती तो अपने अंदर पीछे की ओर हटी होती है। उसके बाद एक ऐसी अवस्था आती है जब सच्चिदानन्द-स्थिति कार्य में भी बनी रहती है। उससे आगे की भी एक अवस्था है जिसमें ये दोनों मानों एकीभूत होती हैं, पर वह है अतिमानसिक भूमिका। दो भूमिकाएं हैं : नीरव (शांत) ब्रह्म और सक्रिय ब्रह्म और वे बारी-बारी से आ सकती हैं (पहली अवस्था), एक साथ रह सकती हैं (दूसरी अवस्था), घुल-मिलकर एक हो जा सकती हैं (तीसरी अवस्था)। यदि तुम पहली अवस्था तक भी पहुंच जाओ तो तुम माताजी की उक्ति का प्रयोग करने की सोच सकते हो, पर अभी से उसका गलत प्रयोग क्यों करते हो?

क्या कर्म में सच्चिदानन्द का उच्चतम साक्षात्कार प्राप्त करना संभव है?

अवश्य ही वह कर्म में प्राप्त हो सकता है। हे भगवान्! यदि वह प्राप्त न हो सके तो पूर्ण योग का अस्तित्व ही कैसे रह सकता है?

*

माताजी अपनी "प्रार्थनाओं" की पुस्तक में कहती हैं कि अनुभव भगवान् की इच्छा व संकल्प से उपलब्ध होता है। तो क्या मुझे यह मानना चाहिये कि किसी प्रस्तुत दृष्टांत में अनुभवों की न्यूनता या बहुलता के पीछे भगवान् की इच्छा होती है?

जबतक तुम सभी चीजों को भगवान् से आती न अनुभव करो तबतक ऐसा कहने का कोई मूल्य नहीं। जिस प्रकार भीषण कष्टों और कठिनाइयों के बीच भी माताजी ने अनुभव किया था कि ये भगवान् से आये हैं और उन्हें उनके कार्य के लिये तैयार कर रहे हैं उस प्रकार का अनुभव जिसे प्राप्त हुआ हो वही ऐसी मनोवृत्ति का आध्यात्मिक उपयोग कर सकता है। दूसरे तो इससे अशुद्ध परिणाम निकालने में प्रवृत्त हो सकते हैं।

१०-५-१९३४

*

माताजी अपनी ४ अगस्त १९१४ की प्रार्थना में कहती हैं: "शक्तियों के संघर्ष से प्रेरित होकर मनुष्य महान् आत्म-बलिदान कर रहे हैं।" ... प्रत्यक्ष ही, उनका संकेत महायुद्ध की ओर है; परंतु, क्या उस युद्ध के परिणामस्वरूप किसी "शुद्ध ज्योति" ने लोगों के हृदयों को पूरित किया है या "भागवत शक्ति" पृथ्वी पर फैली है अथवा क्या उस अस्तव्यस्तता में से कोई लाभदायक वस्तु प्रकट हुई है, जैसा कि उन्होंने उल्लेख किया है? क्योंकि राष्ट्र एक बार फिर युद्ध की तैयारी कर रहे हैं और आपस में सतत संघर्ष की अवस्था में हैं, अतः मनुष्यों की आंतरिक अवस्था में किसी परिवर्तन का कोई चिह्न नहीं दिखाई देता। संसार में सर्वत्र लोग, यहांतक कि भारतीय भी उनमें सम्मिलित हैं, एक और युद्ध चाहते प्रतीत होते हैं और शायद ही कोई 'शांति', 'प्रकाश' या 'प्रेम' की चाहना करता दीखता है।

परिवर्तन अधिक बुरे के लिये ही हुआ है—मानव जगत् में प्राणिक लोक उतर

आया है। दूसरी ओर, यह भी है कि बुरी शक्तियों से "अधिकृत" राष्ट्रों को छोड़कर और सभी में शान्ति के लिये कहीं अधिक चाह है और है यह भावना कि ऐसी चीजें नहीं होनी चाहियें। भारत को तो युद्ध का कोई वास्तविक स्पर्श मिला ही नहीं। तथापि माताजी जो कुछ सोच रही थीं वह था आध्यात्मिक सत्य की ओर उन्मीलन। कम-से-कम उस उन्मीलन ने प्रकट होने का यत्न किया है। पुरानी जड़वादीय सभ्यता से व्यापक असन्त ़ देखने में आ रहा है, और साथ ही किसी अधिक गहरे प्रकाश एवं सत्य के लिये खोज भी—दुर्भाग्य की बात इतनी ही है कि पुराने धर्म इससे लाभ उठा रहे हैं और केवल बहुत थोड़ी संख्या में ही लोग नये 'प्रकाश' की सचेतन रूप से खोज कर रहे हैं।

९-६-१९३६

*

आपने कहा था कि महायुद्ध के बाद "मानव जगत् में प्राणलोक का अवतरण" हुआ है। परंतु क्या प्राणलोक पृथ्वी पर जड़तत्त्व में—मनुष्यों के भी प्रकट होने से पहले अवतरित नहीं हुआ था? किस अन्य प्राणलोक का मानव जगत् में उतरना अभी भी शेष था? और यह कैसी बात है कि उसने ठीक अभी अवतरित होने का निर्णय किया, ताकि वह मानव लोक में उच्चतर 'प्रकाश' को उ ने से रोक सके?

ऊर्ध्व से जिस 'अवतरण' की तैयारी हो रही है उसके कारण जब प्राणिक लोक पर दबाव पड़ता है तो साधारणतया वह लोक सहसा ही अपना कुछ अंश मानव लोक में अवक्षिप्त करता है। प्राणिक लोक बहुत ही विस्तृत है और अपने विस्तार में मानव लोक से बहुत ही अधिक बड़ा है। पर सामान्यतया वह प्रभाव के द्वारा आधिपत्य जमाता है, अवतरण के द्वारा नहीं। निःसन्देह, प्राणिक लोक के इस प्रदेश की चेष्टा मानवजाति को सदा अपने प्रभुत्त्व के नीचे रखने और उच्चतर 'ज्योति' को रोकने के लिये होती है।

९-६-१९३६

*

आप कहते हैं कि प्राणिक लोक के अवतरण के कारण जो परिवर्तन आया है वह अधिक बुरे के लिये ही हुआ है। यदि ऐसा है तो क्या वह पृथ्वी-चेतना में अतिमानसिक अवतरण को असंभव नहीं बना देगा अथवा

उसके आगमन के "यहीं और अभी" होने के स्थान पर उसे किसी दूर भविष्य पर नहीं टाल देगा? और क्योंकि असुर-अधिकृत राष्ट्र समस्त संभवनीय भौतिक शक्ति से सुसम्पन्न हैं, शांति के किसी भी आन्दोलन के सफल होने की आशा बहुत ही कम दिखाई देती है।

प्राणिक अवतरण अतिमानस के अवतरण को रोक नहीं सकता—असुर-अधिकृत राष्ट्रों के लिये अपनी भौतिक शक्ति के द्वारा ऐसा कर सकना तो और भी कम संभव है, क्योंकि अतिमानसिक अवतरण प्रधानतः एक आध्यात्मिक तथ्य है जिसके आवश्यक बाह्य परिणाम होकर ही रहेंगे। पहले के प्राणिक अवतरणों ने किया यह है कि जो 'प्रकाश' उतरा था उसे उन्होंने मिथ्या रूप दे डाला है, जैसा कि हम ईसाइयत के इतिहास में देखते हैं। वहां उसने इसकी शिक्षा को अपने अधिकार में कर लिया और उसे विकृत कर किसी भी प्रकार की व्यापक चरितार्थता से वंचित कर दिया। परंतु अतिमानस, अपनी परिभाषा के अनुसार, एक ऐसा 'प्रकाश' है जो यदि अपने निज अधिकार से और अपने साक्षात् स्वरूप में आये तो उसे विकृत नहीं किया जा सकता। जब वह अपने को पीछे की ओर रोक रखता है और चेतना की निम्नतर 'शक्तियों' को एक क्षीण एवं विचलित हो चुके 'सत्य' का प्रयोग करने देता है तभी उसके ज्ञान को प्राणिक 'शक्तियां' अपने कब्जे में करके अपने प्रयोजन की पूर्ति में लगा सकती हैं।

१२-६-१९३६

*

अपनी १६ अगस्त १९१४ की 'प्रार्थना' में माताजी "उन महान् आसुरिक सत्ताओं की ओर" संकेत करती हैं "जिन्होंने 'तेरे' सेवक बनने का दृढ़ निश्चय किया है। उनमें से प्रत्येक... "

यह कैसे हुआ कि असुरों ने भगवान् के सेवक बनने का निर्णय किया? क्या उसका उद्देश्य भगवान् से अपना मतलब निकालना था या फिर वह एक "कूटनीतिक चाल" थी।

यह प्रार्थना उन असुरों के संबंध में लिखी गयी थी जिन्होंने मानव शरीरों में जन्म ग्रहण किया था,—इस प्रकार के जन्म से वे सामान्यतया, जहांतक संभव हो, बचते हैं, क्योंकि वे जन्म लिये बिना ही मानव जीवों को अधिकृत कर लेना अधिक पसंद करते हैं,—मनुष्य-रूप में जन्म उन्होंने इस दावे के साथ

लिया था कि वे भगवान् की सेवा और उनका कार्य करते हुए अपना सुधार व उद्धार करना चाहते हैं। किन्तु इसमें उन्हें कोई अधिक सफलता नहीं मिली।

१५-६-१९३६

*

क्या विश्व में सचमुच आंतरिक प्रगति हुई है—"marche interne d'univers" जैसा कि माताजी कहती हैं? इने-गिने व्यक्तियों को छोड़कर मनुष्यजाति में शायद ही प्रगति हुई हो। आंतरिक और बाह्य रूप में विश्व कोई भी वास्तविक उन्नति किये बिना सदा उसी एक चक्र में घूमता प्रतीत होता है।

फ्रेंच में "Univers" (यूनिव्हैर) का अर्थ साधारणतया सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड नहीं बल्कि "संसार"—भूतल होता है। पृथ्वी-चेतना में प्रगति अवश्य हुई है, नहीं तो किसी प्रकार का विकास नहीं हो सकता था। मनुष्यजाति का विकास चक्राकार या कुण्डलाकार गति के द्वारा साधित हो सकता है, परंतु सब समय अधिकाधिक पूर्ण संभावनाओं का उद्‌घाटन होता रहता है जबतक कि उच्चतर जाति के विकास की संभावना संपुष्ट नहीं हो जाती।

१-९-१९३६

"Eveillez-Vous" (अव्हईए-व्हू) नामक पुस्तक में (जो अंग्रेजी से अनूदित की गयी है) कुछ विचार हैं—जैसे 'आविर्भाव', विरोधी सत्ताओं आदि के संबंध में—जो हमारे विचारों से मिलते-जुलते हैं। उस पुस्तक में यह वाक्य भी है, "La Paix règnera sur terre" (शांति पृथ्वी पर राज्य करेगी); यह भी माताजी की "प्रार्थनाओं" की पुस्तक में आता है। क्या ग्रंथकार ने यह वाक्य माताजी की (अप्रकाशित) पुस्तक "प्रार्थनाएं" से नकल नहीं किया है?

ऐसा होना आवश्यक नहीं, क्योंकि यह वाक्य ऐसे किसी भी आदमी के मन में सहज ही आ सकता है जिसने बाइबल पढ़ रखी है और अंग्रेज बाइबल की भाषा का अनुकरण बहुत ही अधिक करते हैं। विरोधी सत्ताओं का विचार भी नया नहीं, सच पूछो तो यह उतना पुराना है जितना वेद। 'आविर्भाव' की आशापूर्ण प्रतीक्षा का विचार भी काफी व्यापक रूप से फैला हुआ है, क्योंकि

प्राचीन भविष्यवाणियों के अनुसार, जब 'आविर्भाव' का समय आयेगा तो वह होकर ही रहेगा।

१६-९-१९३५

२. "वार्तालाप"

माताजी पूछती हैं "तुम योग किसलिये करना चाहते हो? शक्ति प्राप्त करने के लिये?"[१] क्या यहां "शक्ति" का अर्थ अपना अनुभव दूसरों के अंदर संचारित करने की शक्ति है? इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है?

शक्ति एक सामान्य पारिभाषिक शब्द है—यह संचारित करने की शक्ति तक ही सीमित नहीं। शक्ति का सर्वाधिक सामान्य रूप है पदार्थों, व्यक्तियों, घटनाओं एवं बलों पर नियंत्रण।

१-१-१९३७

*

माताजी कहती हैं "आवश्यक वस्तु है एकाग्रता—भगवान् पर एकाग्रता जो उनकी 'इच्छा' (Will) और 'उद्देश्य' (Purpose) के प्रति समग्र और चरम-परम आत्म-निवेदन के विचार से की गयी हो।"[२] क्या उनकी 'इच्छा' (Will) उनके 'उद्देश्य' (Purpose) से भिन्न है?

दोनों शब्दों का अर्थ एक ही नहीं है। Purpose (पर्पज़) का अर्थ है प्रयोजन, वह दृष्टिगत लक्ष्य वा उद्देश्य जिसके लिये भगवान् कार्य कर रहे हैं। Will (विल्, इच्छाशक्ति) उससे अधिक व्यापक परिभाषा है।

१-१-१९३७

*

"हृदय में एकाग्रता करो।"[३] एकाग्रता क्या चीज है? ध्यान क्या होता है?
एकाग्रता का अर्थ है चेतना को एक ही केन्द्र के भीतर एकत्र करना और एक

[१] मातृवाणी—वार्तालाप (१९६९), पृ. १०
[२] वही, पृ. ११ [३] वही, पृ. ११

ही विषय (पदार्थ) या एक ही विचार या एक ही अवस्था पर स्थिर करना। ध्यान एक व्यापक परिभाषा है जो अपने अंदर अनेक प्रकार की आंतरिक क्रियाओं को समाविष्ट कर सकती है।

१-१-१९३७

*

"एक अग्नि वहां जल रही है... वह है तुम्हारे अंदर स्थित दिव्य सत्ता—तुम्हारी सच्ची सत्ता। उसकी वाणी सुनो, उसके आदेशों का अनुसरण करो।"[१]

मैंने अपने अंदर यह अग्नि कभी नहीं देखी। तो भी मुझे वेदन होता है कि मैं अपनी अन्तःस्थित दिव्य सत्ता को जानता हूं। मुझे वेदन होता है कि मैं उसकी वाणी सुनता हूं और फिर उसके आदेशों के अनुसार चलने के लिये मैं भरसक यत्न करता हूं। क्या मुझे अपने वेदन पर संदेह करना चाहिये?

नहीं, तुम्हें जो वेदन होता है वह बहुत संभवतः चैत्य पुरुष से मन के द्वारा प्राप्त इंगित है। चैत्य अग्नि से प्रत्यक्षतः सचेतन होने के लिये मनुष्य में सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और सूक्ष्म इन्द्रिय सक्रिय होनी चाहियें या फिर होनी चाहिये चेतना में प्रकट शक्ति के रूप में कार्य करते हुए चैत्य की सीधी क्रिया।

२-१-१९३७

*

"हम सभी पूर्व जीवनों में मिल चुके हैं।"[२]

"हम" से यहां ठीक-ठीक क्या अभिप्रेत है? क्या आप दोनों को मेरी स्मृति है? क्या भूतकाल में मैंने इस कार्य के लिये आपकी बहुधा सेवा की थी?

यह एक सामान्य सिद्धांत है जो घोषित किया गया है। यह उन सभी को अपने अंतर्गत कर लेता है जिन्हें कार्य के लिये पुकारा गया है। उन दिनों माताजी, जिनके साथ वे यह वार्तालाप कर रही थीं उनका भूतकाल (या उसका एक भाग) देखा करती थीं और इसीलिये उन्होंने ऐसा कहा था। इस समय हम

[१] वही, पृ. ११ [२] वही, पृ. १४

भौतिक चेतना में चल रहे निर्णायक कार्य में इतने अधिक व्यस्त हैं कि इन चीजों पर ध्यान नहीं दे सकते। अपि च, हम देखते हैं कि इसने साधकों में एक प्रकार की प्राणिक रूमानियत को प्रोत्साहित किया, जिसके वश उन्होंने साधना के कठिन कार्य की अपेक्षा इन चीजों को अधिक महत्त्व प्रदान किया। इसलिये हमने विगत जीवनों और व्यक्तित्वों की बात कहना बंद कर दिया है।

२-१-१९३७

*

"योग के दो मार्ग हैं, एक तपस्या (अनुशासन) का और दूसरा समर्पण का।"[१]

एक बार आपने मेरे अंतर्दर्शन की व्याख्या करते हुए कहा था कि अग्नि, पवित्रीकरण और तपस्या की अग्नि 'सत्य' के 'सूर्य' को जन्म दे रही है। मैं किस पथ का अनुसरण कर रहा हूं? समर्पण के मार्ग में तपस्या का क्या स्थान है? क्या कोई समर्पण के मार्ग में बिलकुल तपस्या के बिना काम चला सकता है?

एक तपस्या वह है जो समर्पण के परिणामस्वरूप आप-से-आप होती है और एक तपस्या (अनुशासन) वह है जिसका अनुसरण व्यक्ति किसी दूसरे की सहायता के बिना अपने ही प्रयत्न से करता है—इनमें से पिछली ही "योग के दो मार्गों" में अभिप्रेत है। किंतु तपस्या की आग के रूप में 'अग्नि' दोनों ही अवस्थाओं में जल सकती है।

४-१-१९३७

*

"काम-वासना जैसे आवेगों का बल साधारणतया इस तथ्य में निहित होता है कि लोग उनपर बहुत ही अधिक ध्यान देते हैं।"[२]

वे अन्य आवेग कौन-से हैं जिनकी ओर इस वाक्य में संकेत किया गया है?

यह प्रबल प्राणिक आवेगों की ओर संकेत करता है।

४-१-१९३७

*

[१] वही, पृ. १६ [२] वही, पृ. १८

"सारा संसार इस विष से भरा है। हर सांस के साथ तुम इसे अपने अंदर ले रहे हो।"[१]

कब तक साधक छूत लग जाने के इस भय के वश में रहता है? ऐसा प्रतीत होता है कि मुझे अब ऐसी छूत नहीं लगेगी। क्या मेरी प्रतीति विश्वसनीय है?

मुझे मालूम नहीं कि वह ऐसी है या नहीं। इसके पूर्व कि कोई इतना सुरक्षित हो सके उसे मार्ग पर बहुत दूर तक आगे बढ़ना होता है।

४-१-१९३७

*

"परंतु जिनके पास आवश्यक आधार एवं पाया है उन्हें हम, इसके विपरीत, यह कहते हैं कि 'अभीप्सा करो और खींचो'।"[२]

क्या अभीप्सा करने और खींचने की यह क्षमता पहले से की जा चुकी महान् प्रगति की सूचक है?

नहीं। तुलनात्मक दृष्टि से यह एक आरंभिक अवस्था है।

५-१-१९३७

*

"आध्यात्मिक अनुभव का अर्थ है अपने अंदर (या अपने बाहर, जो उस क्षेत्र में एक ही बात है) भगवान् के साथ संपर्क।"[३]

अपने "बाहर" स्थित भगवान् का क्या अर्थ है? क्या इसका अर्थ है विश्वगत भगवान् या परात्पर भगवान् या दोनों?

इसका अर्थ है बाहर पदार्थों, सत्ताओं, घटनाओं आदि, आदि में प्रत्यक्ष किये गये भगवान्।

९-१-१९३७

*

[१] वही, पृ. २० [२] वही, पृ. १८ [३] वही, पृ. ३८

क्या 'जॉन ऑफ आर्क' की प्रकृति दो 'प्रधान देवदूतों', 'अधिमानस'[१] की दो सत्ताओं, के साथ उनके संबंध के कारण कुछ भी रूपांतरित हुई थी?

मैं नहीं देख पाता कि रूपांतर का प्रश्न यहां कैसे घुस आया। 'जॉन ऑफ आर्क' योग का अभ्यास या रूपांतर की अभीप्सा नहीं कर रही थीं।

९-१-१९३७

*

अधिक गहरे स्रोत से आनेवाले स्वप्न में और एक दिव्यदर्शन[२] में व्यक्ति कैसे भेद कर सकता है?

इसके लिये कोई कसौटी नहीं है, परंतु यदि कोई निद्रा में नहीं बल्कि उस आंतरिक अवस्था में हो, जिसमें अधिकतर दिव्यदर्शन होते हैं, तो उस समय उसपर जो संस्कार पड़ता है उसके स्वरूप के द्वारा वह सहज ही भेद कर सकता है। स्वप्न में प्राप्त दिव्यदर्शन और जीवन्त स्वप्न-अनुभव में भेद करना अधिक कठिन है, परंतु व्यक्ति भेद अनुभव करने लगता है।

९-१-१९३७

*

कभी तो मनुष्य स्वप्नों को याद रखता है और कभी नहीं।[३] ऐसा क्यों होता है?

यह जागने के समय चेतना की दो अवस्थाओं में संबंध पर निर्भर करता है। सामान्यतया चेतना का एक ऐसा पलटाव होता है जिसमें स्वप्नावस्था कम या अधिक ऊबड़-खाबड़ ढंग से विलुप्त हो जाती है, और स्वप्न की घटनाओं ने अन्नमय कोष पर जो क्षणभंगुर छाप डाली होती है उसे (या वस्तुतः उन घटनाओं के प्रतिलेख को) मिटा देती है। यदि जागरण अधिक शांत (कम ऊबड़-खाबड़) ढंग से हो या, यदि छाप बहुत प्रबल हो, तो कम-से-कम अंतिम स्वप्न की स्मृति रहती है। इनमें से अंतिम अवस्था में (अर्थात् छाप के प्रबल

[१] वही, पृ. ३९ [२] वही, पृ. ३२ [३] वही, पृ. ३३

होने पर) मनुष्य स्वप्न को चिरकाल तक याद रख सकता है, किन्तु सामान्यतया उठने के बाद स्वप्न की स्मृतियां मिट जाती हैं। जो लोग अपने स्वप्न याद करना चाहते हैं वे कभी-कभी (जागने के बाद) शांत लेटे रहने और स्मृति में पीछे जाकर स्वप्न का सन्धान करने का अभ्यास करते हैं और इस प्रकार वहां स्वप्नों को एक-एक करके फिर से पा लेते हैं। जब स्वप्नावस्था बहुत हलकी-फुलकी होती है तब मनुष्य अधिक स्वप्न याद कर सकता है, अपेक्षा इसके कि जब वह बोझिल होती है।

९-१-१९३७

*

"अब तुम्हारे पास ऐसी कोई चीज नहीं रही जिसे तुम अपनी कह सको; तुम प्रत्येक वस्तु को भगवान् से आती अनुभव करते हो, और उसे तुम्हें वापिस उसके मूल स्रोत की भेंट कर देना होगा। जब तुम यह अनुभव प्राप्त कर सकोगे तब तुम देखोगे कि छोटी-से छोटी वस्तु भी, जिसपर तुम सामान्यतया बहुत ध्यान नहीं देते या जिसकी बहुत परवाह नहीं करते, तुच्छ एवं निरर्थक नहीं रह जाती; वह अर्थपूर्ण हो जाती है और परे के विशाल क्षितिज को खोल देती है।"[1]

क्या यह अवस्था "अभीप्सा करो और खींचो"—इस जितनी आरंभिक अवस्था है?

इतनी आरंभिक नहीं।

१४-१-१९३७

*

"परंतु यदि हम चाहते हैं कि भगवान् यहां शासन करें तो हमारे पास जो कुछ है, हम जो कुछ हैं और जो कुछ यहां करते हैं वह सब हमें भगवान् को दे देना होगा।"[2]

यदि कोई यह पूर्णतया कर ले तो क्या उसे और कुछ भी करना होता है?

[1] वही, पृ. ४८ [2] वही, पृ. ५१

नहीं। परंतु इसे पूर्णरूप से करना आसान नहीं।

१४-१-१९३७

*

कैसे हम यह पहचान सकते हैं कि कोई व्यक्ति वह सब भगवान् को दे देता है जो उसके पास है और जो वह है तथा जो वह करता है?

तुम नहीं पहचान सकते, जबतक तुममें अन्तर्दृष्टि न हो।

१४-१-१९३७

*

"क्योंकि संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसका अन्तिम सत्य और आश्रय भगवान् में न हो।"[१]

इस बात को अनुभव के द्वारा पूर्ण रूप से जान लेना बहुत महान् उपलब्धि, शायद अन्तिम उपलब्धि प्राप्त कर लेना है; क्या मेरा कहना ठीक है?

हां।

१९-१-१९३७

*

"स्पष्ट ही, जो कुछ हुआ है वह होना ही था; वह हुआ ही न होता यदि वह अभिप्रेत न होता।"[२]

तो फिर, मनुष्य के जीवन में पश्चात्ताप का क्या स्थान है? क्या साधक के जीवन में उसका कोई स्थान है?

पश्चात्ताप का स्थान भविष्य के लिये उसके प्रभाव में है—यदि वह प्रकृति को उस प्रकार की वस्तुस्थिति से पराङ्मुख होने के लिये प्रेरित करे जिसने घटना को उत्पन्न किया था। परंतु साधक के लिये पश्चात्ताप नहीं, बल्कि क्रिया में

[१] वही, पृ. ५५ [२] वही, पृ. ५५

गलती को स्वीकार करना और उसके फिर से न होने की जरूरत महसूस करना आवश्यक है।

१९-१-१९३७

*

"तुम कर्म की ृंखला से बंधे हो, और वहां, उस ृंखला में, जो भी घटना घटती है वह कठोर नियम के अनुसार उसका परिणाम होती है जो पहले किया जा चुका है।"[१]

क्या "पहले" का अर्थ है सभी विगत जीवनों में, बिलकुल पहले जीवन से लेकर इस जीवन तक में?

इसका अर्थ है वस्तुओं को समष्टि-रूप में ग्रहण करना। दार्शनिक अर्थ में, जो कुछ घटित होता है वह, काम करने के क्षण से पहले जो कुछ भी हो चुका है उस सबका परिणाम होता है। व्यावहारिक दृष्टि से, तत्तत् परिणामों के भूतकाल में तत्तत् (विशेष) पूर्वकारण होते हैं और यही उन परिणामों के निर्धारक कहे जाते हैं।

(ये उद्धरण कहां से लिये गये हैं? किसी वाक्य के ठीक-ठीक आशय में कभी-कभी बहुत कुछ प्रकरण पर निर्भर करता है।[२])

१९-१-१९३७

*

"बहुत-से लोग तुम्हें इस विषय में अद्‌भुत कहानियां सुनायेंगे कि इस जगत् की रचना किस प्रकार हुई और भविष्य में इसका प्रवाह कैसे चलेगा, तुम भूतकाल में कैसे और कहां जन्मे थे और आगे क्या बनोगे, कैसे-कैसे जीवन तुम जी चुके हो और अभी कैसे-कैसे जीवन जीओगे। इस सबका आध्यात्मिक जीवन से कुछ भी संबंध नहीं।"[३]

ऐसे लोग जो कुछ कहते हैं वह सब क्या निरा पाखण्ड है? क्या

[१] वही पृ. ५८

[२] श्रीअरविन्द की इस टिप्पणी से स्पष्ट ही है कि इस प्रश्नमाला के उत्तर के समय उन्हें पता नहीं था कि प्रश्नों में उद्धृत वचन माताजी की पुस्तक Conversations (कॉन्वर्सेशन्स, मातृवाणी—वार्तालाप) से लिये गये हैं।

[३] वही, पृ. ७६

आध्यात्मिक प्रक्रिया से भिन्न कोई और प्रक्रिया भी है जिसके द्वारा मनुष्य इन सब चीजों को जान सके?

प्रायः ही वह सब पाखण्ड होता है, किन्तु यदि वह ठीक हो भी तो भी उसमें आध्यात्मिक तत्त्व कुछ भी नहीं होता। अनेकों माध्यम, अतीन्द्रियदर्शी या विशिष्ट-योग्यता से संपन्न व्यक्ति तुम्हें ये चीजें बताया करते हैं। वह योग्यता भी उसी तरह आध्यात्मिकता से रहित है जिस प्रकार पुल बनाने या स्वादु खाद्य तैयार करने या गणित का प्रश्न हल करने की क्षमता। बौद्धिक क्षमताएं भी होती हैं और गुह्य क्षमताएं भी—बस इतना ही।

२०-१-१९३७

*

"वे (पैशाचिक सत्ताएं) मानवी नहीं होतीं; उनका रूप या बाह्याकार ही मनुष्य-जैसा होता है।... उनका तरीका यह है कि पहले तो वे किसी मनुष्य पर अपना प्रभाव जमाने का प्रयत्न करती हैं; फिर वे धीमे-धीमे उसके वातावरण में घुस आती हैं और अंत में वे उसके वास्तविक मानव-आत्मा और व्यक्तित्व को सर्वथा बाहर निकाल कर उसे पूर्ण रूप से अधिकार में ले आ सकती हैं।"[१]

'क्ष' ने एक लड़की से विवाह किया है जिसके विषय में माताजी ने कहा है कि वह कुछ हद तक पिशाच-जैसी है। तो क्या वह इन सब संकटों से घिरा है? उसे क्या सावधानियां बरतनी चाहियें? क्या मैं उसे चेता दूं?

सर्वप्रथम यहां जो कुछ अभिप्रेत है वह यह नहीं कि पिशाच या प्राणिक सत्ता किसी एक मनुष्य के शरीर पर अधिकार जमाये होने पर भी फिर एक और मनुष्य को अपने अधिकार में करने का यत्न करती है। यह सब तो केवल इस बात का वर्णन है कि कैसे एक देहरहित (पैशाचिक) प्राणिक मानव सत्ता शरीर में साधारण ढंग से जन्म लिये बिना उसे अपने कब्जे में कर लेती है—क्योंकि ऐसी प्राणिक सत्ताओं की यही इच्छा होती है, मानव शरीर को अधिकृत करना पर जन्म के तरीके से नहीं। जब एक बार वे इस प्रकार मानवी आकार ग्रहण कर लेती हैं तो दूसरों के लिये वे संकट-रूप इसलिये होती हैं कि जो

[१] वही, पृ. ७८-७९

लोग उनके संपर्क में होते हैं उनकी प्राणशक्ति को ही वे अपना आहार बनाती है—बस इतना ही।

दूसरे, इस उदाहरण में, माताजी ने केवल यही कहा है कि कुछ हदतक पिशाच-सी। उसका यह अर्थ नहीं कि वह इन सत्ताओं में से ही एक है, वरन् यह कि उसमें कुछ हदतक दूसरों की प्राण-शक्ति से अपना पोषण ग्रहण करने की आदत है। 'क्ष' को कुछ कहने की कोई जरूरत नहीं। इस बात से उसे केवल क्षोभ ही होगा, सहायता तो जरा भी नहीं मिलेगी।

२१-७-१९३७

*

अपनी पुस्तक "Conversations" ("कॉन्वर्सेशन्स", मातृवाणी—वार्तालाप) में माताजी कहती हैं कि योग का पहला परिणाम होता है मानसिक नियंत्रण को हटा देना। फलत:, जो विचार और कामनाएं इतने लंबे समय तक दबी पड़ी थीं वे आश्चर्यजनक रूप से प्रबल हो उठती हैं और कठिनाइयां पैदा करती हैं।[1]

पहले वे (कामनाएं एवं विचार) इसलिये प्रबल नहीं थे कि उन्हें कुछ-कुछ तुष्ट किया जा रहा था या कम-से-कम प्राण सामान्यतया किसी-न-किसी ढंग से उनका उपभोग कर रहा था। जब उनका पूर्ववत् उपभोग नहीं किया जाता तो वे दुर्दम हो उठते हैं। परंतु वे कोई ऐसी नयी शक्तियां नहीं होते जो योग द्वारा उत्पन्न की गयी हों—वे सब समय ही वहां थे।

मानसिक नियंत्रण के हटा देने का अभिप्राय यह है कि मन उन्हें केवल काबू में रखता था पर दूर नहीं कर सकता था। इसलिये योग में मानसिक संयम के स्थान पर चैत्य या आध्यात्मिक संयम प्रतिष्ठित करना होता है जो वह कार्य कर सकता है जिसे मन नहीं कर सकता, केवल इतनी बात है कि बहुतेरे साधक इस परिवर्तन को समय पर नहीं करते और केवल मानसिक संयम को हटा भर लेते हैं।

१२-५-१९३३

*

[1] वही, पृ. १७

अपनी पुस्तक "Conversations" ("वार्तालाप")[१] में माताजी कहती हैं : "जो कोई हंसता, कूदता या चिल्लाता है उसको ऐसा भान होता है कि कारण चाहे जो कुछ भी क्यों न हो पर उसकी वह उत्तेजना अत्यन्त असाधारण प्रकार की है और उसकी प्राण-प्रकृति इसमें बड़ा सुख मानती है।" क्या उनके कहने का मतलब यह है कि आध्यात्मिक अनुभूति होने पर मनुष्य को अपनी उत्तेजना संयमित करके साधारण स्थिति में बने रहना चाहिये, असाधारण स्थिति में नहीं?

माताजी का बिलकुल ही यह मतलब नहीं था कि मनुष्य को अपनी उत्तेजना को संयमित कर सामान्य स्थिति में बने रहना चाहिये—उनका मतलब था कि वह मनुष्य केवल उत्तेजित ही नहीं होता बल्कि अपनी उत्तेजना में सबसे भिन्न (असाधारण) होना चाहता है। स्वयं उत्तेजना भी बुरी है और असाधारण प्रतीत होने की इच्छा तो और भी बुरी है।

७-६-१९३३

भगवान् को भोजन अर्पण करना

'मातृवाणी' में आये हुए इस वाक्य से माताजी का क्या मतलब है : "जब तुम खाते हो तब तुम्हें यह अवश्य अनुभव करना चाहिये कि स्वयं भगवान् ही तुम्हारे द्वारा खा रहे हैं?"[२]

इसका अर्थ है भोजन अहंकार या कामना को नहीं बल्कि भगवान् को अर्पण करना जो सभी क्रियाओं के पीछे विद्यमान हैं।

११-१-१९३५

*

"Conversations" ("कॉन्वर्सेशन्स", मातृवाणी–वार्तालाप) में माताजी विचारों की शक्ति की चर्चा करती हैं और उदाहरण देती हैं कि यदि "तुम्हारी यह तीव्र इच्छा है कि अमुक मनुष्य तुम्हारे पास आये, और इच्छा के इस प्राणमय आवेग के साथ-साथ यदि तुम्हारी बनायी मानसिक रचना के संग एक बलवती कल्पना भी जुड़ी हुई हो... और यदि तुम्हारी

[१] वही, पृ. २८ [२] वही, पृ. ४८

विचाररूपी रचना में पर्याप्त इच्छाशक्ति हो, यदि वह एक सुनिर्मित रचना हो तो वह अपना उद्देश्य सिद्ध कर ही लेगी।"[१]

मान लें कि प्रस्तुत उदाहरण में प्राण के अंदर कोई प्रबल कामना न हो पर मन में केवल विचार या धुंधली कल्पनाएं हों तो क्या वे उस व्यक्ति के पास जाकर उसे आने को प्रेरित करेंगी?

वे ऐसा कर सकती हैं; विशेषकर यदि वह व्यक्ति स्वयं भी आने को इच्छुक हो तो वे उसे निर्णायक धक्का दे सकती हैं। परंतु अधिकतर दृष्टांतों में विचार-शक्ति के पीछे कामना या संकल्प की आवश्यकता होगी ही।

२६-८-१९३६

*

"Conversations" ("कॉन्वर्सेशन्स", मातृवाणी—वार्तालाप) में माताजी कहती हैं कि विषाद और अनुत्साह नाड़ी-कवच में छेद कर देते हैं और साथ ही उनके कारण विरोधी आक्रमणों का होना अधिक आसान हो जाता है।[२] *एक अर्थ में इसका मतलब हुआ कि एक सदाशयी व्यक्ति को किसी के गलत विचारों, आवेगों या चेष्टाओं को निरुत्साहित नहीं करना चाहिये। परंतु क्या यह साधारण जीवन तथा साधना के सिद्धांतों के विपरीत नहीं होगा? ऐसे लोगों के साथ बरताव करते समय चुप रहना भी एक तरीका है, परंतु कभी-कभी वह भी उन्हें साफ-साफ निरुत्साहित करने की अपेक्षा अधिक चोट पहुंचाता है।*

विषाद और अनुत्साह के जिन बुरे परिणामों की ओर माताजी ने इंगित किया है, क्या वे साधारण जीवन में भी घटित होंगे?

नाना प्रकार के विषाद के परिणाम के विषय में साधक को दिये गये ज्ञान का उद्देश्य यह है कि वह इन चीजों से बचना सीखे। वह लोगों से यह आशा नहीं कर सकता कि वे उसकी विफलताओं या भूलों के विषय में केवल इस कारण चिकनी-चुपड़ी बातें करें या उसकी दुर्बलताओं को केवल इसलिये प्रश्रय दें कि उसने विषाद में ग्रस्त होने की तथा वैसी अवस्था में अपने नाड़ी-कवच को चोट पहुंचाने की आदत डाल रखी है। अपने को विषाद से मुक्त रखना उसका काम है न कि दूसरों का। उदाहरण के लिये, कुछ लोगों की आदत है कि यदि

[१] वही, पृ. ९३-९४ [२] वही, पृ. १६२

माताजी उनकी इच्छाएं पूरी नहीं करतीं तो वे उदास हो जाते हैं—इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि उन्हें खुश रखने के लिये माताजी को उनकी इच्छाएं पूरी करनी ही चाहियें—उन्हें मन की इस आदत से छुटकारा पाना सीखना होगा। अपने सभी कामों के लिये प्रोत्साहन या प्रशंसा पाने की लोगों की इच्छा के बारे में भी यही बात है। मनुष्य यह कर सकता है कि वह चुप रहे या हस्तक्षेप न करे, किन्तु यदि इससे भी उनका चित्त खिन्न हो जाये तो यह उनका अपना दोष है, किसी और का नहीं।

निःसन्देह, साधारण जीवन में भी यही बात है,—विषाद सदैव हानिकारक होता है। पर साधना में वह अधिक भयावह होता है क्योंकि वह लक्ष्य की ओर निर्विघ्न एवं द्रुत प्रगति में प्रबल बाधा बन जाता है।

१८-७-१९३६

*

"Entretiens"[१] *(आँत्रतिएं) में माताजी कहती हैं, "Même ceux qui ont la volonté de s'enfuir, quand ils arrivent de l'autre côté, peuvent trouver que la fuite ne sert pas â grand' chose après tout."*[२] *अर्थात् जिन लोगों की इच्छा यहां से भाग जाने की है वे भी जब उस पार पहुंचेंगे तो यह अनुभव कर सकते हैं कि आखिर भाग आने का कोई विशेष फल नहीं हुआ।) इस वाक्य में "arrivent de l'autre côté," का क्या अभिप्राय है? क्या इसका यह मतलब है कि "जब वे इस लोक में आते हैं" या "जब वे उस 'नीरवता के लोक' में जाते हैं जिसका उन्होंने साक्षात्कार किया था"?*

नहीं—"arrivent de l'autre côté," का अर्थ इतना ही है कि "जब वे मर जाते हैं"। माताजी का आशय यह था कि जब वे सचमुच में निर्वाण में पहुंचते हैं तो अनुभव करते हैं कि यह अन्तिम समाधान नहीं या परम प्रभु का बृहत्तम साक्षात्कार नहीं, और अंत में उन्हें उस बृहत्तम साक्षात्कार तक पहुंचने के लिये वापिस आना और जगत्कार्य में अपना हिस्सा बंटाना होगा।

२-५-१९३५

*

[१] माताजी की "Conversations" का फ्रेंच अनुवाद।

[२] मातृवाणी—वार्तालाप, पृ. ५१

"Entretiens" ("आँत्रतिऐं", "वार्तालाप") में माताजी ने कहा है: "वास्तव में, मृत्यु भूतल पर जीवनमात्र के साथ जुड़ी हुई है।"[१] "वास्तव में" और "जुड़ी हुई"—ये शब्द हम पर यह छाप डालने की प्रवृत्ति रखते हैं कि आखिर मृत्यु अटल है। परंतु इससे पहले का वाक्य—"यदि इस विश्वास को पहले सचेतन मन से... बाहर निकाला जा सके तो मृत्यु अटल नहीं रहेगी"[२]—अर्थ की सन्दिग्धता को ले आता है क्योंकि यह मृत्यु को उतना अटल रूप नहीं देता; यह एक शर्त—एक "यदि"—को जोड़ देता है जिससे मृत्यु को टाला जा सकता है। परंतु "वास्तव में"—इन पदोंवाले वाक्य में अर्थ की जो सुनिश्चितता आती है वह मनुष्य की भौतिक अमरत्व की आशा को अपेक्षाकृत हलका कर देती है। और फिर, दूसरे वाक्य की "यदि" वाली शर्त इतनी विकट है कि उसे पूरा ही नहीं किया जा सकता।

मुझे तो इसमें कोई संदिग्धार्थता नही दिखाई देती। "वास्तव में" और "जुड़ी हुई"—ये शब्द अपरिहार्यता का कोई भाव नहीं सूचित करते। "वास्तव में" का अर्थ इतना ही है कि एक तथ्य के रूप में, वस्तुतः, आज जैसी वस्तुस्थिति है उसमें (भूतल पर) समस्त जीवन के साथ मृत्यु उसके अंत के रूप में जुड़ी हुई है; किंतु यह इस विचार को तनिक भी द्योतित नहीं करता कि इससे उलटी बात कभी नहीं हो सकती या यह समस्त जीवन का अपरिवर्तनीय नियम है। कुछ कारणों से जिनका प्रतिपादन यहां किया गया है—कुछ एक मानसिक एवं भौतिक अवस्थाओं के कारण—वर्तमान में यह एक तथ्य है, यदि ये परिवर्तित हो जायें तो फिर मृत्यु अटल नहीं रहेगी। स्पष्ट ही, यह परिवर्तन केवल तभी आ सकता है "यदि" कुछ शर्तें पूरी की जायें—क्रमविकास के द्वारा साधित समस्त प्रगति एवं परिवर्तन एक "यदि" या शर्त पर निर्भर करता है जो पूरी हो जाती है। यदि पशुगत मन को वाणी और तर्कबुद्धि का विकास करने के लिये प्रवेग न मिला होता तो मनोमय मनुष्य कभी अस्तित्व में न आता,—परंतु वह "यदि"—एक बड़ी भारी और विकट शर्त पूरी हो ही गयी। और आगे की प्रगति के लिये शर्त बांधनेवाली "यदियों" की भी यही बात है।

३१-७-१९३६

[१] वही, पृ. ६९ [२] वही, पृ. ६९

तृतीय भाग

प्रार्थना और ध्यान

यह संचयन माताजी की पुस्तक 'प्रार्थना और ध्यान' में से केवल उन प्रार्थनाओं को लेकर किया गया है जिनका अनुवाद श्रीअरविन्द ने मूल फ्रेंच से अंग्रेजी में किया था।

प्रार्थना और ध्यान

२ नवंबर १९१२

हे परमोच्च स्वामी, जो सभी वस्तुओं में जीवन, प्रकाश और प्रेम है, यद्यपि सिद्धांत रूप में मेरी सारी सत्ता तुझे समर्पित है, फिर भी इस समर्पण को विस्तार में कार्यान्वित करना मुझे कठिन लगता है। मुझे यह जानने में कई सप्ताह लगे कि इस लिखित ध्यान का कारण और उसका औचित्य इस तथ्य में है कि उसके द्वारा मैं प्रतिदिन तुझे संबोधित कर पाऊं। इस तरह मैं प्रायः तेरे साथ जो वार्तालाप किया करती हूं उसके कुछ अंश को भौतिक रूप दे सकूंगी। मैं तेरे सामने, जहांतक हो सके अच्छी तरह अपनी स्वीकारोक्ति को रख सकूंगी, इसलिये नहीं कि मैं सोचती हूं कि मैं तुझसे कुछ कह सकती हूं —क्योंकि तू स्वयं ही तो सब कुछ है, बल्कि इसलिये कि हमारे देखने और समझने का कृत्रिम और बाह्य तरीका—अगर यह कहा जा सके—तेरे लिये पराया है, तेरे स्वभाव से विपरीत है। फिर भी तेरी ओर मुड़कर, जब मैं इन चीजों पर विचार करते हुए जिस क्षण तेरे प्रकाश में अपने-आपको निमज्जित करती हूं, तो मैं थोड़ा-थोड़ा करके उन्हें उस तरह देखने लगती हूं जैसी कि वे सचमुच हैं—उस दिनतक, जब अपने-आपको तेरे तादात्म्य में एक न कर लूं, जब मेरे पास तुझसे कहने के लिये कुछ भी न बचे, क्योंकि तब मैं तू बन जाऊंगी। यह वह लक्ष्य है जहां मैं पहुंचना चाहती हूं; मेरे सारे प्रयास इसी विजय की ओर अधिकाधिक अभिमुख होंगे। मैं उस दिन के लिये अभीप्सा करती हूं जब मैं "मैं" न कह सकूंगी, क्योंकि मैं "तू" होऊंगी।

अभीतक दिन में कितनी बार मैं अपने कार्य तुझे अर्पित किये बिना ही किया करती हूं। मैं उसके बारे में तुरंत एक वर्णनातीत बेचैनी से अवगत होती हूं जो मेरे शरीर की संवेदनशीलता में हृदय की पीड़ा द्वारा अनूदित होती है। तब मैं अपनी क्रिया को अपने लिये ही वस्तुगत बना लेती हूं और वह मुझे बेतुकी, बचकानी या निन्दनीय मालूम होती है। मैं उसके लिये खेद करती हूं, क्षण भर के लिये दुःखी होती हूं, जबतक कि मैं तेरे अंदर डुबकी लगाकर, वहां एक बच्चे के विश्वास के साथ अपने-आपको खोकर, अपने अंदर और अपने चारों ओर की भूल-भ्रांति को ठीक करने के लिये तेरी ओर से आनेवाली आवश्यक प्रेरणा और शक्ति के लिये प्रतीक्षा न करूं—दोनों चीजें एक हैं क्योंकि अब मुझे उस वैश्व ऐक्य की सतत और यथार्थ दृष्टि प्राप्त है जो सभी

क्रियाओं की संपूर्ण पारस्परिक निर्भरता का निर्णय करता है।

*

३ नवंबर १९१२

तेरा प्रकाश मेरे अंदर एक जीवनदायिनी अग्नि की तरह हो और तेरा दिव्य प्रेम मेरे अंदर प्रवेश करे। मैं अपनी पूरी सत्ता के साथ अभीप्सा करती हूं कि तू परम प्रभु और मेरे मन, हृदय और शरीर के स्वामी के रूप में राज्य करे; वर दे कि वे तेरे विनीत यंत्र और निष्ठावान् सेवक बनें।

*

१९ नवंबर १९१२

कल मैंने उस अंग्रेज से जो तुझे बड़ी सच्ची इच्छा के साथ खोज रहा था, कहा कि मैंने तुझे निश्चित रूप से पा लिया है और हमारा ऐक्य निरंतर है। सचमुच जिस अवस्था के बारे में मैं सचेतन हूं वह ऐसी ही है। मेरे सभी विचार तेरी ओर जाते हैं, मेरे सभी कर्म तुझे ही अर्पित हैं। मेरे लिये तेरी उपस्थिति चरम, अविकार और अचल तथ्य है और तेरी शांति सदा-सर्वदा मेरे हृदय में निवास करती है। फिर भी मैं जानती हूं कि ऐक्य की यह स्थिति, कल जिसे पाना मेरे लिये संभव होगा उसकी तुलना में, तुच्छ और अस्थिर है और मैं अभी तक उससे दूर, निस्संदेह बहुत दूर हूं उस तादात्म्य से जिसमें मैं पूरी तरह "मैं" के भाव को खो दूंगी, उस "अहं" को जिसका उपयोग मैं अब भी अपना भाव प्रकट करने के लिये करती हूं लेकिन जो हर बार कृत्रिम उपयोग होता है, मानों वह एक ऐसी परिभाषा हो जो उस विचार को अभिव्यक्त करने में असमर्थ है जो अभिव्यक्त होना चाहता है। मुझे यह मानव संपर्क के लिये अनिवार्य मालूम होता है लेकिन सब कुछ इसपर निर्भर है कि यह "मैं" किसे अभिव्यक्त करता है; और अब भी कितनी ही बार जब मैं इसका उच्चारण करती हूं तो मेरे अंदर से तू बोलता है क्योंकि मैं पृथक् होने का भाव खो चुकी हूं।

लेकिन यह सब अभी भ्रूण अवस्था में है और पूर्णता की ओर बढ़ता चलेगा। कैसा संतोषजनक आश्वासन है तेरी "सर्वशक्तिमत्ता" के अंदर शांत विश्वास में।

तू सब कुछ है, सब जगह है, सब में है और यह शरीर जो कर्म करता

है, तेरा अपना शरीर है, उसी तरह जैसे यह दृश्य विश्व पूरी तरह से तू है; इस पदार्थ में, जो तू होते हुए भी तेरा तत्पर और स्वेच्छापूर्वक सेवक बनना चाहता है, तू ही है जो श्वास लेता है, सोचता है और प्रेम करता है।

*

२६ नवंबर १९१२

मैं हर क्षण तेरी ओर कृतज्ञता-प्रकाशन के गीत कैसे न गाऊं! हर जगह और मेरे चारों ओर हर चीज में तू अपने-आपको प्रकट करता है और मेरे अंदर तेरी इच्छा और तेरी चेतना अपने-आपको अधिकाधिक स्पष्टता से प्रकट करती हैं, यहांतक कि मैं लगभग पूरी तरह "मैं" और "मेरे" का स्थूल भ्रम खो बैठती हूं। अगर उस महान् प्रकाश में, जो तुझे अभिव्यक्त करता है, कुछ छायाएं और कुछ त्रुटियां दिखायी दें, तो वे तेरे देदीप्यमान प्रेम की अद्भुत दीप्ति को लंबे समय तक कैसे सह सकेंगी? तू जिस तरह से उस सत्ता को गढ़ रहा है जो "मैं" थी; आज सवेरे उसकी जो चेतना मुझे प्राप्त हुई, मोटे तौर पर उसे यूं कहा जा सकता है कि वह एक बड़ा हीरा था जिसे नियमित ज्यामिति के आकारों में तराशा गया था, जो संसक्ति, दृढ़ता, शुद्ध स्वच्छता, पारदर्शकता की दृष्टि से तो हीरा था लेकिन अपनी तीव्र, सदा प्रगतिशील जीवन की दृष्टि से तेजस्वी, कांतिमय ज्वाला था, लेकिन वह था उससे भी कुछ अधिक, उस सबसे अधिक अच्छा था; बाहरी और भीतरी प्रायः सभी संवेदनों का अतिक्रमण हो गया और जब मैं बाहरी जगत् के साथ सचेतन संपर्क की ओर लौटी तो मेरे मन में केवल वही एक छवि बनी रही।

तू ही अनुभूति को उर्वर, तू ही जीवन को प्रगतिशील बनाता है, तू ही प्रकाश के आगे अंधकार को निमिष मात्र में विलीन हो जाने के लिये बाधित करता है, तू ही प्रेम को उसकी सारी शक्ति प्रदान करता है, तू ही हर जगह जड़ पदार्थ को इस तीव्र और अद्भुत अभीप्सा में, अनंतता की इस लोकोत्तर तृषा में जगाता है।

"तू" ही सब जगह और सदा; सार-तत्त्व और अभिव्यक्ति में, "तेरे" सिवा कुछ भी नहीं।

हे छाया और भ्रम-भ्रांति घुल जाओ। हे दुःख-कष्ट, मुरझाते हुए अदृश्य हो जाओ। हे परम प्रभो, क्या तुम नहीं हो?

*

२८ नवंबर १९१२

क्या बाहरी जीवन, प्रतिदिन और प्रतिक्षण की क्रियाशीलता हमारे ध्यान और निदिध्यासन के घंटों का अनिवार्य पूरक नहीं है? और क्या हर एक को दिये गये समय का अनुपात उस अनुपात का ठीक चित्र नहीं है जो तैयारी के लिये किये गये प्रयास और उपलब्धि के बीच है? क्योंकि ध्यान, निदिध्यासन और ऐक्य प्राप्त परिणाम है—वह फूल है जो खिला है और दैनिक क्रिया-कलाप वह निहाई है जिस पर सभी तत्त्वों को शुद्ध और परिष्कृत होने के लिये बार-बार गुजरना होता है, निदिध्यासन से मिलनेवाले आलोक के लिये उन्हें नमनीय और परिपक्व बनाना होता है। इससे पहले कि बाह्य क्रिया-कलाप पूर्ण विकास के लिये अनावश्यक बने, इन सब तत्त्वों को एक के बाद एक करके कुठाली में से गुजरना होगा। तब यह क्रियाशीलता तुझे अभिव्यक्त करने के साधन में बदल जायेगी ताकि चेतना के अन्य केन्द्रों को भट्ठी और प्रदीप्ति के समान दोहरे कार्य के लिये जगाया जा सके। इसीलिये घमंड और आत्मसंतोष सबसे बुरी बाधाएं हैं। हमें बड़े विनीत भाव से अगणित तत्त्वों में से कुछ को गूंधने और शुद्ध बनाने के छोटे-से-छोटे अवसर का लाभ उठाना चाहिये ताकि उनमें से कुछ को हम सुनम्य और निर्वैयक्तिक बना सकें, उन्हें अपने-आपको भूलना, आत्म-त्याग, भक्ति, कोमलता और सौम्यता सिखा सकें। और जब सत्ता के ये सब तरीके अभ्यासगत हो जायें तो मनन-चिंतन में भाग लेने के लिये और तेरे साथ परम एकाग्रता में एक होने के लिये वे तैयार होते हैं। इसलिये मुझे लगता है कि सबसे अच्छों के लिये भी काम लंबा और धीमा होगा और असाधारण परिवर्तन सर्वांगीण नहीं हो सकते। वे सत्ता के दिग्विन्यास को बदल देते हैं, वे उसे निश्चित रूप से सीधे रास्ते पर ले आते हैं परंतु सचमुच लक्ष्य पाने के लिये कोई भी व्यक्ति हर क्षण, हर तरह की अनगिनत अनुभूतियों से नहीं बच सकता।

... हे परमोच्च प्रभो, जो मेरी सत्ता में और हर चीज में चमकता है, वर दे कि तेरा प्रकाश अभिव्यक्त हो और सबके लिये तेरी शांति का राज्य आये।

*

२ दिसंबर १९१२

जबतक सत्ता का एक भी तत्त्व, विचार की एक भी लहर बाहरी प्रभावों के आधीन है, पूरी तरह तेरे आधीन नहीं है, तबतक यह नहीं कहा जा सकता कि सच्चा ऐक्य सिद्ध हो गया है। अभीतक भयंकर मिश्रण है जिसमें कोई व्यवस्था या प्रकाश नहीं है—क्योंकि वह तत्त्व, वह लहर एक जगत् है, अव्यवस्था और अंधकार का जगत्, उसी तरह जैसे जड़-भौतिक जगत् के अंदर समस्त पृथ्वी, जैसे समस्त विश्व के अंदर जड़-भौतिक जगत्।

*

३ दिसंबर १९१२

पिछली रात मुझे तेरे पथ-प्रदर्शन के प्रति विश्वासपूर्ण समर्पण की प्रभावशीलता का अनुभव हुआ। जब यह जरूरी हो कि कोई चीज जानी जाये तो हम उसे जान लेते हैं और मन तेरे प्रकाश के प्रति जितना अधिक निश्चेष्ट हो, अभिव्यक्ति उतनी ही अधिक स्पष्ट और अधिक पर्याप्त होती है।

कल तू जो कुछ मेरे अंदर बोला था, उसे मैंने सुना, मैंने चाहा कि तूने जो कुछ कहा मैं उस सारे को लिख लूं ताकि तेरा दिया हुआ सूत्र अपनी यथार्थता में गुम न हो जाये—क्योंकि अब मैं उस समय जो कहा गया था उसे दोहरा न सकूंगी। फिर मैंने सोचा कि सुरक्षित रखने का यह विचार तेरे प्रति विश्वास का अपमानजनक अभाव है, क्योंकि तू मुझे वह सब बना सकता है जो कुछ होने की मुझे जरूरत है; और उतनी मात्रा में जितनी में मेरी मनोवृत्ति तुझे मेरे ऊपर और मेरे अंदर काम करने दे, तेरी सर्वशक्तिमत्ता की कोई सीमा नहीं। यह जानना कि हर क्षण जो होना चाहिये वह निश्चित रूप से, यथासंभव पूर्णता के साथ उन सबके लिये होता है जो तुझे हर चीज में और हर जगह देखना जानते हैं! अब और कोई भय नहीं, और कोई परेशानी नहीं, और कोई तीव्र व्यथा नहीं; पूर्ण प्रसन्नता के सिवा कुछ नहीं—पूर्ण विश्वास, परम निष्कम्प शांति।

*

५ दिसम्बर १९१२

शांति और नीरवता में शाश्वत प्रकट होते हैं, किसी चीज से, तुम अपने-आपको क्षुब्ध न होने दो तो शाश्वत अभिव्यक्त होंगे। सभी के आगे पूर्ण समानता रखो तो शाश्वत उपस्थित होंगे... हां, हमें बहुत अधिक तीव्रता न रखनी चाहिये, तुझे खोजने का बहुत अधिक प्रयास न करना चाहिये; प्रयास और तीव्रता तेरे सामने पर्दा बन जाते हैं। हमें तुझे देखने की इच्छा न करनी चाहिये क्योंकि वह एक मानसिक हलचल है जो तेरी शाश्वत उपस्थिति को धुंधला बना देती है; संपूर्ण शांति, निरभ्रता और समानता में सब कुछ तू होता है, जैसे तू ही सब कुछ है और इस पूर्णतया शुद्ध और निश्चल वातावरण में जरा-सा स्पंदन भी तेरी अभिव्यक्ति में बाधक होता है। कोई जल्दबाजी नहीं, कोई बेचैनी नहीं, कोई तनाव नहीं; तू, तेरे सिवाय कुछ भी नहीं, बिना विश्लेषण के या विषयनिष्ठता के, और तू बिना किसी संभव संदेह के उपस्थित होता है क्योंकि सब कुछ पवित्र शांति और पावन नीरवता बन जाता है।

और यह संसार के सभी ध्यानों से ज्यादा अच्छा होता है।

*

७ दिसंबर १९१२

नीरवता में जलनेवाली ज्वाला की तरह, ऐसी सुगंध की तरह जो कांपे बिना सीधी ऊपर को उठती है, मेरा प्रेम उस बालक की तरह तेरी ओर जाता है जो तर्क नहीं करता, जो चिन्ता नहीं करता, मैं अपने-आपको तेरे सुपुर्द करती हूं ताकि तेरी इच्छा पूर्ण हो, कि तेरा प्रकाश अभिव्यक्त हो, तेरी शांति विकीरित हो, तेरा प्रेम सारे जगत् को ढक ले। जब तू चाहेगा मैं तेरे अंदर होऊंगी, तू होऊंगी और कोई भेद-भाव न रहेगा। मैं किसी भी तरह की अभीप्सा के बिना उस धन्य घड़ी की प्रतीक्षा करती हूं, अपने-आपको अबाध गति से उसकी ओर बहने देती हूं जैसे शांत सरिता असीम सागर की ओर बहती है।

तेरी शांति मेरे अंदर है और उस शांति में मैं शाश्वत की शांति के साथ केवल तुझे हर चीज में उपस्थित देखती हूं।

*

१० दिसंबर १९१२

हे परम प्रभो, शाश्वत गुरु, मुझे फिर से यह अवसर प्रदान किया गया है कि तेरे पथ-प्रदर्शन में पूर्ण विश्वास की अद्वितीय प्रभावकारिता को जांच सकूं। कल तेरा प्रकाश मेरे मुख द्वारा अभिव्यक्त हुआ और उसे मेरे अंदर कोई प्रतिरोध न मिला, यंत्र इच्छुक और वश्य था और उसकी धार पैनी थी।

हर चीज में और हर सत्ता में तू ही कर्ता है और जो तेरे इतने निकट हो कि सब क्रियाओं में बिना अपवाद के तुझे देख सके वह जान जायेगा कि हर क्रिया को आशीर्वाद में कैसे बदला जाये।

एकमात्र महत्त्वपूर्ण चीज है सदा तेरे अंदर निवास करना, हमेशा, सदा-सर्वदा तेरे अंदर निवास करना, इन्द्रियों के भ्रमों और धोखों के परे, काम से पीछे हटकर, उससे इंकार करके या उसे अस्वीकार करके नहीं—क्योंकि यह तो व्यर्थ का विषैला संघर्ष है—बल्कि जो भी काम क्यों न हो, उसमें सदा-सर्वदा तुझे ही जीना; तब भ्रम तितर-बितर हो जाता है, इन्द्रियों के मिथ्यात्व लुप्त हो जाते हैं, कार्य-कारण के बंधन कट जाते हैं, सब कुछ तेरी शाश्वत उपस्थिति की महिमा की अभिव्यक्ति में रूपांतरित हो जाता है।

भगवान् करे ऐसा ही हो।

*

११ दिसंबर १९१२

मैं प्रतीक्षा करती हूं, बिना उतावली के, बिना बेचैनी के, मैं एक और पर्दा फटने की और तेरे साथ अधिक पूर्ण ऐक्य की प्रतीक्षा करती हूं। मैं जानती हूं कि यह पर्दा छोटी-मोटी अपूर्णताओं, अनगिनत आसक्तियों की भरपूर राशि से बना है...। ये सब कैसे अदृश्य होंगी? धीरे-धीरे छोटे-छोटे अनगिनत प्रयासों के परिणामस्वरूप, एक क्षण के लिये भी न चूकनेवाली जागरूकता के फल-स्वरूप या अचानक तेरे "सर्वशक्तिमान् प्रेम" के महान् प्रकाश द्वारा? मैं नहीं जानती, मैं अपने-आपसे यह प्रश्न भी नहीं करती; मैं प्रतीक्षा करती हूं, जितनी अच्छी तरह हो सके निगरानी रखती हूं, इस विश्वास के साथ कि तेरी इच्छा के सिवा और किसी का अस्तित्व ही नहीं है, कि केवल तू ही कर्ता है और मैं यंत्र हूं और जब यंत्र अधिक पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये तैयार हो जायेगा तो बिलकुल स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्ति होगी।

अब भी पर्दे के पीछे से प्रसन्नता की शब्दरहित स्वर-संगति सुनायी देती है जो तेरी भव्य उपस्थिति को प्रकट करती है।

*

५ फरवरी १९१३

मेरे हृदय की निश्चलता में तेरी आवाज सुरीले राग की तरह सुनायी देती है और मेरे मस्तिष्क में ऐसे शब्दों में अनूदित होती है जो अपर्याप्त होते हुए भी तुझसे भरपूर हैं। और ये शब्द पृथ्वी को संबोधित करते हुए उससे कहते हैं : बेचारी दुःखी पृथ्वी, याद रख कि मैं तेरे अंदर उपस्थित हूं और आशा न छोड़। हर प्रयास, हर दुःख, हर खुशी, हर पीड़ा, तेरे हृदय की प्रत्येक पुकार, तेरी अंतरात्मा की हर अभीप्सा, तेरी ऋतुओं का हर पुनर्नवीकरण, सब के सब, बिना अपवाद के, जो तुझे दुःखपूर्ण लगता है और जो तुझे सुखद मालूम होता है, जो तुझे कुरूप लगता है और जो तुझे सुंदर मालूम होता है, सभी तुझे निरपवाद रूप से मेरी ओर लाते हैं और मैं अनंत शांति, छायाहीन प्रकाश, पूर्ण सामंजस्य, निश्चिति, विश्राम और परम धन्यता हूं।

सुन, हे धरित्री, उस उत्कृष्ट वाणी को सुन जो उठ रही है।

सुन और नया साहस जगा।

*

८ फरवरी १९१३

हे प्रभो, तू मेरा आश्रय और मेरा वरदान है, मेरा बल, मेरा स्वास्थ्य, मेरी आशा और मेरा साहस है। तू ही परम शांति, अमिश्रित आनंद, पूर्ण स्वच्छता है। मेरी पूरी सत्ता असीम कृतज्ञता और अनंत पूजा में तेरे आगे साष्टांग दंडवत् है और वह पूजा मेरे हृदय और मेरे मन से तेरी ओर उसी तरह उठती है जैसे भारत की सुगंधित धूप का शुद्ध धुंआ।

वर दे कि मैं मनुष्यों में तेरा अग्रदूत होऊं ताकि वे सब जो तैयार हैं उस आनंद का रस ले सकें जो तू मुझे अपनी अनंत करुणा में प्रदान करता है, वर दे कि तेरी शांति धरती पर राज्य करे।

*

१० फरवरी १९१३

मेरी सत्ता तेरी ओर कृतज्ञता के साथ उठती है, इसलिये नहीं कि तू इस दुर्बल और अपूर्ण शरीर का उपयोग अपने-आपको अभिव्यक्त करने के लिये करता है बल्कि इसलिये कि तू **अपने-आपको अभिव्यक्त करता है**, यही भव्यताओं की भव्यता, आनंद का आनंद, चमत्कारों का चमत्कार है। जो लोग तुझे उत्साह के साथ खोजते हैं उन्हें यह समझ लेना चाहिये कि जब कभी तेरी जरूरत होती है तो तू उपस्थित रहता है; और अगर उनके अंदर यह परम श्रद्धा हो कि तुझे खोजना छोड़ दें, बल्कि तेरे लिये प्रतीक्षा करें, हर क्षण अपने-आपको सर्वांगीण रूप से तेरी सेवा में रखें जो जब कभी तेरी आवश्यकता होगी तो तू मौजूद होगा; और क्या हमारे साथ हर समय तेरी आवश्यकता नहीं होती, चाहे तेरी अभिव्यक्ति के कितने ही भिन्न और बहुधा अप्रत्याशित रूप क्यों न हों?

वर दे कि तेरी महिमा घोषित हो,
वर दे कि जीवन उसके द्वारा पवित्र हो,
वर दे कि वह मनुष्यों के हृदय को रूपांतरित करे,
वर दे कि तेरी शांति पृथ्वी पर राज्य करे।

*

१२ फरवरी १९१३

जैसे ही किसी अभिव्यक्ति से समस्त प्रयास लुप्त हो जाते हैं, सारी चीज बहुत सरल हो जाती है, खिलते हुए फूल की तरह सरल जो बिना शोर मचाये, बिना प्रचंड इंगितों के अपनी सुंदरता को प्रकट करता और सुगंध को फैलाता है। और इस सरलता में बड़ी-से-बड़ी शक्ति होती है, ऐसी शक्ति जो कम-से-कम मिश्रित होती है और कम-से-कम हानिकर प्रतिक्रियाओं को जगाती है। प्राण की शक्ति पर अविश्वास करना चाहिये, यह कार्य-पथ पर प्रलोभन देनेवाली होती है और इसमें हमेशा पिंजरे में जा गिरने का भय होता है क्योंकि इससे तुम्हें तुरंत मिलनेवाले फल का चस्का लग जाता है और काम अच्छी तरह करने की अपनी पहली आतुरता में हम अपने-आपको इस शक्ति का उपयोग करने के लिये बह जाने देते हैं। परंतु शीघ्र ही वह हमारे समस्त कर्म को उचित मार्ग से भटका देती और हम जो कुछ करते हैं उसमें भ्रम, भ्रांति और

मृत्यु का बीज बो देती है।

सरलता, सरलता! तेरी उपस्थिति की शुद्धि कितनी मधुर है!...

*

१३ मार्च १९१३

... वर दे कि पवित्रीकरण की शुद्ध सुगंध हमेशा जलती रहे, ऊंची और ऊंची, सीधी और सीधी उठती रहे, पूर्ण सत्ता की कभी न रुकनेवाली प्रार्थना की तरह जो तेरे साथ एक होने की इच्छा करती है ताकि वह तुझे अभिव्यक्त कर सके।

*

११ मई १९१३

जैसे ही मेरे ऊपर कोई भौतिक उत्तरदायित्व नहीं रहता, इन चीजों के सभी विचार मुझसे बहुत दूर भाग जाते हैं और मैं पूरी तरह और एकांत भाव से तेरे साथ, तेरी सेवा में होती हूं। तब, उस पूर्ण शांति और निरभ्रता में अपनी इच्छा को तेरी इच्छा के साथ एक करती हूं और उस पूर्ण नीरवता में मैं तेरे सत्य पर कान देती और उसकी अभिव्यक्ति को सुनती हूं। तेरी इच्छा के बारे में सचेतन होकर, अपनी इच्छा को तेरी इच्छा के साथ एक करके ही सच्ची स्वाधीनता और सर्वशक्तिमत्ता का रहस्य पाया जाता है, शक्तियों के पुनरुज्जीवन और सत्ता के रूपांतर का रहस्य पाया जाता है।

तेरे साथ सतत और पूर्णतया एक होने का अर्थ है यह आश्वासन पाना कि हम प्रत्येक बाधा को पार कर लेंगे और हर कठिनाई को जीत लेंगे—भीतर भी और बाहर भी।

हे स्वामी, हे प्रभो, एक असीम आनंद मेरे हृदय को भरता है, मेरे सिर में से होकर खुशी के गीत अद्‌भुत लहरों में उमड़ रहे हैं और तेरी निश्चित विजय के पूर्ण विश्वास में मैं परम शांति और अजेय शक्ति पाती हूं। तू मेरी सत्ता को भरता है, तू उसमें जीवन-संचार करता है, तू उसके छिपे हुए स्रोतों को गति देता है, तू उसकी समझ को प्रदीप्त करता है, तू उसके जीवन को तीव्र करता है, उसके प्रेम को दसगुना बढ़ाता है और मुझे इस बात का पता नहीं रहता कि यह विश्व 'मैं' हूं या 'मैं' विश्व हूं, कि तू मेरे अंदर है या मैं तेरे

अंदर। केवल तू ही है और सब कुछ तू है; और तेरी असीम कृपा की सरिताएं जगत् को भरती और परिप्लावित कर देती हैं।

गाओ हे देशो, गाओ हे जातियो, गाओ हे मनुष्यो।

दिव्य सामंजस्य आ गया है।

*

१८ जून १९१३

तेरी ओर मुड़ना, तेरे साथ एक होना, तेरे अंदर और तेरे लिये जीना परम सुख, अमिश्रित आनंद, अविकारी शांति है। यह शाश्वत में सांस लेना, अनंतता में ऊपर उड़ना, अपनी सीमाओं को अनुभव न करना, देश और काल से बच निकलना है। मनुष्य इन वरदानों से ऐसे क्यों भागते हैं मानों वे उनसे डरते हों? सारे दुःख-दर्द का स्रोत, अज्ञान भी क्या अजीब चीज है! कैसा दैन्य-भरा है वह अंधेरा जो मनुष्यों को ठीक उस चीज से दूर रखता है जो उसके लिये सुख लायेगी और ठीक उन चीजों के आधीन रखता है जो उन्हें संघर्ष और दुःख-दर्द से निर्मित सामान्य जीवन की पीड़ादायक शैली के आधीन रखती हैं!

*

२१ जुलाई १९१३

... फिर भी कितने धीरज की जरूरत है। प्रगति की अवस्थाएं कितनी अदृश्य-सी हैं!...

ओह! मैं तुझे अपने हृदय की गहराइयों से कैसे पुकारती हूं, हे सत्य ज्योति, परम प्रेम, दिव्य स्वामी, जो हमारे प्रकाश और हमारे जीवन का उत्स, हमारा पथ-प्रदर्शक और हमारा रक्षक, हमारी आत्मा की आत्मा, हमारे प्राण का प्राण, हमारी सत्ता का हेतु, सर्वोच्च ज्ञान, अविकारी शांति है!

*

२८ नवंबर १९१३

प्रकृतिस्थ निदिध्यासन की उस निश्चलता में जो और किसी भी समय की अपेक्षा पौ फटने से पहले आती है, हे हमारी सत्ता के स्वामी, मेरा विचार तेरी ओर उत्कट प्रार्थना में उठता है।

वर दे कि अब जो दिन शुरू होने को है वह धरती के लिये और मनुष्यों के लिये जरा अधिक शुद्ध प्रकाश और सच्ची शांति लाये। तेरी अभिव्यक्ति अधिक पूर्ण हो और तेरा मधुर विधान अधिक मान्यता-प्राप्त हो। कोई उच्चतर, उदात्ततर, सत्यतर वस्तु मानवजाति पर प्रकट हो। वर दे कि अधिक विशाल और गभीर प्रेम का प्रसार हो ताकि सभी पीड़ादायक व्रण स्वस्थ हो जायें और सूर्य की यह पहली किरण जो अब पृथ्वी पर प्रकट होने को है, आनंद और सामंजस्य की घोषणा करनेवाली हो, वह जीवन के सारतत्त्व में छिपी महिमामय भव्यता का प्रतीक हो।

हे दिव्य स्वामी, वर दे कि हमारे लिये यह दिन, तेरे विधान के प्रति अधिक पूर्ण उत्सर्ग की ओर उद्‌घाटन हो, तेरे कर्म के प्रति अपनी अधिक सर्वांगीण भेंट हो, अपने-आपकी अधिक संपूर्ण विस्मृति, अधिक महान् आलोक, शुद्धतर प्रेम हो। वर दे कि तेरे साथ सदा-सर्वदा बढ़ते हुए सायुज्य में हम अधिकाधिक एक होते जायें ताकि हम तेरे योग्य सेवक बन सकें। हमारे अंदर से समस्त अहंकार और तुच्छ घमंड, समस्त लोभ और अंधकार को दूर कर दे ताकि तेरे दिव्य प्रेम से प्रज्वलित होकर, हम जगत् में तेरी मशालें बन सकें।

मेरे हृदय से पूर्व की सुवासित धूप की श्वेत धूम्र रेखा की तरह तेरी स्तुति में मौन भजन उठता है।

और पूर्ण समर्पण की स्वच्छता में, उदय होते हुए इस दिन के प्रकाश में मैं तुझे प्रणाम करती हूं।

*

२४ जनवरी १९१४

ओ तू, जो हमारी सत्ता की एकमात्र सद्वस्तु है, हे प्रेम के सर्वोच्च स्वामी, जीवन के उद्धारक, वर दे कि मेरे अंदर हर क्षण और हर सत्ता में तेरे सिवाय और किसी की चेतना न रहे। जब मैं पूरी तरह तेरे जीवन में नही जीती तो संतप्त होती हूं, मैं धीरे-धीरे विनाश की ओर डूबने लगती हूं; क्योंकि तू ही मेरे जीवन का एकमात्र कारण है, मेरा एकमात्र लक्ष्य और मेरा एकमात्र सहारा है। मैं एक भीरु पक्षी की तरह हूं जिसे अभीतक अपने पंखों पर विश्वास नहीं है, जो उड़ान भरने में सकुचाता है; वर दे कि मैं तेरे साथ निश्चित ऐक्य तक पहुंचने के लिये उड़ान भर सकूं।

*

१ फरवरी १९१४

मैं तेरी ओर मुड़ती हूं, जो सब जगह, सबके भीतर और सबके बाहर है, जो सबका घनिष्ठ सारतत्त्व और सबसे दूर, सब ऊर्जाओं के घनीकरण का केंद्र, सचेतन व्यक्तित्वों का रचयिता है : मैं तेरी ओर मुड़ती और तुझे प्रणाम करती हूं, हे जगतों के मुक्तिदाता, और तेरे दिव्य प्रेम के साथ एकात्म होकर पृथ्वी और उसके जीवों का अवलोकन करती हूं, रूप और आकार में रखे गये इस द्रव्य की राशि को सदा नष्ट होते हुए और फिर से नया होते हुए देखती हूं, समूहों की एकत्र होती हुई राशियां बनने के साथ-ही-साथ विलीन हो जाती हैं, ऐसी सत्ताओं की राशियां जो अपने-आपको सचेतन और स्थायी व्यक्तित्व मानती हैं लेकिन जो एक श्वास की तरह क्षण-भंगुर हैं, जो सर्वदा समान या अपनी विभिन्नता में लगभग समान हैं, जो सदा उन्हीं कामनाओं, वृत्तियों और क्षुधाओं को, उन्हीं अज्ञानभरी भूलों को दोहराती रहती हैं।

लेकिन समय-समय पर तेरी परम ज्योति एक सत्ता में चमकती है और उसके द्वारा सारे जगत् पर विकीरित होती है, फिर थोड़ी-सी समझ, थोड़ा-सा ज्ञान, जरा-सी निस्स्वार्थ श्रद्धा, शौर्य और अनुकंपा मनुष्यों के हृदयों में प्रवेश करती है, उनके मनों को रूपांतरित करती है और अस्तित्व के उस दुःखभरे और कठोर चक्र से, जिसके अंधे अज्ञान ने उन्हें अधीन कर रखा है, कुछ तत्त्वों को मुक्त करती है।

लेकिन जो भव्यताएं पहले हो गयी हैं उनसे कितनी अधिक भव्य, कितनी अधिक अद्भुत महिमा और प्रकाश की जरूरत होगी इन सत्ताओं को उस भयंकर विपथगमन से खींचने के लिये जिसमें वे शहरों के जीवन और तथाकथित संस्कृतियों के कारण डूबी हुई हैं! कैसी दुर्जेय और साथ-ही-साथ दिव्य रूप से मधुर शक्ति की जरूरत होगी इन सभी इच्छा-शक्तियों को अपने स्वार्थपूर्ण, तुच्छ और मूर्खताभरे संतोषों के लिये कटु संघर्ष से खींच निकालने के लिये, अपने उस भंवर से बचाने के लिये जो अपनी धोखेबाज चमक के पीछे मृत्यु को छिपाकर रखता है, और फिर उन्हें तेरे विजयी सामंजस्य की ओर मोड़ने के लिये!

हे प्रभो, शाश्वत स्वामी, हमें आलोकित कर, हमारे चरणों को राह दिखा, अपने विधान की चरितार्थता का, अपने कार्य की निष्पत्ति का मार्ग दिखा।

मैं नीरवता में तेरी आराधना करती हूं और धार्मिक एकाग्रता में तेरी वाणी सुनती हूं।

*

१४ फरवरी १९१४

शांति, सारी पृथ्वी पर शांति!

वर दे कि सभी सामान्य चेतना से छूट जायें और जड़-भौतिक वस्तुओं के लिये आसक्ति से मुक्ति पा लें; वर दे कि वे तेरी दिव्य उपस्थिति के ज्ञान के बारे में जाग्रत् हों, तेरी परम चेतना के साथ युक्त होकर उससे उभरनेवाली शांति के प्राचुर्य का रसास्वादन करें।

प्रभो, तू हमारी सत्ता का सर्वोच्च स्वामी है। तेरा विधान ही हमारा विधान है और अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ हम अपनी चेतना को तेरी शाश्वत चेतना के साथ युक्त करने के लिये अभीप्सा करते हैं ताकि हम हर क्षण, हर वस्तु में तेरे उत्कृष्ट कार्य को चरितार्थ कर सकें।

प्रभो, हमें सभी संयोगों की चिंताओं से मुक्त कर, हमें वस्तुओं के बारे में सामान्य दृष्टिकोण से मुक्त कर। वर दे कि हम अब से केवल तेरी ही आंखों से देखें और केवल तेरी ही इच्छा से कार्य करें। हमें अपने दिव्य प्रेम की जीवित मशालों में रूपांतरित कर।

हे प्रभो, श्रद्धा और भक्ति के साथ, समस्त सत्ता के आनंद-भरे समर्पण में मैं अपने-आपको तेरे विधान की परिपूर्णता के लिये अर्पित करती हूं।

शांति, समस्त पृथ्वी पर शांति!

*

१५ फरवरी १९१४

हे तू, एकमात्र परम सद्वस्तु, हमारे प्रकाश के प्रकाश और हमारे जीवन के जीवन, हे परम प्रेम, हे संसार के त्राता, वर दे कि मैं तेरी सतत उपस्थिति की अभिज्ञता के बारे में पूर्णतया अधिकाधिक जाग्रत् हो सकूं, वर दे कि मेरे सभी कर्म तेरे विधान का समर्थन करें। कृपा कर कि तेरी इच्छा और मेरी इच्छा के बीच कोई फर्क न रहे। मुझे मेरे मन की भ्रामक चेतना में से निकाल, मन की कपोल-कल्पनाओं के जगत् से निकाल; वर दे कि मैं अपनी चेतना को तेरी निरपेक्ष चेतना के साथ तदात्म कर सकूं, क्योंकि वह तू ही है।

लक्ष्य को पाने के लिये मेरी इच्छा को सातत्य प्रदान कर, मुझे वह दृढ़ता, वह ऊर्जा और वह साहस प्रदान कर जो समस्त जड़ता और शिथिलता से पीछा छुड़ा सके।

मुझे पूर्ण निस्स्वार्थता की शांति प्रदान कर, ऐसी शांति जो तेरी उपस्थिति का अनुभव कराये और तेरे हस्तक्षेप को प्रभावकारी बनाये, ऐसी शांति जो सदा समस्त दुर्भावना और प्रत्येक अंधकार पर विजयी हो।

मैं अनुनय करती हूं कि मुझे ऐसा वर दे कि मेरी सत्ता तेरे साथ एकात्म हो जाये। वर दे कि मैं तेरी परम उपलब्धि की ओर पूर्णतः जाग्रत् प्रेम की ज्वाला के सिवा कुछ और न होऊं।

*

७ मार्च १९१४ : "कागामारू" नामक जहाज पर

... आज सवेरे मेरी प्रार्थना तेरी ओर उठती है, हमेशा उसी अभीप्सा के साथ कि सभी तेरे प्रेम को जी सकें, तेरे प्रेम को ऐसी सामर्थ्य और प्रभावकारिता के साथ फैला सकें कि हमारे संपर्क से सभी पुष्ट, सुदृढ़, पुनरुज्जीवित और प्रकाशित अनुभव करें। जीवन को नीरोग करने की शक्ति प्राप्त करना, पीड़ा को शमित करना, शांति और अचंचल विश्वास को पैदा करना, संताप को मिटा देना और उसके स्थान पर एक सच्चे सुख के भाव को लाना, ऐसे सुख को, जिसकी नींव तेरे अंदर है, जो कभी मुरझाता नहीं।...

हे प्रभो, हे अद्भुत सखा, हे सर्वशक्तिमान् स्वामी, हमारी सारी सत्ता में प्रवेश कर, उसे तबतक रूपांतरित करता चल जबतक कि हमारे अंदर और हमारे द्वारा केवल तू ही जिये!

*

८ मार्च १९१४

इस प्रशांत सूर्योदय के सामने, जिसने मेरे अंदर की हर चीज को नीरवता और शांति में बदल दिया है, जिस क्षण मैं तेरे बारे में सचेतन हुई और मैंने जाना कि केवल तू ही मेरे अंदर जी रहा था, हे प्रभो, मुझे ऐसा लगा कि मैंने इस जहाज के सभी निवासियों को अपना लिया और उन्हें समान प्रेम के अंदर घेर लिया और यह कि इस भांति इनमें से सभी के अंदर तेरी चेतना का कुछ

अंश जागेगा। यह बहुधा नहीं होता कि मैंने तेरी दिव्य शक्ति और अपराजेय प्रकाश का इस तरह अनुभव किया हो और फिर से एक बार मेरा विश्वास संपूर्ण था और अमिश्रित था मेरा आनंदमय समर्पण।

ओ तू, जो सभी दुःख-दर्दों को दूर करता है और सारे अज्ञान को छितरा देता है, हे तू, जो परम चिकित्सक है, तू सदा इस जहाज में, उन लोगों के हृदय में उपस्थित रह जिन्हें यह जहाज आश्रय देता है ताकि फिर एक बार तेरी महिमा अभिव्यक्त हो।

*

९ मार्च १९१४

जो तेरे लिये और तेरे अंदर निवास करते हैं वे अपने भौतिक परिवेश, अपनी आदतों, आबो-हवा और पर्यावरण को बदल सकते हैं, लेकिन हर जगह वे एक ही वातावरण पायेंगे, वे उस वातावरण को अपने अंदर लिये रहते हैं, उस विचार में लिये रहते हैं जो सदा तेरे ऊपर लगा रहता है, उन्हें हर जगह अपना ही घर लगता है क्योंकि वे हर जगह तेरे मकान में रहते हैं। वे वस्तुओं और देशों की नवीनता, अप्रत्याशितता और सुरम्यता पर विस्मय नहीं करते क्योंकि उनके लिये हर जगह तेरी ही उपस्थिति और तेरी अपरिवर्तनशील भव्यता सबमें अभिव्यक्त है जो उन्हें कभी नहीं छोड़ती, वह रेत के छोटे-से-छोटे कण में भी अभिव्यक्त है। सारी धरती तेरे यशोगीत गा रही है; अंधकार, दुःख-दैन्य, अज्ञान के बावजूद, इन सबमें से होकर हम तेरे प्रेम की ही महिमा देखते हैं और हम हर जगह, बिना रुके, उसके साथ सायुज्य बनाये रख सकते हैं।

हे प्रभो, मेरे मधुर स्वामी, मैं इस जहाज पर सबका सतत अनुभव करती हूं, मुझे लगता है कि यह शांति का एक अद्भुत आवास है, एक मंदिर है जो तेरे मान में अवचेतन निष्क्रियता की लहरों पर तैर रहा है, उस निष्क्रियता पर जिसे हमें जीतना है और तेरी दिव्य उपस्थिति की चेतना की ओर जगाना है।

धन्य है वह दिवस जब मैं तुझे जान पायी, हे अवर्णनीय शाश्वतता।

सब दिनों में वह दिन धन्य होगा जब अंततः पृथ्वी जागकर तुझे जान पायेगी और केवल तेरे लिये ही जियेगी।

*

२५ मार्च १९१४

हमेशा की तरह मौन और अदृष्ट किंतु सर्वशक्तिमान्, तेरी क्रिया ने अपने-आपको अनुभूत करवाया है और इन आत्माओं के अंदर जो इतनी बंद मालूम होती थीं, तेरी दिव्य ज्योति का बोध जाग उठा है। मैं भली-भांति जानती थी कि तेरी उपस्थिति के लिये आह्वान करना कभी व्यर्थ नहीं हो सकता और यदि हम अपने हृदय की सचाई के साथ तेरे साथ सायुज्य स्थापित करें, फिर चाहे वह किसी भी अंग के साथ क्यों न हो, शरीर के साथ हो या मानव समुदाय के साथ, यह अंग अपने अज्ञान के बावजूद, अपनी निश्चेतना को पूरी तरह रूपांतरित पाता है। लेकिन जब किसी एक या कई तत्त्वों में सचेतन रूपांतर होता है, जब वह ज्वाला, जो राख के नीचे सुलगती रहती है, समस्त सत्ता को आलोकित करती हुई अचानक प्रज्वलित हो उठती है, तब हम आनंद के साथ तेरे राजकीय कार्य को नमन करते हैं और एक बार फिर तेरी अपराजेय शक्ति के साक्षी होते हैं और आशा कर सकते हैं कि मानवजाति में अन्य सुखों के साथ एक और सच्चे सुख की संभावना जोड़ दी गयी है।

हे प्रभो, मेरे अंदर से एक तीव्र कृतज्ञता-प्रकाशन तेरी ओर ऊपर उठ रहा है जो इस दुःख-भरी मानवजाति की कृतज्ञता प्रकट करता है, जिसे तू प्रकाशित करता और रूपांतरित करता और महान् बनाता है और जिसे तू ज्ञान की शांति प्रदान करता है।

*

१० अप्रैल १९१४

अचानक पर्दा फट गया, क्षितिज प्रकट हो गया—और स्पष्ट अंतर्दर्शन के आगे मेरी सारी सत्ता ने अपने-आपको कृतज्ञता के महान् उद्गार के साथ तेरे चरणों में डाल दिया। फिर भी इस गहरे और संपूर्ण आनंद के बावजूद सब कुछ शाश्वत की शांति के साथ अचंचल और शांत था।

ऐसा लगता है कि मेरी कोई सीमाएं नहीं रहीं, अब शरीर का बोध नहीं रहा, कोई संवेदन, कोई भावना, कोई विचार नहीं रहे—एक स्पष्ट, शुद्ध, शांत विशालता प्रेम और प्रकाश के साथ व्याप्त हो गयी और जो कुछ है वह अकथनीय आनंद के साथ भर गया और मुझे लगता है कि अब वही मैं हूं और यह "मैं" पहले के स्वार्थी, सीमित "अहं" से इतना कम मिलता है कि मैं

यह नहीं कह सकती कि यह "मैं" है या "तू", हे प्रभो, हमारी नियतियों के उत्कृष्ट स्वामी।

ऐसा लगता है मानों सब कुछ ऊर्जा, साहस, शक्ति, इच्छा, अनंत मधुरता, अतुलनीय अनुकंपा हो...।

बल्कि इन पिछले कुछ दिनों की अपेक्षा ज्यादा जोर से, अतीत मर गया है और मानों नवजीवन की किरणों के नीचे गाड़ दिया गया है। इस पुस्तक के कुछ पिछले पृष्ठ पढ़ते हुए मैंने जो आखिरी नजर पीछे की ओर डाली, उसने मुझे इस मृत्यु के बारे में विश्वास दिला दिया है, बहुत बड़े भार से हल्की होकर, हे मेरे दिव्य स्वामी, मैं अपने-आपको एक बालक की सारी सरलता और सारी नग्नता के साथ तेरे आगे प्रस्तुत करती हूं... और फिर भी एकमात्र चीज जिसका मैं अनुभव करती हूं वह है अचंचल और शुद्ध विशालता...।

प्रभो, तूने मेरी प्रार्थना का उत्तर दे दिया है, तूने मुझे वह वरदान दिया है जो मैंने तुझसे मांगा था। 'अहं' गायब हो गया है, अब केवल एक विनीत यंत्र रह गया है जिसे तेरी सेवा में प्रस्तुत किया गया है, जो तेरी अनंत और शाश्वत किरणों के केंद्रीकरण और अभिव्यक्ति का केंद्र है; तूने मेरे जीवन को लेकर अपना बना लिया है; तूने मेरी इच्छा को लेकर अपनी इच्छा के साथ युक्त कर लिया है; तूने मेरे प्रेम को लेकर अपने प्रेम के साथ तदात्म कर लिया है; तूने मेरे विचार को लेकर उसके स्थान पर अपनी निरपेक्ष चेतना को बिठा दिया है।

विस्मित शरीर मूक, समर्पणपूर्ण आराधना में धूलि में अपना मस्तक नवाता है।

अपनी निर्विकार शांति की भव्यता में तेरे सिवा और किसी का अस्तित्व नहीं है।

*

१७ अप्रैल १९१४

हे प्रभो, हे सर्वशक्तिमान् स्वामी, एकमात्र सद्वस्तु, वर दे कि कोई भी भूल, कोई भी अंधकार, कोई भी घातक अज्ञान मेरे हृदय में और मेरे विचार में न घुस सके।

कर्म में व्यक्तित्व ही तेरी इच्छा और तेरी शक्तियों का अनिवार्य और अपरिहार्य माध्यम है।

व्यक्तित्व जितना अधिक सबल, जितना अधिक जटिल, शक्तिशाली और व्यष्टि-भावापन्न और सचेतन हो, यंत्र उतने ही शक्तिशाली और उपयोगी ढंग से सेवा कर सकता है। लेकिन ठीक अपने स्वभाव के कारण ही व्यक्तित्व आसानी से अपनी पृथक् सत्ता के घातक भ्रम की ओर खिंच सकता है और थोड़ा-थोड़ा करके तेरे और जिसपर तू क्रिया करना चाहता है उसके बीच एक पर्दा बन सकता है। आरंभ में, अभिव्यक्ति के समय नहीं बल्कि वापिसी के संचार में पर्दा बन जाता है; यानी निष्ठावान् सेवक की तरह एक माध्यम होने की जगह जो तेरे पास ठीक वह चीज वापिस ले आये जो तेरी अपनी है—तेरी क्रिया के बदले में भेजी गयी शक्तियां—व्यक्तित्व के अंदर यह वृत्ति होती है कि शक्तियों के एक अंश को इस विचार के साथ अपने पास रख ले : "यह या वह कार्य तो मैंने ही किया है, मुझे धन्यवाद मिल रहा है...।" विषैले भ्रम, अंधकारमय मिथ्यात्व, अब तुम्हारा पता चल गया है और तुम्हारा भंडा फूट गया है। यह कर्म के फल को क्षय करनेवाला हानिकर नासूर है जो उसके सभी परिणामों को मिथ्या कर देता है।

हे प्रभो, मेरे मधुर स्वामी, एकमात्र सद्वस्तु, 'अहं' की इस भावना को दूर कर दे। अब मैं समझ गयी हूं कि जबतक अभिव्यक्त जगत् रहेगा तबतक तेरी अभिव्यक्ति के लिये 'अहं' की जरूरत रहेगी। 'अहं' को लुप्त कर देना, कम करना या निर्बल बना देना तुझे अंश में या समग्र में अभिव्यक्ति के साधन से वंचित करना होगा। लेकिन जिस चीज को मूलतः और निश्चित रूप से दबा देना चाहिये वह है पृथक् 'अहं' का भ्रामक विचार, भ्रामक भाव, भ्रामक संवेदन। हमें किसी भी क्षण, किसी भी परिस्थिति में यह न भूलना चाहिये कि तेरे बाहर हमारे 'अहं' की कोई वास्तविकता नहीं है।

हे मेरे मधुर स्वामी, मेरे दिव्य प्रभो, मेरे हृदय से इस भ्रम को उखाड़ फेंक ताकि तेरा सेवक शुद्ध और निष्ठावान् बन सके और जो कुछ तेरा अपना देय है उसे निष्ठापूर्वक और समग्र रूप से तेरे पास वापिस ला सके। वर दे कि मैं नीरवता में ध्यान करके इस परम अज्ञान को समझ सकूं और उसे हमेशा के लिये भगा दूं। मेरे हृदय से छाया को खदेड़ दे और वर दे कि तेरा प्रकाश वहां पर राज्य करे और उसका निर्विरोध राजाधिराज बने।

*

१२ मई १९१४

मुझे अधिकाधिक ऐसा लगता है कि हम क्रियाशीलता के उन कालों में से एक में हैं जिनमें अतीत के प्रयासों का फल प्रकट हो जाता है,—एक ऐसे काल में जब इस विधान के बारे में सचेतन होने का अवकाश पाये बिना ही तेरे विधान के अनुसार उस परिमाण में काम करते हैं जिसमें वह हमारी सत्ता का एकाधिपति नियन्ता है।

आज सवेरे एक द्रुत अनुभूति में से गहराई से गहराई में गुजरते हुए, मैं हमेशा की तरह, फिर एक बार अपनी चेतना को तेरी चेतना के साथ तदात्म कर पायी और तब तेरे सिवाय और कहीं भी जीवन-यापन नहीं कर रही थी—वस्तुतः केवल तू ही जी रहा था लेकिन तुरंत ही तेरी इच्छा ने मेरी चेतना को बाहर की ओर खींच लिया, उस काम की ओर जो किया जाना है और तूने मुझसे कहा, "वह यंत्र बन जिसकी मुझे जरूरत है।" और क्या यह अंतिम त्याग नहीं है? तेरे साथ तादात्म्य को त्यागना, तेरे और अपने बीच विभेद न करने के मधुर और पवित्र आनंद को त्यागना, हर क्षण यह जानने के आनंद को त्यागना, केवल बुद्धि से ही नहीं बल्कि सर्वांगीण अनुभूति से कि तू ही एकमात्र सद्वस्तु है और बाकी सब केवल आभास और भ्रांति है? इसमें कोई संदेह नहीं कि बाहरी सत्ता को आज्ञाकारी यंत्र होना चाहिये जिसे उस इच्छा के बारे में सचेतन होने की भी जरूरत नहीं जो उसे चलाती है; लेकिन मुझे हमेशा लगभग पूरी तरह उस यंत्र के साथ तदात्म होने की क्या जरूरत है और 'अहं' तेरे अंदर पूरी तरह विलीन क्यों न हो जाये और तेरी पूर्ण और निरपेक्ष चेतना क्यों न जिये?

मैं पूछती तो हूं पर मुझे इसकी कोई चिंता नहीं है। मैं जानती हूं कि सब कुछ तेरी इच्छा के अनुसार है और शुद्ध पूजा-भाव से मैं अपने-आपको तेरी इच्छा के आगे खुशी के साथ समर्पित करती हूं। हे प्रभो, तू मुझे जो बनाना चाहेगा वही बनूंगी, चाहे सचेतन हो या निश्चेतन, इस शरीर की तरह सीधा-सा यंत्र या तेरी तरह परम ज्ञान। ओह कैसा मधुर और शांत होता है वह आनंद जब हम कह सकें, "सब कुछ अच्छा है" और उन सब तत्त्वों के द्वारा, जो अपने-आपको उस संचार के लिये अर्पण करें, जगत् में तुझे कार्य करते हुए अनुभव कर सकें।

तू सबका एकाधिपति स्वामी है, तू ही अगम्य, अज्ञेय, शाश्वत और उदात्त सद्वस्तु है।

हे अद्भुत ऐक्य, मैं तेरे अंदर लुप्त हो रही हूं।

*

२१ मई १९१४

हे प्रभो, अचल आनंद, समस्त अभिव्यक्ति के परे, शाश्वत की निर्विकार नीरवता में मैं तेरे अंदर हूं। जो तेरी शक्ति और अद्भुत ज्योति में से भौतिक पदार्थ के अणुओं को केंद्र और वास्तविकता बनाता है उसमें मैं तुझे पाती हूं; इस तरह तेरी उपस्थिति के बाहर गये बिना मैं तेरी परम चेतना में लुप्त हो सकती हूं या तुझे अपनी सत्ता के प्रदीप्त कणों में देख सकती हूं। और अभी के लिये यही तेरे जीवन की प्रचुरता और तेरा आलोक है।

मैं तुझे देखती हूं, मैं स्वयं तू हूं और इन दो ध्रुवों के बीच मेरा तीव्र प्रेम तेरी ओर अभीप्सा करता है।

*

२२ मई १९१४

जब हम सत्ता की सभी अवस्थाओं में और जीवन के सभी लोकों में क्रमशः यह पहचान लेते हैं कि क्या वास्तविक है और क्या अवास्तविक, जब हम एकमात्र सद्वस्तु की पूर्ण और सर्वांगीण निश्चिति पर पहुंच जाते हैं तो हमें अपनी दृष्टि इस परम चेतना की ऊंचाइयों से व्यष्टिगत समष्टि की ओर मोड़नी चाहिये जो पृथ्वी पर तेरी अभिव्यक्ति के लिये तात्कालिक यंत्र का काम देती है और उसके अंदर तेरे, अपने एकमात्र वास्तविक अस्तित्व के सिवा और कुछ न देखना चाहिये। इस तरह इस समष्टि का प्रत्येक अणु तेरे उदात्त प्रभाव को ग्रहण करने के लिये जाग्रत् होगा। अज्ञान और अंधकार न केवल सत्ता की केंद्रीय चेतना से बल्कि उसकी बाह्यतम अभिव्यक्ति की प्रणाली से भी गायब हो जायेंगे। रूपांतर के इस श्रम की पूर्णता और परिपूर्ति से ही तेरी उपस्थिति, तेरे प्रकाश और तेरे प्रेम की प्रचुरता की अभिव्यक्ति हो सकती है।

प्रभो, तू मुझे यह सत्य सदा अधिकाधिक स्पष्ट रूप से समझाता है; मुझे एक-एक कदम करके उस मार्ग पर आगे चला। छोटे-से-छोटे परमाणु तक मेरी सारी सत्ता तेरी उपस्थिति के पूर्ण ज्ञान के लिये और उसके साथ परम एकत्व के लिये अभीप्सा करती है। ऐसी कृपा कर कि सब बाधाएं गायब हो जायें,

अंग-अंग में तेरा दिव्य ज्ञान अज्ञान के अंधेरे का स्थान ले ले। जैसे तूने केंद्रीय चेतना को, सत्ता के अंदर इच्छा को आलोकित किया है, उसी तरह इस बाह्यतम पदार्थ को भी आलोकित कर। ऐसी कृपा कर कि समस्त व्यक्तित्व अपने प्रथम मूल और सारतत्त्व से लेकर अंतिम प्रक्षेप और अधिकतम जड़-भौतिक शरीर तक, सब तेरी एकमात्र सद्वस्तु की पूर्ण अभिव्यक्ति और सिद्धि में एक हो जायें।

विश्व में तेरे जीवन, तेरे प्रकाश, तेरे प्रेम के सिवा कुछ नहीं है।

ऐसी कृपा कर कि हर चीज तेरे सत्य के ज्ञान द्वारा समुज्ज्वल और रूपांतरित हो जाये।

तेरा दिव्य प्रेम मेरी सत्ता को परिप्लावित कर रहा है; तेरा परम प्रकाश हर कोषाणु में चमक रहा है; हर चीज उल्लसित हो रही है क्योंकि वह तुझे जानती है और तेरे साथ एक है।

*

२६ मई १९१४

सतह पर तूफान है; समुद्र विक्षुब्ध है, लहरें टकराती हैं और एक-दूसरे पर उछलती हैं और बहुत शोर मचाती हुई टूट पड़ती हैं। लेकिन सारे समय इस उन्मत्त जल के नीचे मुस्कुराते हुए विशाल विस्तार शांत और अचंचल रहते हैं। वे सतह की हलचल को एक अनिवार्य क्रिया के रूप में देखते हैं; क्योंकि यदि दिव्य प्रकाश को पूरी तरह अभिव्यक्त करने योग्य बनना है तो जड़ पदार्थ को तेजी से मथना बहुत जरूरी है। व्यथित आभास के पीछे, संघर्ष और संताप के द्वंद्व के पीछे चेतना अपने स्थान पर दृढ़ बनी रहती है और बाहरी सत्ता की सभी गतिविधियों का अवलोकन करती जाती है। वह केवल दिशा और स्थिति को ठीक करने के लिये हस्तक्षेप करती है ताकि लीला बहुत अधिक नाटकीय न हो जाये। यह हस्तक्षेप कभी दृढ़ होता है कभी कठोर, कभी व्यंग्यात्मक होता है तो कभी व्यवस्था के लिये आदेश या विडंबना, वह हमेशा प्रबल, सौम्य, शांत और मुस्कुराती हुई शुभेच्छा से भरा होता है।

नीरवता में मैंने तेरे अनंत और शाश्वत आनंद को देखा।

तब जो अभीतक छाया और संघर्ष में है, उससे तेरी ओर एक मृदु प्रार्थना उठी : हे मधुर स्वामी, हे प्रकाश और शुद्धि के परम दाता, वर दे कि सभी पदार्थ और सभी क्रियाएं तेरे दिव्य प्रेम और तेरी उत्कृष्टतम प्रशांतता की सतत अभिव्यक्ति के सिवा और कुछ न हों...।

और मेरे हृदय में तेरी उच्चतम भव्यता की प्रसन्नता का गान है।

*

२७ अगस्त १९१४

हे प्रभो, दिव्य प्रेम, शक्तिशाली प्रेम, अनंत, अथाह प्रेम में, प्रत्येक क्रिया में, सत्ता के सभी लोकों के अंदर रहने के लिये मैं तुझे पुकारती हूं। वर दे कि मैं इस दिव्य प्रेम, शक्तिशाली प्रेम, अनंत अथाह प्रेम में, प्रत्येक क्रिया में, सत्ता के सभी लोकों में घुल जाऊं! मुझे उस उद्‌बुद्ध वेदी में बदल दे ताकि सारी पृथ्वी का वातारवण उसकी ज्वाला से शुद्ध हो जाये।

ओह, अनंत रूप से तेरा प्रेम बन जाना...।

*

३१ अगस्त १९१४

इस विकट अव्यवस्था और भयंकर विनाश में एक महान् कार्य देखा जा सकता है, एक आवश्यक परिश्रम जो पृथ्वी को एक नयी बुवाई के लिये तैयार कर रहा है, जो अन्न की अद्‌भुत बालों में विकसित होगी और जगत् को एक नयी जाति की उत्कृष्ट पैदावार प्रदान करेगी...। प्रत्यक्ष दर्शन स्पष्ट और यथार्थ है, तेरे दिव्य विधान की योजना इतने स्पष्ट रूप से अंकित है कि शांति वापिस आ गयी है और उसने अपने-आपको कार्यकर्ताओं के हृदयों में प्रतिष्ठित कर लिया है। अब कोई संदेह, हिचकिचाहटें नहीं हैं और न ही कोई संताप या अधीरता बची है। कर्म की महान् सीधी रेखा है जो शाश्वत काल से सबके बावजूद, सबके विरुद्ध, सभी विरोधी आभासों और काल्पनिक चक्करों के बावजूद अपने-आपको संपादित करती जाती है। ये भौतिक व्यक्तित्व, अनंत संभवन में ये अग्राह्य क्षण जानते हैं कि वे मानवजाति को अचूक रूप से, अनिवार्य परिणामों की चिंता किये बिना, चाहे आभासी निष्कर्ष कैसे भी हों, एक कदम आगे बढ़ा देंगे। वे अपने-आपको तेरे साथ युक्त कर देते हैं, हे शाश्वत स्वामी, वे अपने-आपको तेरे साथ युक्त कर देते हैं, हे विश्व जननी, और इस दोहरे तादात्म्य में, एक उस तत् के साथ जो परे है और दूसरा उसके साथ जो समस्त अभिव्यक्ति है, वे पूर्ण निश्चिति के अनंत आनंद का रस लेते हैं।

शांति, सारे जगत् में शांति...।
युद्ध एक आभास है,
विक्षोभ एक भ्रम है,
शांति उपस्थित है, निर्विकार शांति।

जननी, मधुर मां जो मैं ही हूं, तू एक साथ विनाशक और स्रष्ट्री है।

सारा विश्व अपने असंख्य जीवन के साथ तेरे वक्ष में निवास करता है और तू अपनी विशालता में उसके छोटे-से-छोटे परमाणु में निवास करती है।

और तेरी अनंतता की अभीप्सा उसकी ओर मुड़ती है जो अभिव्यक्त नहीं है और उससे अधिकाधिक पूर्णता और अधिकाधिक समग्रता की अभिव्यक्ति के लिये पुकार करती है।

सब कुछ एक तिहरी, सूक्ष्म दृष्टिवाली समग्र चेतना में एक ही है, व्यष्टि, वैश्व और अनंत।

*

१ सितंबर १९१४

हे दिव्य जननी, कैसे उत्साह के साथ, कैसे तीव्र प्रेम के साथ मैं तेरी गहनतम चेतना में आयी, तेरे उच्चतन प्रेम और पूर्ण सुख-शांति में आयी और तेरी भुजाओं में दुबक गयी और मैंने तेरे साथ इतनी तीव्रता के साथ प्रेम किया कि मैं पूरी तरह से तू बन गयी। तब हमारे मूक आनंद की नीरवता में और भी अधिक गभीर गहराइयों में से एक आवाज उठी और उसने कहा, "उन लोगों की ओर मुड़ो जिन्हें तुम्हारे प्रेम की जरूरत है।" चेतना के सभी स्तर प्रकट हुए, सभी उत्तरोत्तर जगत् प्रकट हुए। कुछ भव्य और प्रकाशमान, सुव्यवस्थित और स्पष्ट थे; उनका ज्ञान उज्ज्वल था, अभिव्यक्ति सामंजस्यपूर्ण और विशाल थी, उनकी इच्छा समर्थ और अपराजेय थी। तब जगत् अधिकाधिक अस्तव्यस्तता की बहुलता में अंधकारमय होने लगे, 'ऊर्जा' उग्र हो गयी और जड़ भौतिक जगत् अंधेरा और दुःखमय हो गया। और जब हमने अपने अनंत प्रेम में दुःख और अज्ञान के जगत् के भीषण कष्ट को पूरी तरह देखा, जब हमने अपने बच्चों को निराशाजनक संघर्ष में गुंथा हुआ देखा, जिन्हें ऐसी ऊर्जाओं ने, जो अपने पथ से भ्रष्ट हो गयी थीं, एक-दूसरे पर पटक दिया था, तो हमने तीव्र इच्छा की कि भागवत प्रेम का प्रकाश, एक रूपांतरकारी शक्ति इन उद्विग्न तत्त्वों के केंद्र में अभिव्यक्त हो। और फिर यह कि इच्छा और भी

समर्थ और प्रभावकारी हो, हे अचिन्त्य परम प्रभो, हम तेरी ओर मुड़े और तेरी सहायता के लिये याचना की। और तब अज्ञात की अथाह गहराइयों में से एक उत्कृष्ट और दुर्जेय उत्तर आया और हम जान गये कि पृथ्वी "बचा ली गयी है।"

*

२५ सितंबर १९१४

हे दिव्य और पूजनीया मां, तेरी सहायता हो तो कौन-सी चीज असंभव है? उपलब्धि का मुहूर्त निकट है और तूने हमें अपनी सहायता का आश्वासन दिया है कि हम पूर्ण रूप से परम इच्छा को पूरा कर सकें।

तूने हमें अचिन्त्य वास्तविकताओं और भौतिक जगत् की सापेक्षताओं के बीच उपयुक्त माध्यम के रूप में स्वीकार कर लिया है और हमारे बीच तेरी सतत उपस्थिति तेरे सक्रिय सहयोग का चिह्न है।

प्रभु ने इच्छा की है और तू कार्यान्वित कर रही है :
पृथ्वी पर एक नये प्रकाश का उदय होगा।
एक नया जगत् जन्म लेगा,
और जिन चीजों के लिये वचन दिया गया था वे पूरी की जायेंगी।

*

२८ सितंबर १९१४

मेरी लेखनी तेरी उपस्थिति के गीत गाने के लिये मूक है, हे प्रभो, तू एक राजा की न्याईं है जिसने अपने राज्य पर पूरा अधिकार कर लिया है। तू हर प्रदेश को व्यवस्थित करता, श्रेणीबद्ध करता, विकसित करता और बढ़ाता हुआ उपस्थित है। तू उन्हें जगाता है जो सोये हुए हैं, जो तमस् में डूब रहे थे उन्हें तू सक्रिय बनाता है। तू सबको एक सामंजस्य में ढाल रहा है। एक दिन आयेगा जब सामंजस्य प्राप्त हो जायेगा और समस्त देश स्वयं अपने जीवन द्वारा तेरी वाणी और तेरी अभिव्यक्ति का वाहक होगा।

लेकिन इस बीच, मेरी लेखनी तेरे गुणगान करने के लिये मूक है।

*

३० सितंबर १९१४

ओ तू, परम प्रेम, जिसे मैंने कभी कोई और नाम नहीं दिया परंतु जो पूरी तरह से मेरी सत्ता का सारतत्त्व है, जिसे मैं शरीर के छोटे-से-छोटे परमाणु और साथ ही अनंत विश्व और उसके परे भी जीवित और स्पंदित होते हुए अनुभव करती हूं, तू जो हर श्वास में सांस लेता है, सभी क्रिया-कलापों के हृदय में धड़कता है, जो कुछ सद्‌भावनापूर्ण है उस सबमें से विकीरित होता है और सारे कष्टों के पीछे छिपा हुआ है, तू जिसके लिये मैं एक असीम पूजा को हृदय में संजोये रखती हूं जो हमेशा अधिकाधिक तीव्र होती जाती है, ऐसा वर दे कि मैं अधिकाधिक विवेकसहित यह अनुभव कर सकूं कि मैं पूरी तरह तू ही हूं।

और तू, हे प्रभो, जो इन सबका योग और उससे कहीं अधिक है, हे सर्वश्रेष्ठ स्वामी, हमारे विचार की पराकाष्ठा, जो हमारे लिये अज्ञात की देहली पर खड़ा है, उस अचिन्त्य में से किसी नयी भव्यता को उठा, उच्चतर और अधिक पूर्ण उपलब्धि की संभावनाओं को उठा ताकि तेरा कार्य चरितार्थ हो और विश्व परम तादात्म्य और परम अभिव्यक्ति की ओर एक कदम और आगे बढ़ा सके।

और अब मेरी लेखनी मूक हो जाती है और मैं नीरवता में तेरी आराधना करती हूं।

*

५ अक्तूबर १९१४

तेरे ध्यान की निश्चल-नीरवता में, हे दिव्य स्वामी, प्रकृति फिर से सुदृढ़ और संतुलित हो उठी है। व्यक्तित्व के समस्त तत्त्व को पार कर लिया गया है और अब वह तेरी अनंतता में डुबकी लगाये हुए है जो सभी क्षेत्रों में, बिना अस्तव्यस्तता या विक्षोभ के एकत्व को चरितार्थ होने देती है। जो स्थायी रहता है, जो प्रगति करता है और जो शाश्वत है उनका सम्मिलित सामंजस्य, थोड़ा-थोड़ा करके हमेशा अधिक जटिल, अधिक विस्तारित और अधिक उच्च संतुलन में चरितार्थ होता है। और जीवन के इन तीनों प्रकारों का परस्पर आदान-प्रदान अभिव्यक्ति की बहुलता की अनुमति देता है।

बहुत-से लोग तुझे इस घड़ी संताप और अनिश्चिति में ढूंढ़ते हैं। वर दे कि मैं उनके और तेरे बीच माध्यम बन सकूं ताकि तेरा प्रकाश उन्हें आलोकित

करे, तेरी शांति उन्हें संतुष्ट करे। मेरी सत्ता अब तेरी क्रिया के लिये एक सहारे का बिंदु और तेरी चेतना का एक केंद्र है। अब सीमाएं कहां हैं, अवरोध किधर भाग गये? तू अपने राज्य का अधिराट् स्वामी है।

*

७ अक्तूबर १९१४

कृपा कर कि सारी पृथ्वी पर प्रकाश उंडेला जाये और शांति प्रत्येक हृदय में निवास करे...। प्रायः सभी केवल जड़-भौतिक, भारी, तामसिक, पुराणपंथी, धुंधले जीवन को जानते हैं; उनकी प्राणिक शक्तियां अपने जीवन के भौतिक रूप से इतनी ज्यादा बंधी होती हैं कि अगर उन्हें शरीर के बाहर स्वयं अपने ऊपर ही छोड़ दिया जाये तब भी वे पूरी तरह उन भौतिक संयोगों में तल्लीन रहती हैं जो तब भी बहुत परेशान करनेवाले और पीड़ादायक होते हैं...। जिन लोगों में मानसिक जीवन जाग जाता है वे बेचैन, संतप्त, उत्तेजित, स्वेच्छाचारी और निरंकुश होते हैं। ऐसे पुनर्नवीकरण और रूपांतरों के भंवर में फंसकर, जिनके वे स्वप्न लिया करते हैं, वे हर चीज को नष्ट करने के लिये तैयार होते हैं जब कि उन्हें किसी ऐसी नींव का पता नहीं होता जिसपर निर्माण करना है, उनका प्रकाश केवल चौंधियानेवाली कौंधों से बना होता है, इससे वे अस्तव्यस्तता को समाप्त करने में सहायक होने की जगह उसे और भी बढ़ा देते हैं।

सभी के अंदर तेरे उच्चतम ध्यान की अपरिवर्तनशील शांति और तेरी अक्षर शाश्वतता की शांत दृष्टि का अभाव है।

इस व्यष्टिगत सत्ता की अनंत कृतज्ञता के साथ जिसे तूने सर्वोत्कृष्ट कृपा प्रदान की है, मैं तुझसे याचना करती हूं, हे प्रभो, कि वर्तमान उथल-पुथल के पर्दे में, इस अत्यधिक अस्तव्यस्तता के ठीक हृदय में चमत्कार क्रियान्वित हो जाये और तेरी परम प्रशांतता और विशुद्ध अपरिवर्तनशील प्रकाश का विधान सबकी दृष्टि के लिये दृश्य हो जाये और एक ऐसी मानवजाति में पृथ्वी पर राज्य करे जो अंततः तेरी दिव्य चेतना के प्रति जाग जाये।

हे मधुर स्वामी, तूने मेरी प्रार्थना सुन ली है, तू मेरी पुकार का उत्तर देगा।

*

१४ अक्तूबर १९१४

दिव्य जननी, तू हमारे साथ है; प्रत्येक दिन तू मुझे आश्वासन देती है और अधिकाधिक पूर्ण और अधिकाधिक सतत रूप से विकसित होते हुए तादात्म्य के साथ घनिष्ठ रूप में युक्त हम विश्व के प्रभु की ओर तथा जो परे है उसकी ओर बड़ी अभीप्सा के साथ नये प्रकाश के लिये मुड़ते हैं। समस्त पृथ्वी एक रोगी बालक की तरह हमारी भुजाओं में है, जिसके लिये उसकी दुर्बलता के कारण ही हमें विशेष स्नेह है—और उसका रोगमुक्त होना जरूरी है। शाश्वत संभवनों की विशालता में झूलते हुए, क्योंकि स्वयं हम ही वे संभवन हैं, हम नीरवता और प्रसन्नता में अविचल निश्चल नीरवता की शाश्वतता का ध्यान करते हैं जहां सब कुछ उस पूर्ण चेतना और अविकारी सत्ता में उपलब्ध है जो परे विद्यमान अज्ञान का चमत्कारिक द्वार है।

तब पर्दा फट जाता है, अवर्णनीय महिमा का उद्‌घाटन हो जाता है और अनिर्वाच्य भव्यता से ओत-प्रोत होकर हम संसार को शुभ समाचार देने के लिये उसकी ओर लौटते हैं।

प्रभो, तूने मुझे अनंत सुख प्रदान किया है। कौन-सी सत्ता में, कौन-सी परिस्थिति में इतनी शक्ति है जो मुझसे उसे छीन सके?

*

२५ अक्तूबर १९१४

हे प्रभो, तेरे प्रति मेरी अभीप्सा ने एक सामंजस्यपूर्ण, पूरी तरह खिले हुए और सुगंध से भरे सुंदर गुलाब का रूप ले लिया है। मैं समर्पण की मुद्रा में दोनों बांहें फैलाकर उसे तेरी ओर बढ़ा रही हूं और मैं तुझसे याचना करती हूं: अगर मेरी समझ सीमित है तो उसे विस्तृत कर; अगर मेरा ध्यान धुंधला है तो उसे आलोकित कर; अगर मेरा हृदय उत्साह से खाली है तो उसे प्रज्ज्वलित कर; अगर मेरा प्रेम तुच्छ है तो उसे तीव्र बना; अगर मेरी भावनाएं अज्ञान-भरी और अहंकारपूर्ण हैं तो उन्हें सत्य के अंदर पूरी चेतना प्रदान कर और जो "मैं" यह सब मांग रही हूं वह हे प्रभो, एक छोटा-सा व्यक्तित्व नहीं है जो हजारों में खोया हुआ है। यह तो समूची पृथ्वी उत्साह-भरी गति में तेरे प्रति अभीप्सा कर रही है।

मेरे ध्यान की पूर्ण नीरवता में सब कुछ अनंतता में विस्तृत हो जाता है और उस नीरवता की पूर्ण शांति में तू अपने प्रकाश की देदीप्यमान महिमा में प्रकट होता है।

*

८ नवंबर १९१४

हे प्रभो, तेरे प्रकाश की पूर्णताके लिये हम तेरा आह्वान करते हैं। हमारे अंदर वह शक्ति जगा जो तुझे प्रकट करे।

सत्ता में सब कुछ मरुभूमि के शव-कक्ष की तरह मूक है; लेकिन छाया के हृदय में, नीरवता के वक्ष में ऐसा दीपक जल रहा है जिसे कभी बुझाया नहीं जा सकता और जल रही है तुझे जानने और पूर्णतया तुझे जीने की तीव्र अभीप्सा।

दिनों के बाद रातें आती हैं, अथक रूप से नयी उषाएं पिछली उषाओं के बाद आती हैं, लेकिन हमेशा सुगंधित ज्वाला ऊपर उठती रहती है जिसे कोई आंधी-तूफान कंपा नहीं सकता। वह ऊंची और ऊंची उठती जाती है और एक दिन अभीतक बंद तिजोरी तक जा पहुंचती है, वह हमारे ऐक्य का विरोध करनेवाला अंतिम अवरोध है। ज्वाला इतनी शुद्ध, इतनी सीधी, इतनी गर्वीली है कि अवरोध अचानक लुप्त हो जाता है।

तब तू अपनी समस्त भव्यता में, अपनी अनंत महिमा की चौंधियानेवाली शक्ति में प्रकट होता है; तेरे संपर्क से ज्वाला ऐसे प्रकाश-स्तंभ में बदल जाती है जो हमशा के लिये छायाओं को मार भगाता है।

और महामंत्र उछल पड़ता है जो परम अंतःप्रकाश है।

*

१५ फरवरी १९१५

हे सत्य के प्रभो, मैंने गहरे उत्साह के साथ तीन बार तेरी अभिव्यक्ति का आह्वान करते हुए तेरी याचना की।

और फिर, हमेशा की तरह सारी सत्ता ने पूर्ण समर्पण किया, उस क्षण चेतना ने मानसिक, प्राणिक और भौतिक व्यक्तिगत सत्ता को पूरी तरह धूल से

ढका हुआ देखा, और यह सत्ता तेरे आगे प्रणत थी, उसका ललाट धरती को छू रहा था, धूल में धूल मिल गयी और उसने चिल्लाकर तुझसे कहा, "हे प्रभो, धूल से बनी हुई यह सत्ता तेरे आगे प्रणत है और प्रार्थना कर रही है कि वह सत्य की अग्नि में भस्म हो जाये ताकि आगे से वह केवल तुझे ही अभिव्यक्त कर सके।" तब तूने उससे कहा, "उठ, जो कुछ धूल है उस सबसे तू शुद्ध है।" और अचानक एक झटके में सारी धूल उससे झड़ गयी, उस लबादे की भांति जो जमीन पर गिर जाता है और सत्ता सीधी, हमेशा की तरह सारगर्भित परंतु चौंधियानेवाले प्रकाश की तरह देदीप्यमान हो उठी।

*

३ मार्च १९१५ (कामो मारू जहाज पर)

एकांत, कठोर, तीव्र एकांत और हमेशा ऐसा तीव्र अनुभव मानों मैं अंधकार के नरक में सिर के बल फेंक दी गयी होऊं! अपने जीवन के किसी भी क्षण, किसी भी परिस्थिति में मैंने ऐसा अनुभव नहीं किया कि मैं ऐसे प्रतिवेश में रही होऊं जहां सब कुछ, जिसे मैं सच्चा मानती हूं उसके एकदम विरुद्ध हो, जो कुछ मेरे जीवन का सारतत्त्व है उसके एकदम विपरीत हो। कभी-कभी जब अनुभव और विरोध बहुत तीव्र हो जाते हैं तो मैं अपने संपूर्ण समर्पण को उदासी का रंग लेने से नहीं रोक सकती, और अंतस्थ प्रभु के साथ शांत और मौन वार्तालाप क्षण भर के लिये एक आह्वान में रूपांतरित हो जाता है जो लगभग चिरौरी करता है, "हे प्रभो, ऐसा मैंने क्या किया है कि तूने मुझे इस निराशाजनक रात्रि में फेंक दिया है?" लेकिन तुरंत अभीप्सा उठती है, जो पहले से भी तीव्र होती है, "इस सत्ता को समस्त दुर्बलता से बचा, इसे अपने कार्य के लिये आज्ञा-परायण और स्पष्ट दृष्टिवाला यंत्र बना, वह कार्य चाहे कुछ क्यों न हो।"...

*

७ मार्च १९१५

बीत गया, मधुर मानसिक नीरवता का समय बीत गया है जिसके द्वारा गहरी इच्छा को अपने-आपको सर्वशक्तिमान् सत्य में प्रकट करते हुए देखा जा सकता था। अब इच्छा और अधिक नहीं दिखायी देती और मन फिर से अनिवार्यतः सक्रिय है; वह विश्लेषण करता, वर्गीकरण करता, निर्णय करता, चुनाव करता, व्यक्तित्व पर जो भी चीज आरोपित की जाती है उस पर सतत रूप से रूपांतरकारी प्रतिनिधि की तरह काम करता है। वह इतना पर्याप्त विस्तृत हो गया है कि अनंत रूप में विस्तृत और जटिल जगत् के साथ, धरती की सभी चीजों की तरह प्रकाश और छाया के मिले-जुले जगत् के साथ संपर्क में रह सके। मैं हर आध्यात्मिक सुख से निर्वासित हूं और हे प्रभो, तेरे द्वारा आरोपित सभी अग्नि-परीक्षाओं में से यह निश्चित रूप से सबसे बढ़कर पीड़ा-दायक है, और सबसे बढ़कर तेरी इच्छा का पूरी तरह निवर्तन जो पूरी अस्वीकृति का चिह्न मालूम होता है। परित्याग का बढ़ता हुआ भाव प्रबल है और इस तरह परित्यक्त बाह्य चेतना को असाध्य दुःख के आक्रमण से बचाने के लिये अथक श्रद्धा के सारे उत्साह की जरूरत होती है...।

लेकिन वह निराश होने से इंकार करती है, वह यह मानने से इंकार करती है कि यह दुर्भाग्य ऐसा है जिसे सुधारा नहीं जा सकता, वह तेरे पूर्ण आनंद के श्वास के फिर से प्रवेश करने के लिये विनय के साथ धुंधले और छिपे हुए प्रयास और संघर्ष में प्रतीक्षा करती है। और शायद उसकी विनीत और प्रच्छन्न विजयों में से हर एक धरती के लिये लायी गयी सच्ची सहायता है...।

काश, इस बाहरी चेतना में से निश्चित रूप से बाहर निकल कर दिव्य चेतना में शरण ले सकना संभव होता! लेकिन उसके लिये तूने मना कर दिया है, अभी और हमेशा के लिये तू इसका निषेध करता है। जगत् से बाहर की कोई उड़ान नहीं! उसके अंधकार और उसकी कुरूपता का भार अंत तक ढोना होगा, चाहे ऐसा क्यों न लगे कि समस्त भागवत सहायता खींच ली गयी है। मुझे रात्रि के वक्ष में रहना होगा और दिक्-सूचक के बिना, संकेत-दीप और आंतरिक पथ-प्रदर्शक के बिना आगे चलते चले जाना होगा।

मैं तेरी दया के लिये याचना भी नहीं करूंगी क्योंकि तू मेरे लिये जो चाहता है वही मैं भी चाहती हूं। मेरी सारी ऊर्जा केवल आगे बढ़ने के लिये, सदा कदम-कदम आगे बढ़ने के लिये, अंधकार की घनता और रास्ते के अवरोधों के बावजूद आगे बढ़ने के लिये तत्पर है और हे प्रभो, जो कुछ भी

आ जाये, उत्साहपूर्ण और अपरिवर्तनशील प्रेम के साथ तेरे निर्णय का स्वागत होगा। अगर तू यंत्र को अपनी सेवा के अयोग्य भी पाये तब भी यंत्र स्वयं अपना नहीं है तेरा ही है; तू चाहे इसे नष्ट कर दे या महिमान्वित कर दे; इसका अस्तित्व स्वयं अपने लिये नहीं है, यह किसी चीज की इच्छा नहीं करता, तेरे बिना यह कुछ भी नहीं कर सकता।

*

८ मार्च, १९१५

अधिकतर भाग में स्थिति अचंचल और गहरी उदासीनता की है; सत्ता को न तो कामना का अनुभव होता है न अरुचि का, न उत्साह का न अवसाद का, न खुशी का न दुःख का। वह जीवन को एक ऐसे दृश्य के रूप में देखती है जिसमें उसकी भूमिका बहुत छोटी-सी है; वह अपनी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं, संघर्षों और शक्तियों को ऐसी चीजों के रूप में देखती है जो उसके जीवन की हैं और उसके तुच्छ व्यक्तित्व के हर पार्श्व से उमड़ती हैं और फिर भी उस व्यक्तित्व के लिये बिलकुल विजातीय और दूरवर्ती हैं।

लेकिन समय-समय पर एक बड़ा निःश्वास गुजरता है, दुःख का महान् निःश्वास, संतप्त एकाकीपन का, आध्यात्मिक निराश्रयता का निःश्वास,—हम कह सकते हैं कि यह भगवान् द्वारा परित्यक्त पृथ्वी की निराशा-भरी पुकार है। यह एक हूक है जो उतनी ही नीरव है जितनी क्रूर, एक विनम्र पीड़ा जिसमें विद्रोह नहीं है, जिसे उसमें से बच निकलने की, उसे दूर रखने की कामना नहीं है और जो अनंत मधुरता से भरी है जिसमें कष्ट और सुख-शांति का गठ-बंधन है, कोई ऐसी चीज जो अनंत रूप से विस्तृत, महान् और गभीर है, इतनी ज्यादा महान् और गभीर है कि वह मनुष्यों की समझ के बाहर है—कोई ऐसी चीज जो अपने अंदर 'आगामी कल' का बीज लिये हुए है...।

*

२६ नवंबर १९१५

सारी चेतना दिव्य निदिध्यासन में निमग्न हो गयी है और पूरी सत्ता ने परम और बृहत् सुख-शांति का आनंद लिया।

फिर भौतिक शरीर, पहले तो अपने निम्नतर अंगों में और उसके बाद अपनी समस्त सत्ता में एक प्रकार की पवित्र सिहरन से आक्रांत हो गया जिस सिहरन ने सभी व्यक्तिगत सीमाओं को थोड़ा-थोड़ा करके अत्यंत जड़ भौतिक संवेदनों तक से झाड़ फेंका। सत्ता उत्तरोत्तर विशालता में बढ़ती गयी, वह विधिवत् हर अवरोध को तोड़ती, हर बाधा को चकनाचूर करती जाती थी ताकि वह उस शक्ति और सामर्थ्य को अपने अंदर समा सके और अभिव्यक्त कर सके जो बिना रुके विशालता और तीव्रता में बढ़ती जाती है। यह कोषाणुओं का उत्तरोत्तर विस्तार था, यहांतक कि समस्त पृथ्वी के साथ पूर्ण तादात्म्य हो गया। जाग्रत् चेतना का शरीर था पार्थिव गोला जो सामंजस्य के साथ वायवीय आकाश में घूम रहा था। और चेतना जानती थी कि उसका गोलाकार शरीर इस तरह से वैश्व सत्ता की भुजाओं में घूम रहा था और उसने अपने-आपको दे दिया, उसने अपने-आपको शांतिमय आनंद के आनंदातिरेक में छोड़ दिया, फिर उसने अनुभव किया कि उसका शरीर विश्व के शरीर में आत्मसात् होकर एक हो गया; चेतना वैश्व चेतना बन गयी जो अपनी संपूर्णता में अचंचल थी, अपनी आंतरिक जटिलता में अनंत रूप में गतिशील थी। तीव्र अभीप्सा और पूर्ण समर्पण में विश्व की चेतना भगवान् की ओर उछली और उसने निर्मल प्रकाश के वैभव में कांतिमय सत्ता को अनेक सिरोंवाले सर्प के ऊपर सीधा खड़ा हुआ देखा जिसका शरीर विश्व के चारों ओर अगणित रूप में कुंडलित था। उस सत्ता ने विजय के शाश्वत संकेत में एक ही साथ, एक ही समय में सर्प और उससे निकलनेवाली सृष्टि का सृजन किया; सर्प के ऊपर सीधे खड़े होकर वह अपनी समस्त विजयी शक्ति के साथ उसको वश में किये हुए थी और उसी संकेत ने, जिससे उसने विश्व को लपेटनेवाले सर्प को कुचल दिया था, उसे शाश्वत जन्म दिया। तब चेतना यह सत्ता बन गयी और उसने देखा कि फिर एक बार उसका रूप बदल रहा है; वह किसी ऐसी चीज में आत्मसात् कर ली गयी जो अब रूप न रह गयी थी फिर भी सभी रूपों को अपने अंदर समाये हुए थी; कोई ऐसी चीज जो निर्विकार है और देखती है, जो चक्षु है, साक्षी है। और वह जिसे देखती है वह होती है। तब रूप का अंतिम अवशेष गायब हो गया और स्वयं वह चेतना अनिर्वचनीय, अवाच्य में आत्मसात् हो गयी।

व्यक्तिगत शरीर की चेतना की ओर लौटना बहुत धीरे-धीरे प्रकाश, शक्ति, सुख-शांति तथा आराधना की सतत तथा अपरिवर्तनशील भव्यता में उत्तरोत्तर क्रमों में हुआ, परंतु हुआ फिर से वैश्व और पार्थिव रूपों में से गुजरे बिना सीधा और वह मानों सीधा-सादा शारीरिक रूप परम और शाश्वत साक्षी का तात्कालिक आच्छादन बन गया जिसमें कोई साधन या मध्यस्थ न था।[१]

*

२६ दिसम्बर १९१६

तू मुझे नीरवता में जो शब्द सुनाता है वह हमेशा मधुर और उत्साह-वर्धक होता है, हे प्रभो। लेकिन मैं नहीं देख पाती कि यह यंत्र किस कारण उस कृपा के योग्य है जो तू उसे प्रदान कर रहा है या तू उससे जिसकी आशा करता है, वह उसकी योग्यता कैसे प्राप्त करेगा। उसके अंदर सब कुछ इतना छोटा, दुर्बल और सामान्य प्रतीत होता है, इस महान् भूमिका को स्वीकार करने के लिये उसे जो होना चाहिये उसकी तुलना में वह तीव्रता, शक्ति और प्राचुर्य से इतना रहित मालूम होता है। लेकिन मैं जानती हूं कि जो मन सोचता है उसका कोई महत्त्व नहीं। मन अपने-आप भी यह जानता है और वह निष्क्रिय रहकर तेरी आज्ञा के कार्यान्वित होने की प्रतीक्षा करता है।

तू मुझे आज्ञा देता है कि बिना रुके प्रयास करती चलूं और मैं ऐसे अदम्य उत्साह की चाह करती हूं जो हर कठिनाई पर विजय पा सके। लेकिन तूने मेरे हृदय में ऐसी मुस्कुराती हुई शांति रख दी है कि अब मुझे यह भी पता नहीं कि प्रयास कैसे किया जाये। मेरे अंदर चीजें, क्षमताएं और क्रियाशीलताएं ऐसे विकसित होती हैं जैसे फूल खिलते हैं, सहज रूप में और बिना प्रयास के, आनंद में, होने के आनंद में, बढ़ने के आनंद में और तुझे अभिव्यक्त करने के

[१] यह माताजी का एक पत्र है जिसे उन्होंने श्रीअरविन्द को भेजा था। श्रीअरविन्द ने ३१-१२-१९१५ को यह उत्तर दिया :

तुमने जिस अनुभूति का वर्णन किया है वह वास्तविक अर्थ में वैदिक है यद्यपि ऐसी नहीं जिसे अपने-आपको वैदिक कहनेवाले आधुनिक योग-संप्रदाय स्वीकार कर सकें। यह वेद और पुराण की "पृथ्वी" का दिव्य तत्त्व के साथ मिलन है; यह ऐसी पृथ्वी है जिसे हमारी पृथ्वी के ऊपर माना जाता है यानी ऐसी भौतिक सत्ता और चेतना जिसके आभास मात्र हैं जगत् और शरीर। लेकिन आधुनिक योग भगवान् के साथ जड़ भौतिक के मिलन की बात को मुश्किल से ही स्वीकार कर सकते हैं।

आनंद में, फिर चाहे तुझे अभिव्यक्त करने का तरीका कैसा भी क्यों न हो। अगर संघर्ष है भी तो वह इतना कोमल और सरल है कि उसे यह नाम नहीं दिया जा सकता। लेकिन इतने महान् प्रेम को अपने अंदर समाने के लिये यह हृदय कितना छोटा है! और यह प्राण और यह शरीर इसे वितरित करने की शक्ति को संभालने के लिये कितने दुर्बल हैं! इस भांति तूने मुझे अद्‌भुत मार्ग की देहली पर खड़ा कर दिया है, लेकिन क्या मेरे चरणों में इतना बल होगा कि इस पर बढ़ सकें? ... लेकिन तू मुझे उत्तर देता है कि मेरा काम है उड़ान भरना और यह मेरी भूल होगी कि मैं चलने की इच्छा करूं...। हे प्रभो, तेरी अनुकंपा कितना अनंत है! फिर एक बार तूने मुझे अपनी सर्वशक्तिमान् भुजाओं में लेकर अपने अथाह हृदय में झुलाया है और मुझसे कहा है, "अपने-आपको जरा भी यातना न दे, बच्चे की तरह विश्वस्त रह : क्या तू मेरे कार्य के लिये मेरा ही निश्चित स्फटिक रूप नहीं है?"

*

२७ दिसंबर १९१६

हे मेरे परम प्रिय स्वामी, मेरा हृदय तेरे आगे झुका हुआ है, मेरी भुजाएं तेरी ओर फैली हुई हैं और तुझसे याचना करती हैं कि इस सारी सत्ता को अपने श्रेष्ठ प्रेम से प्रज्ज्वलित कर दे ताकि वह वहां से सारे जगत् पर विकीरित हो सके। मेरे वक्षस्थल में मेरा हृदय पूरी तरह खुला हुआ है, मेरा हृदय खुला हुआ और तेरी ओर मुड़ा हुआ है, वह खुला हुआ और खाली है ताकि तू उसे अपने दिव्य प्रेम से भर दे; वह तेरे सिवा हर चीज से खाली है और तेरी उपस्थिति उसे पूरा-पूरा भर देती है और फिर भी खाली रखती है, क्योंकि वह अपने अंदर अभिव्यक्त जगत् की अनंत विविधता को भी समा सकता है...।

हे प्रभो, मेरी भुजाएं अनुनय-विनय में तेरी ओर फैली हुई हैं, मेरा हृदय पूरी तरह तेरी ओर खुला हुआ है ताकि तू उसे अपने अनंत प्रेम का जलाशय बना सके।

"सभी चीजों में, सब जगह और सभी सत्ताओं में मुझसे प्रेम कर" यह था तेरा उत्तर। मैं तेरे आगे साष्टांग प्रणत होकर तुझसे याचना करती हूं कि मुझे वह शक्ति प्रदान कर।

*

२९ दिसंबर १९१६

हे मेरे मधुर स्वामी, मुझे अपने प्रेम का यंत्र बनना सिखा।

*

३० मार्च १९१७

अपने लिये कोई विचार न करने में एक राजोचित भव्यता है। आवश्यकताएं होने का अर्थ है दुर्बलता को प्रस्थापित करना। किसी चीज के लिये दावा करने का अर्थ है यह प्रमाणित करना कि वह चीज हमारे पास नहीं है। कामना करने का अर्थ है असमर्थ होना; यह अपनी सीमाओं को स्वीकार करना और उनपर विजय पाने में अपनी असमर्थता स्वीकार करना है। चाहे समुचित गर्व की दृष्टि से ही देखा जाये तो मनुष्य के अंदर इतनी कुलीनता तो होनी ही चाहिये कि वह अपनी कामनाओं का त्याग करे। जीवन या परम चेतना से, जो उसे अनुप्राणित करती है, अपने लिये कुछ मांगना कितना अपमानजनक है! हमारे लिये कितना अपमानजनक है और उसके प्रति कितना अज्ञानमय अपराध है! क्योंकि सब कुछ हमारी पहुंच में है, केवल हमारी सत्ता की अहंकारमयी सीमाएं हमें समस्त विश्व का पूरी तरह और ठोस रूप में उस तरह आनंद लेने से रोकती हैं जिस तरह हम अपने शरीर और उसके इर्द-गिर्द की चीजों पर अधिकार रखते हैं।...

*

३१ मार्च १९१७

हर बार जब कोई हृदय तेरे दिव्य श्वास के स्पर्श से उछल पड़ता है तो ऐसा लगता है कि पृथ्वी पर थोड़ी और सुंदरता उत्पन्न हो गयी है, हवा एक मधुर सुगंध से सुवासित हो गयी है और सब कुछ अधिक मैत्रीपूर्ण हो गया है।

समस्त अस्तित्व के प्रभो, तेरी शक्ति कितनी महान् है कि तेरे आनंद का एक परमाणु इतने अधिक अंधकार को मिटाने, इतने अधिक दुःखों को दूर करने के लिये काफी है और तेरी महानता की एक किरण अत्यंत मंद कंकड़ों को चमका सकती और काली से काली चेतना को भी आलोकित कर सकती है।

तूने मेरे ऊपर अपनी कृपाओं के ढेर लगा दिये हैं; तूने मेरे लिये बहुत-से रहस्यों के पर्दे उठा दिये हैं, तूने मुझे बहुत-सी अप्रत्याशित और अनपेक्षित खुशियों का आस्वादन कराया है, लेकिन तेरी कोई कृपा उस कृपा की बराबरी नहीं कर सकती जो तू मुझे उस समय प्रदान करता है जब तेरे दिव्य श्वास के स्पर्श से कोई हृदय उछल पड़ता है।

इन धन्य घड़ियों में धरती आनंद के गीत गाती है, वनस्पतियां आनंद से रोमांचित हो उठती हैं, पवन प्रकाश से कंपायमान हो जाता है, वृक्ष अपनी तीव्रतम प्रार्थना स्वर्ग की ओर उठाते हैं, चिड़ियों का चहकना भजन बन जाता है, सागर-तरंगें प्रेम से आलोड़ित होती हैं, बच्चों की मुस्कान अनंत के बारे में कहती है और मनुष्यों की आत्माएं उनकी आंखों में दिखायी देने लगती हैं।

कह दे, क्या तू मुझे वह अद्‌भुत शक्ति प्रदान करेगा जो प्रत्याशी हृदयों में इस उषा को जन्म दे सके, जो मनुष्यों की चेतना को तेरी उत्कृष्ट उपस्थिति के प्रति जगा सके और इस रिक्त और दुःख-भरे जगत् में तेरे सच्चे स्वर्ग को थोड़ा-सा जगा दे? इस अद्‌भुत उपहार की बराबरी कौन-सी खुशी, कौन-सी समृद्धि, कौन-सी पार्थिव शक्तियां कर सकती हैं!

हे प्रभो, मैंने कभी तुझसे व्यर्थ में अनुनय-विनय नहीं की है क्योंकि जो तेरे साथ बोलता है वह मेरे अंदर तू ही है।

तू उर्वर बनानेवाली वृष्टि के रूप में एक-एक बूंद करके अपने सर्वशक्तिमान् प्रेम की जीवंत और मुक्त करनेवाली ज्वाला बरसने देता है। जब शाश्वत ज्योति की ये बूंदें कोमलता के साथ अंधेरे अज्ञान के हमारे इस जगत् पर बरसती हैं तो हम कह सकते हैं कि निराशाजनक अंधेरे आकाश से धरती पर एक-एक करके सुनहरे तारों की वर्षा हो रही है।

इस चिरनवीन चमत्कार के आगे सब मूक भक्ति में घुटने टेके हुए हैं।

*

७ अप्रैल १९१७

एक गहरी एकाग्रता ने मुझे पकड़ लिया है और मैंने देखा कि मैं एक चेरी के फूल के साथ अपने-आपको तदात्म कर रही थी और उसके द्वारा चेरी के सभी फूलों के साथ, और जैसे-जैसे मैं चेतना की गहराई में एक नीली-सी शक्ति-धारा के पीछे-पीछे उतरती गयी, मैं अपने-आप अचानक चेरी का वह वृक्ष बन गयी जो पूजा के फूलों से लदी हुई अपनी असंख्य शाखाओं को

अनेक बाहुओं की तरह आकाश की ओर फैला रहा था। तब मैंने स्पष्ट रूप में यह वाक्य सुना :

"तूने अपने-आपको चेरी के पेड़ों की आत्मा के साथ एक कर लिया है ताकि तू भली-भांति देख सके कि स्वयं भगवान् ही स्वर्ग के प्रति इस पुष्पमय प्रार्थना की भेंट चढ़ा रहे हैं।"

जब मैंने यह लिखा तो सब कुछ मिट गया; लेकिन अब उस चेरी के पेड़ का रक्त मेरी रगों में बह रहा है और उसके साथ बहती है अतुलनीय शक्ति और शांति। मनुष्य-शरीर और एक पेड़ के शरीर में क्या अंतर है? सचमुच कोई अंतर नहीं : जो चेतना इन दोनों को अनुप्राणित करती है वह अभिन्न रूप से एक ही है।

तब चेरी के वृक्ष ने मेरे कानों में फुसफुसा कर कहा :

"वसंत के रोगों का इलाज चेरी के फूलों में है।"

*

२८ अप्रैल १९१७

हे मेरे दिव्य स्वामी, जो आज की रात अपनी पूरी दीप्तिमान भव्यता में मेरे आगे प्रकट हुआ है, तू क्षण भर में इस सत्ता को पूर्णतया शुद्ध, प्रकाशमान पारभासी और सचेतन बना सकता है। तू इसे इसके अंतिम काले धब्बों से मुक्त कर सकता है, इसे इसकी अंतिम पसंदों से छुड़ा सकता है। तू कर सकता है... लेकिन क्या तूने आज रात यह कर ही नहीं दिया जब वह तेरे दिव्य निस्राव से और अनिर्वचनीय प्रकाश से भिदा हुआ था? हो सकता है... क्योंकि मेरे अंदर एक अतिमानवीय बल है जो संपूर्णतः अचंचलता और विशालता से भरा हुआ है। वर दे कि मैं इस शिखर पर से गिरने न पाऊं; वर दे कि शांति हमेशा मेरी सत्ता के स्वामी के रूप में राज्य करे, केवल मेरी गहराइयों में ही नहीं जहां वह लंबे समय से राजाधिराज रही है, बल्कि मेरी निम्नतम बाहरी क्रियाओं में भी, मेरे हृदय के छोटे-से-छोटे अंतरालों और मेरे कर्मों में भी।

हे प्रभो, सत्ताओं के मुक्तिदाता, मैं तुझे प्रणाम करती हूं।

"लो, ये रहे फूल और आशीर्वाद! यह है दिव्य प्रेम की मुस्कान! इसमें कोई पसंद और नापसंद नहीं है। यह सभी की ओर उदार प्रवाह में उमड़ती है और कभी अपने अद्भुत उपहारों को वापिस नहीं लेती।"

शाश्वत मां परमानंद की मुद्रा में बांहें फैलाये हुए जगत् पर निरंतर अपनी शुद्धतम प्रेम की ओस बरसा रही है!

*

टोकियो, २४ सितंबर १९१७

तूने मुझे कठोर अनुशासन के आधीन कर दिया है; एक-एक डंडा करके मैं उस सीढ़ी पर चढ़ी हूं जो तुझतक ले जाती है और आरोहण के शिखर पर तूने मुझे अपने साथ तादात्म्य के पूर्ण आनंद का रसास्वादन कराया है। और तब तेरी आज्ञा का पालन करते हुए एक के बाद एक डंडे को पार करती हुई मैं बाह्य क्रियाओं और चेतना की बाहरी अवस्थाओं तक उतर आयी और फिर से मैंने इन लोकों के संपर्क में प्रवेश किया जिन्हें मैं तुझे खोजने के लिये पीछे छोड़ गयी थी। और अब जब कि मैं सीढ़ी के निचले डंडे तक आ पहुंची हूं, सब कुछ मेरे अंदर और मेरे चारों ओर ऐसा मंद, ऐसी मामूली और उदासीन मालूम होता है कि मैं कुछ भी नहीं समझ पाती...।

तब फिर तू मुझसे किस चीज की आशा रखता है, और क्या लाभ है इस धीमी लंबी तैयारी का यदि इस सबका परिणाम अंत में वही होता हो जिसे अधिकतर मनुष्य बिना किसी अनुशासन के पा लेते हैं?

यह कैसे संभव हो सकता है कि वह सब देख लेने के बाद जो मैंने देख लिया है, जिसका मैंने अनुभव किया है, जब मुझे तेरे ज्ञान के पवित्रतम मंदिर की ओर तेरे सायुज्य के पास तक ले जाया जा चुका है, फिर भी तूने मुझे ऐसी साधारण परिस्थितियों में, ऐसा मामूली-सा उपकरण बना दिया है? सचमुच, हे प्रभो, तेरे उद्देश्य अथाह और मेरी समझ के बाहर हैं...।

जब तूने मेरे हृदय में अपनी पूर्ण सुख-शांति का शुद्ध हीरा रख दिया है, फिर तू यह कैसे सह सकता है कि उसकी सतह उन छायाओं को प्रतिबिंबित करे जो बाहर से आती हैं और तूने मुझे शांति की जो निधि प्रदान की है उसके बारे में संदेह तक नहीं होने पाता और तब वह प्रभावहीन-सी प्रतीत होने लगती है। सचमुच यह सब एक रहस्य है और मेरी समझ को चकरा देता है।

जब तूने मुझे इतनी बड़ी आंतरिक नीरवता प्रदान की है तो तू मेरी जिह्वा को इतना सक्रिय और विचारों को व्यर्थ की बातों में इतना व्यस्त क्यों रहने देता है? क्यों? ... मैं अनंत कालतक ऐसे प्रश्न करती रह सकती हूं और पूरी संभावना तो यही है कि वे हमेशा बेकार ही हों...।

मुझे बस तेरी आज्ञा के आगे सिर झुकाना और बिना एक शब्द भी बोले अपनी परिस्थिति को स्वीकार करना है।

अब मैं केवल एक द्रष्टा हूं जो विश्व के ड्रेगन को अपनी अनंत कुंडलियां खोलते हुए देखता है।...

*

१५ अक्तूबर १९१७

हे प्रभो, मैंने अपनी निराशा में पुकार कर तुझसे कहा है, और तूने मेरी पुकार का उत्तर दिया है।

मुझे अपने जीवन की परिस्थितियों के बारे में शिकायत करने का कोई अधिकार नहीं है; क्या वे मेरे अनुरूप नहीं हैं?

चूंकि तू मुझे अपनी भव्यता की देहली तक ले गया और तूने मुझे अपने सामंजस्य का आनंद प्रदान किया, इसलिये मैंने समझ लिया कि मैं लक्ष्य तक पहुंच गयी : लेकिन सचमुच तूने अपने यंत्र को अपने प्रकाश की पूर्ण स्पष्टता में देखा और फिर से उसे जगत् की कुठाली में डाल दिया ताकि वह नये सिरे से पिघलाया और शुद्ध किया जा सके।

इन अत्यधिक और संताप-भरी अभीप्सा की घड़ियों में मैं देखती हूं, मैं अनुभव करती हूं कि मैं चकरानेवाली तेजी से रूपांतर के मार्ग पर तेरी ओर खिंची जा रही हूं और मेरी सारी सत्ता अनंत के साथ सचेतन संपर्क से स्पंदित हो रही है।

इस तरह तू मुझे धीरज और बल देता है ताकि मैं इस नयी अग्नि-परीक्षा को पार कर सकूं।

*

२५ नवंबर १९१७

हे प्रभो, चूंकि मैंने दारुण विपत्ति के समय अपनी श्रद्धा की पूरी सच्चाई के साथ कहा था : "तेरी इच्छा पूरी हो", तू अपनी महिमा के परिधान में आया। मैं तेरे चरणों में साष्टांग नत हो गयी, तेरे वक्ष में मैंने अपना आश्रय पाया। तूने मेरी सत्ता को अपनी दिव्य ज्योति से भर दिया और अपने आनंद से आप्लावित कर दिया है। तूने अपने सख्य का फिर से विश्वास दिलाया है

और मुझे अपनी सतत उपस्थिति का आश्वासन दिया है। तू वह विश्वस्त मित्र है जो कभी धोखा नहीं देता, तू शक्ति, सहारा और पथ-प्रदर्शक है। तू वह प्रकाश है जो अंधकार को बिखेर देता है, वह विजेता है जो विजय को निश्चित बनाता है। चूंकि तू उपस्थित है इसलिये सब कुछ स्पष्ट हो गया है। मेरे सुदृढ़ हृदय में अग्नि फिर से प्रज्ज्वलित हो उठी है और उसकी भव्यता चमक रही है और सारे वातावरण को प्रदीप्त और शुद्ध कर रही है...।

तेरे लिये मेरा प्रेम, जो अभी तक दबा हुआ था, फिर से उछल पड़ा है, वह शक्तिशाली, प्रभुता-संपन्न और अप्रतिरोध्य है—उसे जिस अग्नि-परीक्षा में से निकलना पड़ा है उससे वह दस गुना बढ़ गया है। उसने अपने एकांत में बल पाया है, सत्ता के ऊपरी तल तक उठ आने, अपने-आपको समस्त चेतना पर स्वामी के रूप में स्थापित करने का और अपनी उमड़ती हुई धारा में सब कुछ बहा ले जाने का बल पाया है...।

तूने मुझसे कहा है : "मैं लौट आया हूं और अब तुझे कभी न छोड़ूंगा।"

और मैंने तेरे वचन को माटी में सिर नवाकर स्वीकार किया है।

*

१२ जुलाई १९१८

अचानक, तेरे आगे मेरा सारा घमंड झड़ गया। मैं समझ गयी कि तेरी उपस्थिति में अपने-आप पर विजय पाने की कोशिश करना कितना व्यर्थ है, और मैं रो पड़ी, बहुत अधिक रोई और बिना रुके अपने जीवन के मधुरतम आंसू रोई...। हां, वे आंसू कैसे स्फूर्तिदायक, अचंचल और मधुर थे जिन्हें मैंने बिना लज्जा या संयम के तेरे आगे बहाया! क्या यह पिता की बांहों में बालक की तरह न था? लेकिन पिता भी कैसा! कैसी उदात्तता, कैसी भव्यता और समझ की कैसी विशालता! और प्रत्युत्तर में कैसी शक्ति और बहुलता! हां, मेरे आंसू पवित्र ओस की तरह थे। क्या यह इसलिये था कि मैं स्वयं अपने दुःख के लिये नहीं रोई थी? मधुर और परोपकारी आंसू, ऐसे आंसू जिन्होंने बिना किसी बाधा के मेरे हृदय को तेरे आगे खोल दिया और एक चमत्कारिक क्षण में मुझे तुझसे अलग करनेवाली अवशिष्ट सभी विघ्न-बाधाओं को विलीन कर दिया।

कुछ दिन पहले मैंने उसे जाना था, मैंने सुना था : "अगर तू बिना छिपाये और बिना रोके मेरे आगे रो सके तो बहुत-सी चीजें बदल जायेंगी, एक बहुत

बड़ी विजय प्राप्त होगी।" इसी कारण जब मेरे हृदय से आंसू आंखों की ओर उठे तो मैं आकर तेरे आगे बैठ गयी ताकि वे भक्ति-भाव से भेंट के रूप में प्रवाहित हो सकें। और वह उत्सर्ग कितना मधुर और कितना विश्रामदायक था!

और अब जब कि मैं रो नहीं रही, मैं तेरे इतना निकट, इतना निकट अनुभव करती हूं कि मुझे खुशी से रोमांच हो रहा है।

तुतलाते हुए मुझे अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने दे :

मैं एक छोटे बच्चे के आनंद के साथ भी पुकार चुकी हूं, "हे परम और एकमात्र विश्वस्त सहचर, तू जो पहले से ही वह सब जानता है जो हम तुझसे कह सकते हैं क्योंकि तू ही तो उसका स्रोत है!

"हे परम और एकमात्र सखा, तू जो हमें स्वीकार करता है, हमसे प्रेम करता है और हमें वैसा ही समझता है जैसे कि हम हैं क्योंकि स्वयं तूने ही तो हमें ऐसा बनाया है!

"हे परम एकमात्र पथ-प्रदर्शक, तू जो कभी हमारी उच्चतम इच्छा का प्रतिवाद नहीं करता क्योंकि उसके अंदर तू ही तो इच्छा करता है!

"तेरे सिवा कहीं और किसी ऐसे को ढूंढ़ना मूर्खता होगी जो हमारी बात सुने, समझे, हमसे प्रेम करे और हमें मार्ग दिखाये, क्योंकि तू हमेशा हमारे आह्वान पर तैयार रहता है और हमें कभी धोखा नहीं देता!

"तूने मुझे पूर्ण निर्भरता के, पूर्ण संरक्षण के, बिना कुछ बचाये और बिना कोई रंग चढ़ाये, बिना किसी प्रयास या अवरोध के, सर्वांगीण रूप से समर्पण करने के सर्वोपरि आनंद का, महान् आनंद का बोध प्रदान किया है।

"बच्चे की तरह आनंद के साथ मैं एक ही साथ तेरे आगे रोयी और हंसी, हे मेरे परम प्रिय!"

*

ओइवाके, ३ सितंबर १९१९

चूंकि मनुष्य ने उस भोजन को लेने से इंकार कर दिया जो मैंने इतने प्रेम और सावधानी से तैयार किया था, इसलिये मैंने भगवान् का आह्वान किया कि वे उसे स्वीकार कर लें।

मेरे भगवान्, तूने मेरा निमंत्रण स्वीकार कर लिया, तू मेरी मेज पर बैठकर खाने के लिये आ गया, और मेरी तुच्छ और विनम्र भेंट के बदले तूने

मुझे अंतिम मुक्ति प्रदान की है। मेरा हृदय जो आज सवेरे तक परिताप और चिंता से इतना भारी था, मेरा सिर उत्तरदायित्व से इतना लदा था, दोनों अपने भार से मुक्त हो गये हैं। अब वे उसी तरह हल्के और प्रसन्न हैं जैसे मेरी आंतरिक सत्ता काफी समय से रही है। मेरा शरीर खुशी से तेरी ओर उसी तरह मुस्कुराता है जैसे पहले मेरी आत्मा मुस्कुराती थी। और हे मेरे भगवान्, निश्चय ही इसके बाद तू मेरे अंदर से इस आनंद को वापिस न खींचेगा! मेरा ख्याल है कि इस बार के लिये पाठ पर्याप्त हो गया है, मैं उत्तरोत्तर मोह-निवारण की सूली पर चढ़ी हूं जो पुनरुज्जीवन प्राप्त करने के लिये काफी ऊंची है। एक समर्थ प्रेम के सिवा अतीत का कुछ भी नहीं बचा रह गया जो मुझे बालक का शुद्ध हृदय और एक देवता के विचार का हल्कापन और स्वाधीनता प्रदान करता है।

*

पांडिचेरी, २२ जून १९२०

मुझे वह आनंद प्रदान करने के बाद जो अभी अभिव्यंजनाओं के परे है, तूने मेरे लिये, हे मेरे परम प्रिय प्रभो, संघर्ष और अग्नि-परीक्षा भेजी है और इनपर भी मैं उसी तरह मुस्कुरायी हूं मानों यह तेरे मूल्यवान् संदेश-वाहकों में से एक हो। पहले मैं द्वंद्व से डरती थी क्योंकि वह मेरे अंदर विद्यमान सामंजस्य और शांति के प्रेम पर आघात करता था। लेकिन हे मेरे भगवान्, अब मैं खुशी से उसका स्वागत करती हूं : वह तेरे कर्म के रूपों में से एक रूप है, कर्म के कुछ तत्त्वों को, जिन्हें अन्यथा भुला दिया जाता, उन्हें फिर से प्रकाश में लाने के सबसे अच्छे साधनों में से एक साधन है और वह अपने साथ बहुलता, जटिलता और शक्ति के भाव को लिये रहता है। और जैसे मैंने तुझे ज्योति विकीरित करते हुए, द्वंद्व का सूत्रपात करते हुए देखा है, उसी तरह तुझे ही मैं घटनाओं और विरोधी प्रवृत्तियों की उलझनों को सुलझाते हुए और अंत में उन सब चीजों पर विजय पाते हुए देखती हूं जो तेरी ज्योति और तेरी शक्ति को आवृत करने की कोशिश करती हैं; क्योंकि संघर्ष में से ही तेरी अधिक पूर्ण सिद्धि उद्भूत होनी चाहिये।

*

२४ नवंबर १९३१

हे मेरे प्रभो, मेरे मधुर स्वामी, तेरे कार्य की परिपूर्ति के लिये मैंने जड़-पदार्थ की अथाह गहराइयों में डुबकी लगायी है, मैंने अपनी उंगली से मिथ्यात्व और निश्चेतना की विभीषिका को छुआ है, मैं विस्मृति और चरम अंधकार के आसन तक जा पहुंची। परंतु मेरे हृदय में परम स्मृति थी, मेरे हृदय से ऐसी पुकार उठी जो तेरे पास तक जा पहुंच सकती थी : "प्रभो, प्रभो, हर जगह तेरे शत्रु विजयी होते दीखते हैं, मिथ्यात्व जगत् का राजा है; तेरे बिना जीवन मृत्यु है, सतत नरक है; संदेह ने आशा का स्थान हड़प लिया है और विद्रोह ने समर्पण को धकेल दिया, श्रद्धा चुक गयी है, कृतज्ञता का जन्म तक नहीं हुआ; अंध आवेशों, हत्यारी वृत्तियों और अपराधी दुर्बलता ने तेरे प्रेम के मधुर विधान को ढक दिया और उसका गला घोंट दिया है। प्रभो, क्या तू अपने शत्रुओं को हावी होने देगा, मिथ्यात्व, कुरूपता और दुःख को जीतने देगा? प्रभो विजय के लिये आज्ञा दे और विजय हो जायेगी। मैं जानती हूं कि हम अयोग्य हैं, मैं जानती हूं कि जगत् अभी तक तैयार नहीं है। लेकिन तेरी कृपा पर पूर्ण श्रद्धा के साथ मैं तुझे पुकारती हूं और मैं जानती हूं कि तेरी कृपा रक्षा करेगी।"

इस भांति मेरी प्रार्थना तेरी ओर ऊपर को दौड़ पड़ी; और रसातल की गहराइयों में से मैंने तुझे तेरी चमकती हुई भव्यता में देखा; तू प्रकट हुआ, और मुझसे बोला : "साहस न खो, दृढ़ बन, विश्वास रख—**मैं आ रहा हूं**।"

*

२३ अक्तूबर १९३७

(उन लोगों के लिये एक प्रार्थना जो भगवान् की सेवा करना चाहते हैं।)

हे प्रभो! हे सर्व विघ्नविनाशक! तेरी जय हो!
वर दे कि हमारे अंदर की कोई भी चीज तेरे कार्य में बाधक न हो।
वर दे कि कोई भी चीज तेरी अभिव्यक्ति में रुकावट न डाले।
वर दे कि हर वस्तु में प्रत्येक क्षण तेरी ही इच्छा पूर्ण हो।

हम यहां तेरे सम्मुख उपस्थित हैं ताकि हमारे अंदर, हमारी सत्ता के अंग-प्रत्यंग में, उसके प्रत्येक कार्य में, उसकी सर्वोच्च ऊंचाइयों से लेकर शरीर के

क्षुद्रतम कोषों तक में तेरी ही इच्छा कार्यान्वित हो।

ऐसी कृपा कर कि हम तेरे प्रति संपूर्ण रूप से और सदा के लिये एकनिष्ठ बन सकें।

हम अन्य सब प्रभावों से अलग रहते हुए पूरी तरह तेरे ही प्रभाव के अधीन हो जाना चाहते हैं।

वर दे कि हम तेरे प्रति एक गभीर और तीव्र कृतज्ञता रखना कभी न भूलें।

कृपा कर कि प्रत्येक क्षण हमें जो अद्भुत वस्तुएं तेरी देन के रूप में मिलती हैं, उनमें से किसी का भी कभी अपव्यय न करें।

ऐसा वर दे कि हमारे अंदर की प्रत्येक चीज तेरे कार्य में सहयोग दे और सब कुछ तेरी सिद्धि के लिये तैयार हो जाये।

तेरी जय हो, हे परमेश्वर! हे समस्त सिद्धियों के अधीश्वर!

तू हमें अपनी विजय में सक्रिय और ज्वलंत, अखंड और अचल-अटल विश्वास प्रदान कर।

ISBN 81-7058-777-8
Rs. 190.00

ISBN 81-7058-777-8

9 788170 587774